
जैन विजय प्रेस - सूरत।



यह योगसार ग्रंथ आत्माके मननको परम उपकारी है। इसमें निश्चयनयकी प्रधानतासे अपने ही आत्माको परमात्मा समान श्रद्धान करके उसीके ध्यानका उपदेश है। आत्माका अनुभव ही मोक्षका मार्ग है। पद पदपर यही भाव झलकाया है। परमश्रुत-प्रभावकमण्डल,बम्बई द्वारा प्रकाशित परमात्म प्रकाशमें योगसारकी सामान्य शब्दार्थ टीका है, अल्पज्ञोंके लिये भाव प्रगट करनेमें बहुत संकुचित है। दूसरी कोई बड़ी भाषाटीका न देखकर हमने विस्तारसे भाव खोलनेका उद्यम किया है। अल्पबुद्धि होनेपर भी महान साहस करके अध्यात्म मननके हेतुसे इस कार्यका सम्पादन किया है। बुद्धिपूर्वक प्राचीन जिन आगमके अनुकूल ही विवेचन किया है। प्रमादसे व अज्ञानसे कहीं पर त्रुटि हो तो विद्वान् क्षमावान होकर शुद्ध कर लेंगे ऐसी आशा है।

इस ग्रंथके मूलकर्ता श्री योगेन्द्र आचार्य हैं, जैसा अन्तिम दोहा गाथासे प्रगट है। यह बड़े योगिराज थे। इनका रचित बृहत् ग्रंथ परमात्म-प्रकाश है, जिसकी संस्कृत टीका ब्रह्मदेवकृत व भाषा-टीका पं० दौलतरामजी कृत बहुत ही बढ़िया है। योगसार पर कोई संस्कृत टीका उपलब्ध नहीं है।

इन परम अध्यात्मरसी योगिराज कृत दो ही ग्रंथ प्राप्त हैं। जैसे श्रीयुत् पं० आदिनाथ उपाध्याय एम० ए० ने परमात्म प्रकाशकी विद्वत्तापूर्ण भूमिकामें प्रगट किया है। वहीं यह भी चर्चा की है कि योगेन्द्राचार्यका समय क्या था। स्पष्ट लेख न मिलनेसे अनुमान किया गया है कि श्री पूज्यपादके पीछे इनका समय छठी शताब्दी होगा।

पाठकगणोंको उचित है कि एक एक दोहा गाथाका ध्यानसे मनन करें। एक एक दोहाका व्याख्यान एक स्वतंत्र लेख रूप ही है, जिसके पढ़नेसे आत्मज्ञान व आनन्दका लाभ होगा।

बम्बई.
आदिक्राफ्स,
१३ जून १९३१

आत्मरसप्रेमी,
ब्र० सीतलप्रसाद।



निवेदन ।

करीब १२०० वर्ष पहले दि० जैन समाजमें अध्यात्मके महान आचार्य श्री योगीन्दुदेव होगये हैं, जिन्होंने श्री परमात्मप्रकाश, योगसार, अध्यात्मसंदोह, सुभाषिततंत्र, तत्वार्थटीका, नौकार श्रावकाचार आदि ग्रन्थ अपभ्रंश व संस्कृत भाषामें रचे थे, जिनमें परमात्मप्रकाश और योगसार ये दोनों अध्यात्म ग्रन्थ जो अपभ्रंश भाषामें हैं उनका दि० जैन समाजमें विशेष आदर है तथा ये दोनों ग्रन्थ संस्कृत छाया व हिंदी अनुवाद सहित प्रकट होचुके हैं। लेकिन योगसार टीका जो कलकत्तासे प्रकट हुई थी, कई वर्षोंसे नहीं मिलती थी। तथा बम्बईसे अभी योगसार प्रकट हुआ है, उसमें सिर्फ संस्कृत छाया व शब्दार्थ ही है। अतः योगसार ग्रन्थकी टीका प्रकट होनेकी आवश्यक्ता थी और श्री० ब्र० सीतलप्रसादजीको अध्यात्म ग्रन्थों पर ही विशेष प्रेम है और आप किसी न किसी अध्यात्मग्रन्थका अनुवाद व टीका करते ही रहते हैं। अतः यद्यपि आप कंपवायुसे दो वर्षसे पीड़ित होरहे हैं तो भी आपने दाहोद, अगास व बड़ौदामें ठहरकर इस ग्रन्थके १-१ श्लोककी टीका नित्य लिखनेका नियम करके उसे पूरा किया था जो आज प्रकाशमें आरहा है। धन्य है आपकी अध्यात्म रुचि!

आज दि० जैन समाजमें आप जैसे कर्मण्य ब्रह्मचारी दूसरे नहीं हैं। अभी आप लखनऊमें विशेष रोगग्रसित हैं तो भी आपका अध्यात्मप्रेम कम नहीं हुआ है और जैनमित्रके लिये अध्यात्मिक १-१

लेख दूसरेसे लिखवाकर भी प्रकट करवाते रहते हैं। तथा कुछ दिन हुए "जैन धर्ममें दैव व पुरुषार्थ" ग्रन्थ भी रात्रिको उठ२कर लिख कर व लिखवाकर तैयार किया है यह जानकर किसे प्रसन्नता न होगी? लेकिन साथमें दुःख भी होगा कि आपका कंपवायु रोग अच्छा नहीं होता। अतः आपको अधिकाधिक शारीरिक कष्ट होरहा है। आप शीघ्र ही आरोग्यलाभ करके चिरायु हों यही हमारी श्री जिनेंद्रदेवसे प्रार्थना है।

इस ग्रन्थराजके रचयिता श्री योगीन्दुदेवका संक्षिप्त परिचय भी ग्रन्थके प्रारम्भमें दिया है जो श्री० पं० परमेष्ठिदासजी न्यायतीर्थने 'परमात्मप्रकाश' की प्रस्तावनासे संकलित किया है।

इस ग्रन्थको प्रकट करके "जैनमित्र" के ४१ वें वर्षके ग्राहकोंको भेट देनेकी जो व्यवस्था डबका निवासी नृसिंहपुरा जातिके अध्यात्म-प्रेमी सेठ सोभागचंदजीने अपने स्व० पूज्य पिताश्री सेठ कालीदास अमथाभाईके स्मारकफंडमेंसे की है उसके लिये वे अतीव धन्यवादके पात्र हैं। तथा ऐसे ही शास्त्रदानकी जैनसमाजमें आवश्यक्ता है। आशा है आपके शास्त्रदानका अनुकरण अन्य श्रीमान भी करेंगे। जो 'जैनमित्र' के ग्राहक नहीं हैं उनके लिये इस ग्रंथकी कुछ प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली गई हैं। आशा है कि उनका भी शीघ्र प्रचार होकर इसकी दूसरी आवृत्ति प्रकट करनेका मौका प्राप्त होगा।

निवेदक—

सूरत—वीर सं० २४६७
कार्तिक सुदी १५ गुरुवार
ता०—१४—११—४०

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
—प्रकाशक।

योगसारके कर्ता—

श्रीमद् योगीन्दु देव।

जैन साहित्यमें श्री० योगीन्दु देवका बहुत ऊँचा स्थान है। उनने उच्चकोटिकी रचनाओंमें प्रयुक्तकी जानेवाली संस्कृत तथा प्राकृत भाषाको छोड़कर उस समयकी प्रचलित भाषा अपभ्रंशको अपनाया और इसीमें अपने ग्रंथ निर्माण किये थे। प्राचीन ग्रंथकारोंने जो कुछ संस्कृत और प्राकृतमें लिखा था उसे ही योगीन्दुदेवने बहुत सरल ढंगसे अपने समयकी प्रचलित भाषामें गूँथा था। योगीन्दुदेवने श्री कुन्दकुन्दाचार्य और श्री पूज्यपादसे बहुत कुछ लिया था।

यह बड़े ही दुःखकी बात है कि जोइन्दु (योगीन्दु) जैसे महान अध्यात्मवेत्ताके जीवनके सम्बंधमें विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। श्रुतसागर उन्हें भट्टारक लिखते हैं, किन्तु इसे केवल आदर सूचक शब्द समझना चाहिये। उनके ग्रंथोंमें भी उनके जीवन तथा स्थानके बारेमें कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनकी रचनायें उन्हें आध्यात्मिक राज्यके उन्नत सिंहासनपर विराजमान एक शक्तिशाली आत्माके रूपमें चित्रित करती हैं। वे आध्यात्मिक उत्साहके केन्द्र हैं।

परमात्मप्रकाशमें उनका नाम जोइन्दु आता है। श्री०जयसेनने "तथा योगीन्द्रदेवैरप्युक्तम्" करके परमात्मप्रकाशसे एक पद्य उद्धृत किया है। ब्रह्मदेवने अनेक स्थानोंपर ग्रंथकारका नाम योगीन्द्र लिखा है। "योगीन्द्रदेवनाम्ना भट्टारकेण" लिखकर श्री श्रुतसागर एक पद्य उद्धृत करते हैं। कुछ प्रतियोंमें योगेन्द्र भी पाया जाता है। इसप्रकार उनके नामका संस्कृतरूप 'योगीन्द्र' बहुत प्रचलित रहा है।

शब्दों तथा भावोंकी समानता होनेसे योगसार भी 'जोइन्दु' की रचना माना गया है। इसके अन्तिम पद्यमें ग्रंथकारका नाम

'जोगिचन्द्र' लिखा है, किन्तु यह नाम योगीन्द्रसे मेल नहीं खाता। अतः मेरी रायमें 'योगीन्द्र' के स्थानमें 'योगीन्दु' पाठ है, जो 'योगिचन्द्र' का समानार्थक है।

ऐसे अनेक दृष्टांत हैं, जहां व्यक्तिगत नामोंमें इन्दु और चन्द्र आपसमें बदल दिये गये हैं। जैसे भागेन्दु और भागचन्द्र तथा शुभेन्दु और शुभचन्द्र। गलतीसे जोइन्दुका संस्कृतरूप योगीन्द्र मान लिया गया और वह प्रचलित होगया। ऐसे बहुतसे प्राकृत शब्द हैं जो विभिन्न लेखकोंके द्वारा गलत रूपमें तथा प्रायः विभिन्न रूपोंमें संस्कृतमें परिवर्तित किये गये हैं। योगसारके सम्पादकने इस गलतीका निर्देश किया था, किन्तु उन्होंने दोनों नामोंको मिलाकर एक तीसरे 'योगीन्द्रचन्द्र' नामकी सृष्टि कर डाली, और इस तरह विद्वानोंको हंसनेका अवसर देदिया। किन्तु यदि हम उनका नाम जोइन्दु योगीन्दु रखते हैं, तो सब बातें ठीक ठीक घटित होजाती हैं।

योगीन्दुकी रचनाएँ—श्री योगीन्दुदेवके रचित निम्नलिखित ग्रन्थ कहे जाते हैं–१ परमात्मप्रकाश (अपभ्रंश), २ नौकार श्रावकाचार (अप०), ३ योगसार (अप०), ४ अध्यात्म सन्दोह (संस्कृत), ५ सुभाषित तंत्र (सं०), ६ तत्वार्थ टीका (सं०)। इनके सिवाय योगीन्दुके नामपर ३ और ग्रन्थ भी प्रकाशमें आचुके हैं–एक दोहापाहुड़ (अप०), दूसरा अमृताशीति (सं०) और तीसरा निजात्माष्टक (प्रा०) इनमेंसे नं० ४ और ५ के बारेमें कुछ मालूम नहीं है और नं० ६ के बारेमें योगदेव, जिन्होंने तत्वार्थसूत्रपर संस्कृतमें टीका बनाई है, और योगीन्दुदेव नामोंकी समानता सन्देहमें डाल देती है।

योगसार—इसका मुख्य विषय परमात्म प्रकाशका सा ही है। इसमें संसारकी प्रत्येक वस्तुसे आत्माको सर्वथा पृथक् अनुभवन करनेका उपदेश दिया गया है। ग्रंथकार कहते हैं कि संसारसे

भयभीत और मोक्षके लिये उत्सुक प्राणियोंकी आत्माको जगानेके लिये जोगिचन्द्र साधुने इन दोहोंको रचा है। ग्रंथकार लिखते हैं कि उनने ग्रंथको दोहोंमें रचा है, किन्तु उपलब्ध प्रतिमें एक चौपाई और दो सोरठा भी हैं। इससे अनुमान होता है कि सम्भवतः प्रतियां पूर्ण सुरक्षित नहीं रही हैं।

अन्तिम पद्यमें ग्रंथकर्ताका नाम जोगिचन्द्र (जोइन्दु योगीन्दु) का उल्लेख, आरंभिक मंगलाचरणकी सदृशता, मुख्य विषयकी एकता, वर्णनकी शैली और वाक्य तथा पंक्तियोंकी समानता बतलाती है कि दोनों ग्रन्थ एक ही कर्ता जोइंदुकी रचनाएं हैं। पहले योगसार माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबईसे प्रकाशित हुआ था, किन्तु उसमें अनेक अशुद्धियां हैं। यदि उसके अशुद्ध पाठोंको दृष्टिमें न लाया जाये तो भाषाकी दृष्टिसे दोनों ग्रन्थोंमें समानता है। केवल कुछ अन्तर, जो पाठकके हृदयको स्पर्श करते हैं, इस प्रकार हैं—योगसारमें एक वचनमें प्रायः 'हु' और 'ह' आता है, किन्तु परमात्मप्रकाशमें 'हैं' आता है। योगसारमें वर्तमान कालके द्वितीय पुरुषके एक वचनमें 'हु' और 'हि' पाया जाता है, किन्तु परमात्मप्रकाशमें केवल 'हि' आता है। पंचास्तिकायकी टीकामें श्रीजयसेनने योगसारसे एक पद्य भी उद्धृत किया है। अनेक प्रबल अनुमानोंसे योगीन्दुदेवका समय ईसाकी छट्ठी शताब्दी निर्धारित किया गया है।*

परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ, सूरत।

---

* परमश्रुतप्रभावक मण्डल–बम्बई द्वारा प्रकाशित परमात्मप्रकाशमें प्रोफेसर ए० एन० उपाध्याय द्वारा लिखित ८८ पृष्ठकी खोजपूर्ण प्रस्तावना (अंग्रेजीमें) है, उसका संक्षिप्त हिन्दी ३० पृष्ठमें पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लिखा है, उससे यह सार मैंने लिया है। विशेष जाननेके लिये परमात्मप्रकाश मंगाकर देखना चाहिये। प० जैन।

स्व० सेठ कालीदास अमथाभाई-डबकाका
संक्षिप्त परिचय।

बड़ौदा राज्यके बड़ौदाप्रांतके पादरा तालुकामें मही नदीके तटपर डबका नामका गांव है। वहांपर दि० जैन नृसिंहपुरा जातिमें संवत १९१२ वैशाख वदी १३ रविवारके दिन रात्रिको १२॥ वजे आपका जन्म हुआ था। आपके पिताका नाम शाह अमथाभाई वहेचरदास था और माताका नाम मोतीबाई था। बड़े भाईका नाम त्रिभोवनदास अमथाभाई था, जिनको बाल्यावस्थामें पिताका स्वर्गवास होनेसे घरकी व्यवस्थाका काम करनेकी फरज पड़नेसे और गांवमें दूसरी भाषा (अंग्रेजी) का प्रवन्ध नहीं होनेमें सिर्फ गुजरातीका आपने अभ्यास किया था। लेकिन वाचनकार्य अधिक होनेसे हिंदी भाषा और सरल संस्कृत भी आप समझ सकते थे। आपका विवाह भड़ौच जिलेके वागरा गांवमें मोतीलाल हरजीवनकी वहिन पार्वतीके साथ हुआ था और द्वितीय विवाह भड़ौच जिलेके 'अणोर' गांवके शाह शिवलाल रायचंदजीकी वहिन डनियावाई (जमनावाई) के साथ हुआ था।

किसी भी व्यक्तिकी महत्ता धनाढ्य होनेमें या विविध भाषाके विद्वान होनेमें नहीं है, किन्तु मोक्षमार्गका यथार्थ वोध प्राप्त करनेमें है। उस समय गुजरातमें देव, गुरु, धर्म और सप्ततत्वका यथार्थ ज्ञानी श्रद्धानी शायद कोई भी नहीं था। सिर्फ गतानुगतिकता पूजा, व्रत, उपवास, विना हेतु समझे वाह्य क्रियाकांडमें मचा हुआ था। यथार्थ श्रद्धान, ज्ञानादि प्राप्त करनेका कोई निमित्त नहीं था, ऐसे

समयमें उनके समागममें आनेवालों पर छाप पड़े ऐसा ज्ञान-अध्यात्मज्ञान आपने सम्पादन किया था। उनके अध्यात्म प्रेमसे आकर्षित होकर श्वेताम्बर मुनि श्री हुकमचन्द्रजीने अपने बनाये हुए अध्यात्म प्रकरण और ज्ञान प्रकरण ये दो ग्रन्थ आपको भेंट किये थे!

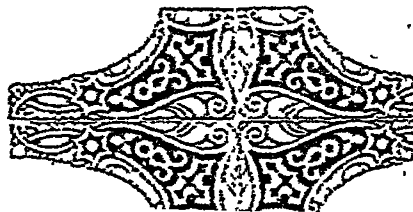
स्वाध्याय करनेकी रुचि होनेसे दिगम्बर जैन धर्मके महत्त्वपूर्ण छपे हुए सभी ग्रन्थ आप मंगाया करते थे, वैसे ही श्वेताम्बरोंके वेदांतके और बौद्ध धर्मके भी ग्रन्थ मंगाया करते थे। इससे आपके घरमें छोटासा पुस्तकालय बन गया था। मासिक पत्रोंमें उनको 'जैनहितैषी' खास प्रिय था। उसमें भी प्रेमीजीके लेख आप बहुत रुचिपूर्वक पढ़ते थे।

जब जब संसारी कामोंसे निवृत्ति मिलती थी तब तब आप अपने मंगाये हुए तात्विक ग्रन्थ पढ़ते थे, या कवि बनारसीदासजी कृत समयसारके काव्य; बनारसीदासजी, भूधरदासजी, भगवतीदासजी, आनन्दघन, हीराचन्दजी आदिके बनाये हुए खास करके अध्यात्मिक पद गाते थे। सम्मेदशिखर, गिरनार, पावागढ़ आदि तीर्थक्षेत्रोंकी यात्रा आपने की थी। इस तरह जीवन व्यतीत करते हुए आपने सम्वत् १९८८की आश्विन शुक्ल चतुर्दशीकी रात्रिके १० बजे णमोकार मंत्रका उच्चारण करते २ देह छोड़ दिया था व देह त्यागके पहले कई दिन पूर्व अपनी पूर्व सावधानीमें आपने जैनोंकी भिन्न२ संस्थाओंको २०००)का दान दिया था, उसी दानसे "जम्बूस्वामीचरित्र" २ वर्ष हुए प्रकट किया गया था और अब यह योगसार टीका ग्रन्थ जो कि आपको बहुत प्रिय था और उसके कई दोहे आप स्मरण किया करते थे वह प्रकट किया जा रहा है।

—प्रकाशक।

विषय-सूची

क्रम	विषय	पृष्ठ





श्री योगीन्द्रचन्द्राचार्य कृत—

योगसार टीका।



दोहा।

ज्ञान दर्श सुख वीर्यमय, परमातम सशरीर।
अर्हत वक्ता आप्त नम, पहुंचूं भवदधितीर॥ १॥

सिद्ध शुद्ध अशरीर प्रभु, वीतराग विज्ञान।
नित्य मगन निज रूपमें, वंदहुं सुखकी खान॥ २॥

आचारज मुनिराजवर, दीक्षा शिक्षा देत।
शिव-मग नेता शांतिमय, वंदहुं भाव समेत॥ ३॥

श्रुतधर गुणधर धर्मधर, उपाध्याय हत भार।
ज्ञान दान कर्तार मुनि, नमहु समामृत धार॥ ४॥

साधत निज आतम सदा, लीन ध्यानमें धीर।
साधु अमङ्गल दूर कर, हरहु सकल भव पीर॥ ५॥

जिनवाणी सुखदायनी, सार तत्वकी खान।
पढ़त धारणा करत ही, होय पापकी हान॥ ६॥

योगिचन्द्र मुनिराज कृत, योगसार सत ग्रन्थ।
भाषामें टीका लिखूं, चलूं स्वानुभव पन्थ॥ ७॥

(ब्र० सीतल, ता० १३-२-३९.)



सिद्धोंको नमस्कार।

णिम्मलझाणपरिट्ठिया कम्मकलंक डहेवि।
अप्पा लद्धउ जेण परु ते परमप्प णवेवि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(जेण) जिन्होंने (णिम्मलझाणपरिट्ठिया) शुद्ध ध्यानमें स्थित होते हुए (कम्मकलंक डहेवि) कर्मोंके मलको जला डाला है (परु अप्पा लद्धउ) तथा उत्कृष्ट परमात्म पदको पा लिया है (ते परमप्प णवेवि) उन सिद्ध परमात्माओंको नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—यहां ग्रंथकर्ताने मङ्गलाचरण करते हुए सर्व सिद्धोंको नमस्कार किया है। सिद्धपद शुद्ध आत्माका पद है। जहां आत्मा अपने ही निजस्वभावमें सदा मगन रहता है। आत्मा शुद्ध आकाशके समान निर्मल रहता है। आत्मा द्रव्य गुणोंका अभेद समूह है। सर्व ही गुण वहाँ पूर्ण प्रकाशित रहते हैं। सिद्ध भगवान पूर्ण ज्ञानी हैं, परम वीतराग हैं, अतीन्द्रिय सुखके सागर हैं, अनन्तवीर्यधारी हैं, जड संग रहित अमूर्तीक हैं, सर्व कर्ममल रहित निर्मल हैं। अपनी ही स्वाभाविक परिणतिके कर्ता हैं, परमानन्दके भोक्ता हैं, परम कृतकृत्य हैं। सर्व इच्छाओंसे शून्य हैं, पुरुपाकार हैं। जिस शरीरसे सिद्ध हुये हैं उस शरीरमें जैसा आत्माका आकार था वैसा ही आकार विना संकोच विस्तारके सिद्धपदमें रहता है, प्रदेशोंकी मापसे असंख्यात प्रदेशी हैं। सिद्धको ही परमेश्वर, शिव, परमात्मा, परमदेव कहते हैं। वे एकाकी आत्मारूप हैं, जैसा मूलमें आत्मद्रव्य है वैसा ही सिद्ध स्वरूप है। सिद्ध परमात्मा अनेक हैं, जो संसारी आत्मा शुद्ध आत्माका अनुभव पूर्वक ध्यान करता है। मुनिपदमें अन्तर बाहर निर्ग्रंथ होकर पहले धर्मध्यान फिर शुक्ल-

ध्यानको ध्याता है। इस शुक्ल ध्यानके प्रतापसे पहले अरहंत होता है फिर सर्व कर्ममल जलाकर सिद्ध होता है। ऊर्द्ध गमन स्वभावसे लोकके अग्रमें जाकर सिद्ध आत्मा ठहरता है। धर्मद्रव्यके विना अलोकाकाशमें गमन नहीं होता है। सर्व ही सिद्ध उस सिद्ध क्षेत्रमें अपनी२ सत्ताको भिन्न२ रखते हैं। सर्व ही अपने२ आनन्दमें मगन हैं, वे पूर्ण वीतराग हैं। इससे फिर कभी कर्मबंधसे बंधते नहीं। इसीलिये फिर संसार अवस्थामें कभी आते नहीं। वे सर्व संसारके द्वंद्वोंसे मुक्त रहते हैं। वे ही निर्वाण प्राप्त हैं। सिद्धोंके समान जो कोई मुमुक्षु अपने आत्माको निश्चयसे शुद्ध आत्मद्रव्य मानकर व रागद्वेष त्याग कर उसी निज स्वरूपमें मगन होजाता है वही एक दिन शुद्ध होजाता है।

ग्रंथकर्ताने सिद्धोंको सबसे पहले इसीलिये नमस्कार किया है कि भावोंमें सिद्ध समान आत्माका बल आजावे। परिणाम शुद्ध व वीतराग होजावे। शुद्धोपयोग मिश्रित शुभ भाव होजावे जिससे विघ्न-कारक कर्मोंका नाश हो व सहायकारी पुण्यका बन्ध हो। मङ्गल इसे ही कहते हैं जिससे पाप गले व पुण्यका लाभ हो। मङ्गलाचरण करनेसे शुद्ध आत्माकी विनय होती है। उद्धतताका व मानका त्याग होता है। परिणाम कोमल होते हैं। शांति व सुखका झल-काव होता है।

यह अध्यात्मीक ग्रंथ है—आत्माको साक्षात् सामने दिखानेवाला है। शरीरके भीतर बैठे हुए परमात्मदेवका दर्शन करानेवाला है। इसलिये ग्रंथकर्ताने सिद्धोंको ही पहले स्मरण किया है। इससे झलकाया है कि सिद्ध पदको पानेका ही उद्देश है। ग्रंथ लिखनेसे और किसी फलकी वांछा नहीं है—सिद्ध पदका लक्ष्य ही सिद्ध पदपर पहुँचा देता है।

परम योगी-श्री कुन्दकुन्दाचार्यजीने भी समयसार ग्रन्थकी आदिमें सिद्धोंको ही नमस्कार किया है। वे कहते हैं—

वंदित्तु सव्व सिद्धे धुवममलमणोवमं गदिं पत्ते ।
वोच्छामि समय पाहुड़ मिणमो सुदकेवली भणिदं ॥ १ ॥

भावार्थ—नित्य, शुद्ध, अनुपम, सिद्धगतिको प्राप्त, सर्व सिद्धोंको नमन करके मैं श्रुतकेवली कथित समय प्राभृतको कहूंगा।

योगेन्द्राचार्यने परमात्मप्रकाश ग्रंथको प्रारम्भ करते हुए इसी तरह पहले सिद्धोंको ही नमन किया है।

जे जाय झाणग्गियए कम्मकलंक डहेवि ।
णिच्च णिरंजन णाणमय ते परमप्प णवेवि ॥ १ ॥

भावार्थ—जो ध्यानकी आगसे कर्म-कलंकको जलाकर नित्य, निरंजन, तथा ज्ञानमय होगये हैं; उन सिद्ध परमात्माओंको नमन करता हूं।

श्री पूज्यपादस्वामीने भी समाधिशतकको प्रारम्भ करते हुए पहले सिद्ध महाराजको ही नमन किया है।

येनात्मा बुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥ १ ॥

भावार्थ—जिसने अपने आत्माको आत्मारूप व परपदार्थको पररूप जाना है तथा इस भेदविज्ञानसे अक्षय व अनन्त केवलज्ञानका लाभ किया है, उस सिद्ध परमात्माको नमस्कार हो।

श्री देवसेनाचार्यने भी तत्वसारको प्रारम्भ करते हुए सिद्धोंको ही नमस्कार किया है।

झाणग्गिदड्ढकम्मे णिम्मलविसुद्धलद्धसब्भावे ।
णमिऊण परमसिद्धे सु तच्चसारं पवोच्छामि ॥ १ ॥

भावार्थ—ध्यानकी आगसे कर्मोंको जलानेवाले व निर्मल शुद्ध निज स्वभावको प्राप्त करनेवाले सिद्ध परमात्माओंको नमन करके तत्वसारको कहूंगा।

पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेश ग्रंथकी आदिमें ऐसा ही किया है—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने॥ १॥

भावार्थ—सर्व कर्मोंको क्षय करके जिसने स्वयं अपनें स्वभावका प्रकाश किया है उस सम्यग्ज्ञान स्वरूप सिद्ध परमात्माको नमन हो। नमस्कारके दो भेद हैं—भाव नमस्कार, द्रव्य नमस्कार। जिसको नमस्कार किया जावे उसके गुणोंको भावोंमें प्रेमसे धारण करना भाव नमस्कार है। वचनोंसे व कायसे उस भीतरी भावका प्रकाश द्रव्य नमस्कार है। भाव सहित द्रव्य नमस्कार कार्यकारी है।

अरहंत भगवानको नमस्कार।

घाइचउक्कह किउ विलउ अणंतचउक्कपदिट्ठु।
तहिं जिणइंदहं पय णविवि अक्खमि कव्वु सुइट्ठु॥२॥

अन्वयार्थ—(घाइचउक्कहं विलउ किउ) जिसने चार घातीय कर्मोंका क्षय किया है (अणंतचउक्कपदिट्ठु) तथा अनंतचतुष्टयका लाभ किया है (तहिं जिणइंदहं पय) उस जिनेन्द्रके पदोंको (णविवि) नमस्कार करके (सुइट्ठु कव्वु) सुन्दर प्रिय काव्यको (अक्खमि) कहता हूं।

भावार्थ—अरहंत पदधारी तेरहवें गुणस्थानमें प्राप्त सयोग व अयोग केवली जिनेन्द्र होते हैं। जब यह अज्ञानी जीव तत्वज्ञानका

मनन करके मिथ्यात्व कर्मको व सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त प्रकृति कर्मको अर्थात् तीनों दर्शन मोहनीयकर्मोको तथा चार अनन्तानुबंधी कषायोंको उपशम, क्षयोपशम या क्षय कर देता है, तब चौथे अविरत सम्यक्त गुणस्थानमें प्राप्त हो जिन कहलाता है। क्योंकि उसने संसार भ्रमणके कारण मिथ्यात्वको व मिथ्यात्व सहित राग-द्वेष विकारको जीत लिया है, उसका उद्देश्य पलट गया है, वह संसारसे वैराग्यवान व मोक्षका परमप्रेमी होगया है। उसके भीतर निर्वाणपद लाभकी तीव्र रुचि पैदा होगई है। क्षायिक सम्यक्ती जीव श्रावक होकर या एकदम मुनि होकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान-तक धर्मध्यानका अभ्यास पूर्ण करता है। फिर क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर दसवें सूक्ष्ममोह गुणस्थानके अन्तमें चारित्र मोह-नीयका सर्व प्रकार क्षय करके बारहवें गुणस्थानमें क्षीणमोह जिन हो जाता है।

चौथेसे बारहवें गुणस्थान तक जिन संज्ञा है, फिर बारहवेंके अन्तमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय तीन शेष घातीय कर्मोका क्षय करके अरहन्त सयोग केवली हो, तेरहवें गुणस्थानमें प्राप्त होता है तब वह जिनेन्द्र कहलाते हैं। यहां चारों घातीय कर्मोका अभाव है। उनके अभावसे अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतदान, अनंत-लाभ, अनंतभोग, अनंतउपभोग, अनंतवीर्य, क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक चारित्र ये नौ केवल लब्धियां तथा अनंतसुख प्राप्त हो जाते हैं। इन दशको चार अनंत चतुष्टयमें गर्भित करके अनंतज्ञान, अनंत-दर्शन, अनन्तवीर्य व अनन्तसुखको यहां प्राप्त करना कहा है। सम्यक्त व चारित्रको सुखमें गर्भित किया है। क्योंकि उनके बिना सुख नहीं होता है व अनन्तदानादि चारको अनन्तवीर्यमें गर्भित किया है, क्योंकि वे उसीकी परिणतियाँ हैं। इसतरह अनन्त चतुष्टयमें

दशों गुण गर्भित हैं। सयोग केवली अवस्थामें अरहन्त धर्मोपदेश करते हैं उनकी दिव्यवाणीका अद्‌भुत प्रकाश होता है, जिसका भाव सर्व ही उपस्थित देव, मानव व पशु समझ लेते हैं। सबका भाव निर्मल व आनन्दमय व सन्तोषी हो जाता है।

इसी वाणीको धारणामें लेकर चार ज्ञानधारी गणधर मुनि आचारांग आदि द्वादश अंगोंमें गूंथते हैं। उस द्वादशांग वाणीको परंपरासे अन्य आचार्य समझते हैं। अपनी बुद्धिके अनुसार धारणामें रखकर दिव्य वाणीके अनुसार अन्य ग्रन्थोंकी रचना करते हैं। उन ग्रंथोंसे ही सत्यका जगतमें प्रचार होता है। सिद्धोंके स्वरूपका ज्ञान भी व धर्मके सर्व भेदोंका ज्ञान जिनवाणीसे ही होता है। जिसके मूल वक्ता अरहंत हैं। अतएव परमोपकार समझकर अनादि मूल मंत्र णमोकार मंत्रमें पहले अरहन्तोंको नमस्कार किया है, फिर सिद्धोंको नमन किया है। अरहंत पदधारी तीर्थंकर व सामान्य केवली दोनों होते हैं। तीर्थंकर नामकर्म एक विशेष पुण्यप्रकृति है। जो महात्मा दर्शनविशुद्धि आदि षोडशकारण भावनाओंको उत्तम प्रकारसे ध्याय कर तीर्थंकर नामकर्म बांधते हैं वे ही तीर्थंकर केवली होते हैं। ऐसे तीर्थंकर परिमित ही होते हैं। भरत व ऐरावत क्षेत्रोंमें हरएक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी कालमें चौवीस चौवीस होते हैं। विदेहोंमें सदा ही होते रहते हैं। वहां कमसे कम वीस व अधिकसे अधिक एक सौ साठ होते हैं। भरत व ऐरावतके तीर्थंकरोंके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण पांचों कल्याणक उत्सव इंद्रादि देव करते हैं, क्योंकि वे पहले ही तीर्थंकर कर्म बांधते हुए गर्भमें आते हैं। विदेहोंमें कोई २ महात्मा श्रावक पदमें कोई २ साधु पदमें तीर्थंकर कर्म बांधते हैं। इसलिये वहां किन्हींके तप, ज्ञान, निर्वाण तीन व किन्हींके ज्ञान, निर्वाण दो ही कल्याणक होते हैं।

तीर्थंकरोंके विशेष पुण्यकर्मका विपाक होता है इससे समवसरण-की विशाल रचना होती है। श्री मण्डपमें भगवानकी गंधकुटीके चारोंतरफ बारह सभाएं भिन्न२ लगती हैं उनमें कमसेकम बारह प्रकारके प्राणी नियमसे बैठते हैं।

समवसरण स्तोत्रमें विष्णुसेन मुनि कहते हैं—

ऋषिकल्पजवनितार्या ज्योतिर्वनभवनयुवतिभावनजाः।

ज्योतिष्ककल्पदेवा नरतिर्यंचो वसंति तेष्वनुपूर्वम् ॥ १९ ॥

भावार्थ—उन बारह सभाओंमें क्रमसे १ ऋषिगण, २ स्वर्गवासी देवी, ३ आर्यिका साध्वी, ४ ज्योतिषियोंकी देवी, ५ व्यंतरदेवियां, ६ भवनवासी देवियां, ७ भवनवासी देव, ८ व्यंतरदेव, ९ ज्योतिषी देव, १० स्वर्गवासी देव, ११ मनुष्य, १२ तिर्यंच बैठते हैं। इससे सिद्ध है कि आर्यिकाओंकी सभा अन्य श्राविकाओंसे भिन्न होती है उनकी मुद्रा श्वेत वस्त्र व पीछी कमण्डल सहित निराली होती है। शेष सर्व श्राविकाएं व अन्य स्त्रियां ग्यारहवे मनुष्यके कोठेमें बैठती हैं। साधारण सर्व स्त्री पुरुष मनुष्य कोठेमें व सर्व तिर्यंचनी व तिर्यंच पशुओंमें बैठते हैं।

सामान्य केवलियोंके केवल गंधकुटी होती है। सर्व ही अरहंतोंके अठारह दोष नहीं होते हैं व शरीर परमौदारिक सात धातु रहित स्फटिकके समान निर्मल होजाता है जिसकी पुष्टि योग बलसे स्वयं आकर्षित विशेष आहारक वर्गणाओंसे होती है। भिक्षासे ग्रास रूप भोजन करनेकी आवश्यक्ता नहीं होती है। जैसे वृक्षोंकी पुष्टि लेपाहारसे होती है। वे जैसे मिट्टी पानीको आकर्षण करते हैं वैसे योगबलसे पुष्टिकारक स्कन्ध अरहंतके शरीरमें प्रवेश करते हैं। उनके शरीरकी छाया नहीं पड़ती है, नख व केश नहीं बढ़ते हैं।

आप्त-स्वरूपमें कहा है —

नष्टं छद्मस्थविज्ञानं नष्टं केशादिवर्धनम्।
नष्टं देहमलं कृत्स्नं नष्टे घातिचतुष्टये ॥ ८ ॥
नष्टं मर्यादविज्ञानं नष्टं मानसगोचरम्।
नष्टं कर्ममलं दुष्टं नष्टो वर्णात्मको ध्वनिः ॥ ९ ॥
नष्टाः क्षुत्तृड्भयस्वेदा नष्टं प्रत्येकबोधनम्।
नष्टं भूमिगतस्पर्शं नष्टं चेन्द्रियजं सुखम् ॥ १० ॥
नष्टा सदेहजा छाया नष्टा चेन्द्रियजा प्रभा।
नष्टा सूर्यप्रभा तत्र सूतेऽनन्तचतुष्टये ॥ ११ ॥
तदा स्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम् ॥ १२ ॥
क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्।
जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदो रतिः ॥ १५ ॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥ १६ ॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः।
विद्यन्ते येषु ते नित्यं तेऽत्र संसारिणः स्मृताः ॥ १७ ॥

भावार्थ—ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्मोंके क्षय होजानेपर अल्पज्ञानीकासा ज्ञान नहीं रहता, केश नखादि नहीं बढ़ते, शरीरका सर्व मल दूर होजाता है, ज्ञान मर्यादा रूप नहीं होकर अमर्यादा-रूप अनन्त होजाता है, मनका संकल्प विकल्प नहीं होता है,

दुष्टकर्ममल नाश होजाता है, अक्षरमय वाणी नहीं होती है, मेघकी गर्जनाके समान निरक्षरी ध्वनि निकलती है। भूख, प्यास, भय, पसीना नहीं होता है। हरएक प्राणीको समझानेकी क्रिया नहीं होती है। साधारण ध्वनि निकलती है। भूमिका स्पर्श नहीं होता है। इन्द्रियजनित सुख भी नहीं रहता है। अतीन्द्रिय स्वाधीन सुख होता है। शरीरकी छाया नहीं पड़ती है। इन्द्रियोंकी प्रभा नहीं रहती है। आतापकारी सूर्यकी भी प्रभा नहीं होती है। वहाँ अनन्तचतुष्टय प्रकट होते हैं, तब स्फटिकके समान तेजस्वी शरीरकी मूर्ति होजाती है। सात धातुएं नहीं रहती हैं। दोषोंका क्षय हो जाता है। १ भूख, २ प्यास, ३ भय, ४ राग, ५ द्वेष, ६ मोह, ७ चिन्ता, ८ जरा, ९ रोग, १० मरण, ११ पसीना, १२ खेद, १३ मद, १४ रति, १५ आश्चर्य, १६ जन्म, १७ निद्रा, १८ विषाद ये अठारह दोष तीन जगतके प्राणियोंमें साधारण पाए जाते हैं। जिनमें ये दोष होते हैं उनको संसारी प्राणी कहते हैं। जो इन दोषोंसे रहित हैं वही निरञ्जन आप्त अरहंत होता है।

समवसरण स्तोत्रमें उक्तं च गाथा है—

पुव्वह्णे मज्झह्णे अवरह्णे मज्झिमाय रत्तीए।
छहछहघडियाणिग्गयदिवज्झुणी कहइ सुत्तत्थे ॥ १ ॥

भावार्थ—समवसरणमें श्री तीर्थंकर भगवानकी दिव्यवाणी सवेरे, दोपहर, सांझ, मध्यरात्रि इसतरह चार दफे छः छः घड़ी तक सूत्रार्थको प्रगट करती हुई निकलती है।

तेरहवें गुणस्थानको सयोग इसलिये कहते हैं कि वहां योग-शक्तिका परिणमन होता है जिससे कर्म नोकर्मवर्गणाओंका ग्रहण होता है, आत्माके प्रदेश चञ्चल होते हैं। इस चञ्चलताके निमित्त

सात प्रकार योग होते है–सत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग, सत्य वचनयोग, अनुभय वचनयोग, औदारिक काययोग; केवलि समुद्घातमें ही होनेवाले औदारिक मिश्र काययोग और कार्मणयोग। भाव मनका काम नहीं होता है, क्योंकि श्रुतज्ञान व चिन्ता व तर्कका कोई काम नहीं रहता है। मनोवर्गणाका ग्रहण होनेपर द्रव्य मनमें परिणमन होता है। इसी अपेक्षा मनोयोग कहा है। वाणी खिरती हैं, विहार होता है। केवली समुद्घातमें लोकाकाश प्रमाण आत्मप्रदेश फैलते हैं। यह तेरहवां गुणस्थान आयुपर्यंत रहता है। जब इतना काल आयुमें शेप रहता है जितना काल अ, इ, उ, ऋ, ऌ इन पांच लघु अक्षरोंके बोलनेमें लगता है तब अयोग केवली जिन होजाते हैं, चौदहवां गुणस्थान होजाता है। यहां योग काम नहीं करता है, अन्तके दो समयमें चार अघातीय कर्मोंकी ८५ प्रकृतियोंका क्षय करके सिद्ध व अशरीर होकर सिद्ध क्षेत्रमें जाकर विराजते हैं। तेरहवें गुणस्थानमें १४८ कर्मप्रकृतियोंमेंसे ६३ कर्मप्रकृतियोंका नाश हो चुकता है वे ६३ हैं—

४७ चार घातियाकी—५ ज्ञा० + ९ दर्शना० + २८ मोह० + ५ अंत० तथा १६ अघातीयकी—नरक तिर्यंच देवायु ३ + नरकगति + नरक गत्यानुपूर्वी, + तिर्यंचगति, + तिर्यंचगत्या० + एक, दो, तीन, चार इंद्रियजाति ४ + उद्योत + आतप + साधारण + सूक्ष्म + स्थावर॥

ग्रंथकर्ताने अपने शास्त्रज्ञानके मूल श्रोत रूप अरहंत भगवानको परोपकारी जान कर नमस्कार किया है व ग्रंथको कहनेकी प्रतिज्ञा की है—

ग्रन्थको कहनेका निमित्त व प्रयोजन।

संसारहं भयभीयाहं मोक्खह लालसियाहं।
अप्पासंबोहणकयइ कय दोहा एक्कमणाहं ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(संसारहं भयभीयाहं) संसारसे भय रखनेवालोंके लिये व (मोक्खहं लालसियाहं) मोक्षकी लालसा धारण करनेवालोंके लिये (अप्पासंबोहणकयइ) आत्माका स्वरूप समझानेके प्रयोजनसे (एक्कमणाहं) एकाग्र मनसे (दोहा कय) दोहोंकी रचना की है।

भावार्थ—जिसमें अनादिकालसे चार गतियोंमें संसरण या भ्रमण जीवोंका होरहा हो उसको संसार कहते हैं। चारों गतियोंमें क्लेश व चिंताएं रहती हैं, शारीरिक व मानसिक दुःख जीवको कर्मोंके उदयसे भोगने पड़ते हैं। जन्म व मरणका महान क्लेश तो चारों ही गतियोंमें है, इसके सिवाय नरकमें आगमके प्रमाणसे तीव्र शारीरिक व मानसिक दुःख जीवको बहुत काल सहने पड़ते हैं। वहां दिन रात मार धाड़ रहती है, नारकी परस्पर नाना प्रकार शरीरकी अपृथग् विक्रियासे पशु रूप व शस्त्रादि बनाकर दुःख देते हैं व सहते हैं। तीसरे नरक तक संक्लेश परिणामोंके धारी असुरकुमार देव भी उनको लड़ाकर क्लेश पहुंचाते हैं। वैक्रियिक शरीर होता है। पारेके समान गलकर फिर वन जाता है। तीव्र भूख प्यासकी वेदना सहनी पड़ती है। नारकी नरकके भीतर रत नहीं होते हैं, इसीलिये वे स्थान नरत व नरक कहलाते हैं।

तिर्यंच गतिमें एकेन्द्रिय स्थावर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदिक प्राणियोंको पराधीनपने व निर्बलतासे घोर कष्ट सहने पड़ते हैं। मानव पशुगण सर्व ही इनका व्यवहार करते हैं। वे वार वार

जन्मते मरते हैं। द्वेन्द्रिय लट आदि, तेइन्द्रिय चींटी खटमल आदि, चौन्द्रिय मक्खी, पतंग आदि ये तीन प्रकार विकलत्रय महान कष्टमें जीवन बिताते हैं। मानवो व पशुओंके वर्तनसे इनका बहुधा मरण होता रहता है। पंचेंद्रिय पशु थलंचर गाय भैंसादि, जलचर मच्छ कछुवादि, नभचर कबूतर मोर काकादि व सर्पादि पशु कितने कष्टसे जीवन बिताते हैं सो प्रत्यक्ष प्रगट है। मानवोंके अत्याचारोंसे अनेक पशु मारे जाते हैं। भार वहन, गर्मी, शर्दी, भूख, प्यासके व परस्पर वैर विरोधके घोर कष्ट सहते हैं।

मानवगतिमें इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, रोग, दारिद्र, अपमानादिके घोर शारीरिक व मानसिक कष्ट सहने पड़ते हैं, सो सबको प्रत्यक्ष ही है। देवगतिमें मानसिक कष्ट अपार है। छोटे देव बड़ोंकी विभूति देखकर कुढ़ते हैं। देवियोंकी आयु थोड़ी होती है, देवोंकी बड़ी आयु होती हैं, इसलिये देवियोंके वियोगका बड़ा कष्ट होता है। मरण निकट आनेपर अज्ञानी देवोंको भारी दुःख होता है। इस-तरह चारों गतियोंमें दु ख ही दुःख विशेष है। संसारमें सबसे बड़ा दुःख तृष्णाका है। इन्द्रियोंके भोगोंकी लालसा, भोगोंके मिलनेपर भी बढ़ती ही जाती है। इस चाहकी दाहसे सर्व ही अज्ञानी संसारी प्राणी दिनरात जलते रहते हैं। जब शरीर जराग्रस्त व असमर्थ होजाता है तब भोगोंको भोगनेकी शक्ति नहीं रहती है, किन्तु तृष्णा बढ़ी हुई होती है, इच्छित भोगोंके न मिलनेसे घोर कष्ट होता है। इष्ट पदार्थोंके छूटनेपर महती वेदना होती है। मिथ्यादृष्टी संसारासक्त प्राणियोंको संसार–भ्रमणमें दुःख ही दुःख है। जब कभी कोई इच्छा पुण्यके उदयसे तृप्त होजाती है तब कुछ देर सुखसा झलकता है, फिर तृष्णाका दुःख अधिक होजाता है। संसार-भ्रमणसे उदासीन, मोक्षप्रेमी सम्यग्दृष्टी जीवोंको संसारमें क्लेश कम होता है। क्योंकि

वे तृष्णाको जीत लेते हैं। तृष्णाके तीव्र रोगसे पीड़ित सर्व ही अज्ञानी प्राणियोंको घोर कष्ट होता है। इसलिये विचारवानोंको अपने आत्मापर करुणाभाव लाना चाहिये। व यह भय करना चाहिये कि हमारा आत्मा संसारके क्लेशोंको न सहन करे। यह आत्मा भव-वनमें न भ्रमे, भवसागरमें न डूबे, जन्म जरा मरणके घोर क्लेश न सहन करे।

श्री पद्मनन्दिमुनि धम्मरसायण ग्रन्थमें कहते हैं—

उप्पण्णपढमसमयहुदी आमरणंतं सहंति दुक्खाइं।
अच्छिणिमीलणमेत्तं सोक्खं ण लहंति णेरइया ॥ ७२ ॥

भावार्थ—नरक गतिमें नारकी प्राणी उत्पत्तिके समयसे लेकर मरण पर्यंत दुःखोंको सहन करते रहते हैं। वे बिचारे आंखके टिम-कार मात्र भी समय तक सुख नहीं पाते हैं।

एइंदिएसु पंचसु अणेयजोणीसु वीरियविहूणो।
भुंजंतो पावफलं चिरकालं हिंडए जीवो ॥ ७८ ॥

भावार्थ—तिर्यंचगतिमें एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तककी अनेक योनियोंमें जन्म लेकर शक्तिहीन होते हुए प्राणी पापका फल दुःख भोगते हुए चिरकाल भ्रमण करते रहते हैं। अनंतकाल वनस्पति निगोदमें जाता है।

बहुवेयणाउलाए तिरियगईए भमित्तु चिरकालं।
माणुसभवे वि पावइ पावस्स फलाइं दुक्खाइं ॥ ८० ॥
धणबंधवपरिहीणो भिक्खं भमिऊण भुंजए णिच्चं।
पुव्वकयपावकम्मो सुयणो वि ण पच्छए सोक्खं ॥ ८५ ॥

भावार्थ—चिरकालतक तिर्यंच गतिमें महान वेदनाओंसे आकुलित हो भ्रमण करके मनुष्यभवमें जन्मकर पापके फलसे यह

प्राणी दुःखोंको पाता है। अनेक मानव पूर्वकृत पापके उदयसे धन-रहित, कुटुम्बरहित होकर सदा भिक्षासे पेट भरते घूमते हैं, उनका कोई सम्बन्धी भी उनको सुखकी सामग्री नहीं देता है।

छम्मासाउगसेसे विलाइ माला विणस्सए छाए।
कंपंति कप्परुक्खा होइ विरागो य भोयाणं ॥ ९० ॥

भावार्थ—देवगतिमें छः मास आयुके शेष रहने पर माला मुरझा जाती है, शरीरकी कांति मिट जाती है, कल्पवृक्ष कांपने लगते हैं, भोगोंसे उदासीनता छा जाती है।

एवं अणाइकाले जीओ संसारसायरे घोरे।
परिहिंडए अलहंतो धम्मं सव्वण्हुपण्णत्तं ॥ ९४ ॥

भावार्थ—इसतरह अनादिकालसे यह जीव सर्वज्ञ भगवानके कहे हुए धर्मको न पाकरके भयानक संसार-सागरमें गोते लगाया करता है।

श्री अमितगति आचार्य बृहत् सामायिकपाठमें कहते हैं—

श्वभ्राणामविसह्यमंतरहितं दुर्जल्पमन्योन्यजं।
दाहच्छेदविभेदनादिजनितं दुःखं तिरश्चां परं ॥
नृणां रोगवियोगजन्ममरणं स्वर्गौकसां मानसं।
विश्वं वीक्ष्य सदेति कष्टकलितं कार्यामतिर्मुक्तये ॥ ७९ ॥

भावार्थ—नारकियोंको असहनीय, परस्परकृत, अनन्त दुःख ऐसा होता है जिसका कहना कठिन है। तिर्यंचोंको जलनेका, छिदनेका, भिदनेका आदि महान दुःख होता है। मानवोंको रोग, वियोग, जन्म, मरणका घोर कष्ट होता है। देवोंको मानसीक क्लेश रहता है। इसतरह सारे जगतके प्राणियोंको सदा ही कष्टसे पीड़ित

देखकर बुद्धिमानको उचित है कि इस संसारसे मुक्ति पानेके लिये बुद्धि स्थिर करे।

संसारमें तृष्णाका महान रोग है। बड़े २ सम्राट् भी इच्छित भोगोंको भोगते हैं परंतु तृष्णाको मिटानेकी अपेक्षा उसे अधिक अधिक बढ़ाते जाते हैं। शरीरके छूटनेके समयतक तृष्णा अत्यन्त बढ़ी हुई होती है। यह तृष्णा दुर्गतिमें जन्म करा देती है।

इसीलिये स्वामी समन्तभद्राचार्यने स्वयंभूस्तोत्रमें ठीक कहा है—

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगरात्मा।
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशांतिरितीदमाख्यद् भगवान् सुपार्श्वः॥ ३१॥

भावार्थ—हे सुपार्श्वनाथ भगवान्! आपने यही उपदेश दिया है कि प्राणियोंका उत्तम हित अपने आत्माका भोग है जो अनन्त कालतक बना रहता है। इन्द्रियोंका भोग सच्चा हित नहीं है। क्योंकि वे भोग क्षणभंगुर नाशवंत हैं, तथा तृष्णाके रोगको बढ़ानेवाले हैं। इनको किनना भी भोगो, चाहकी दाह शांत नहीं होती है।

इसलिये बुद्धिमानको इस दुःखमय संसारसे उदास होकर मोक्षपद पानेकी लालसा या उत्कण्ठा या भावना करनी चाहिये। मोक्षपदमें सर्व सांसारिक कष्टोंका अभाव है, रागद्वेष मोहादि विकारोंका अभाव है, सर्व पाप पुण्य कर्मोंका अभाव है, इसीलिये उसको निर्वाण कहते हैं। वहां सर्व परकी शून्यता है परन्तु अपने आत्माके द्रव्य गुण पर्यायोंकी शून्यता नहीं है। मोक्षमें यह आत्मा अपने शुद्ध स्वभावमें सदाकाल प्रकाश करता है, अपनी सत्ता बनाए रखता है। संसारदशामें शरीर सहित मोक्षपदमें शरीरोंसे रहित होजाता है। निरन्तर स्वात्मीक आनन्दका पान करता है। जन्म मरणसे रहित होजाता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथमें कहते हैं—

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ॥ २२३ ॥
कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥ २२४ ॥

भावार्थ—परम पुरुष मोक्षके परम पदमें सदा ही कर्मके लेप-रहित व बाधारहित अपने स्वरूपमें स्थिर आकाशके समान परम निर्मल प्रकाशमान रहते हैं। वह परमात्मा अपने परम पदमें कृत-कृत्य व सर्व जाननेयोग्य विषयोंके ज्ञाता व परमानन्दमें मगन सदा ही आनन्दका भोग करते रहते हैं।

श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्डश्रावकाचारमें कहते हैं—

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ॥४०॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी महात्मा परम आनन्द व परम ज्ञानकी विभूतिसे पूर्ण शिवपदको पाते हैं, जहां जरा नहीं, रोग नहीं, क्षय नहीं, बाधा नहीं, शोक नहीं, भय नहीं, शंका नहीं रहती है।

श्री योगेन्द्राचार्य संसारसे वैरागी व मोक्षपद-उत्सुक प्राणि-योंके लिये आत्माका स्वभाव समझायेंगे। क्योंकि आत्माके ज्ञानसे ही आत्मानुभव होता है, यही मोक्षका उपाय है।

मिथ्यादर्शन संसारका कारण है।

कालु अणाइ अणाइ जीउ भवसायरु जि अणंतु।
मिच्छादंसणमोहियउ ण वि सुह दुक्ख जि पत्तु ॥४॥

अन्वयार्थ—(कालु अणाइ) काल अनादि है (जिउ

अणादि) संसारी जीव अनादि है (भव सायरु जि अणंतु) संसारसागर भी अनादि अनन्त है (मिच्छादंसणमोहियउ) मिथ्यादर्शन कर्मके कारण मोही होता हुआ जीव (सुह ण वि दुक्ख जि पत्तु) सुख नहीं पाता है, दुःख ही पाता है।

भावार्थ—कालका चक्र अनादिसे चला आ रहा है। हर-समय भूत भावी वर्तमान तीनों काल पाए जाते हैं, कभी ऐसा सम्भव नहीं है कि काल नहीं था। जब काल अनादि है तब कालके भीतर काम करनेवाले संसारी जीव भी अनादि हैं। जीव कभी नवीन पैदा नहीं हुए। प्रवाहरूपसे चले ही आरहे हैं। वास्तवमें यह जगत जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल इन छः सत् द्रव्योंका समुदाय है। ये द्रव्य अनादि हैं तब यह जगत भी अनादि है। जगतमें प्रत्यक्ष प्रगट है कि कोई अवस्था किसी अवस्थाको विगाड़कर लेती है परंतु जिसमें अवस्था होती है वह वना रहता है। सुवर्णकी डलीको गलाकर कड़ा वनाया गया, तब डलीकी अवस्था मिटी, कड़ेकी अवस्था पैदा हुई, परंतु सुवर्ण वना रहा। कभी कोई सुवर्णका लोप नहीं कर सक्ता हैं। सुवर्ण पुद्गलके परमाणुओंका समूह है, परमाणु सब अनादि हैं।

संसारी जीव अनादिसे संसारमें पाप-पुण्यको भोगता हुआ भ्रमण कररहा है। कभी यह जीव शुद्ध था फिर अशुद्ध हुआ ऐसा नहीं है। कार्मण और तैजस शरीरोंका संयोग अनादिसे है, यद्यपि उनमें नए स्कंध मिलते हैं, पुराने स्कंध छूटते हैं। इसलिये संसारीजीवोंका संसार-भ्रमणरूप संसार भी अनादि है। तथा यदि इसीतरह यह जीव कर्मवन्ध करता हुआ भ्रमण करता रहा तो यह संसार उस मोही अज्ञानी जीवके लिये अनन्त कालतक रहेगा। मिथ्यादर्शन नामकर्मके उदयसे यह संसारीजीव अपने आत्माके सच्चे स्वरूपको

भूल रहा है, इसलिये कभी सच्चे सुखको नहीं पहचाना, केवल इंद्रियोंके द्वारा वर्तता हुआ कभी सुख, कभी दुःख उठाता रहा । इंद्रिय सुख भी आकुलताका कारण है व तृष्णावर्द्धक है, इसलिये दुःखरूप ही है ।

मोहनीय कर्मके दो भेद हैं-दर्शनमोहनीय; चारित्रमोहनीय । दर्शनमोहनीयका एक भेद मिथ्यात्वकर्म है । चारित्रमोहनीयके भेदोंमें चार अनंतानुबन्धी कषाय हैं । इन पांच प्रकृतियोंके उदय या फलके कारण यह संसारीजीव मोही, मूढ़, बहिरात्मा, अज्ञानी, संसारासक्त, पर्यायरत, उन्मत्त व मिथ्यादृष्टि होरहा है । इसके भीतर मिथ्यात्व भाव अन्धेरा किये हुए है, जिससे सम्यग्दर्शन गुणका प्रकाश रुक रहा है । मिथ्यातभाव दो प्रकारका है-एक अग्रहीत, दूसरा ग्रहीत । अग्रहीत मिथ्यात्व वह है जो प्रमादसे विभाव रूप चला आरहा है । जिसके कारण यह जीव जिस शरीरको पाता है उसमें ही आपापन मान लेता है । शरीरके जन्मको अपना जन्म, शरीरके मरणको अपना मरण, शरीरकी स्थितिको अपनी स्थिति मान रहा है । शरीरसे भिन्न मैं चेतन प्रभु हूं यह खबर इसे विलकुल नहीं है । कर्मोंके उदयसे जो भावोंमें क्रोध, मान, माया, लोभ या राग द्वेष मोह होते हैं उन भावोंको अपना मानता है । मैं क्रोधी, मैं मायावी, मैं लोभी, मैं रागी, मैं द्वेषी, मैं मोही, इसी तरह पाप पुण्यके उदयसे शरीरकी अच्छी या बुरी अवस्था होती है, उसे अपनी ही अच्छी या बुरी अवस्था मान लेता है । जो धन, कुटुम्ब, मकान, भूषण, वस्त्र आदि परद्रव्य हैं उनको अपना मान लेता है । इसतरह नाशवंत कर्मोदयकी भीतरी व बाहरी अवस्थाओंमें अहंकार व ममकार करता रहता है ।

अपने स्वभावमें अहंबुद्धि व अपने गुणोंमें ममता भाव विल-

कुल नहीं होता है। जैसे कोई मदिरा पीकर बावला होजावे व अपना नाम व अपना घर ही भूल जावे वैसे यह मोही प्राणी अपने सच्चे स्वभावको भूले हुए हैं। चारों गतियोंमें जहां भी जन्मता है वहां ही अपनेको नारकी, तिर्यंच, मनुष्य या देव मान लेता है। जो पर्याय छूटनेवाली है उसको स्थिर मान लेता है, यह अगृहीत या निसर्ग मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्वके कारण तत्वका श्रद्धान नहीं होता है।

श्री पूज्यपादस्वामीने सर्वार्थसिद्धिमें कहा है-

"मिथ्यादर्शनं द्विविधं नैसर्गिकं परोपदेशपूर्वकं च। तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशात् आविर्भवति तत्वार्थाश्रद्धानलक्षणं नैसर्गिकं।

भावार्थ—मिथ्यादर्शन दो प्रकार है—एक नैसर्गिक या अगृहीत, दूसरा अधिगमज या परोपदेश पूर्वक। जो परके उपदेशके विना ही मिथ्यात्व कर्मके उदयके वशसे जीव अजीव आदि तत्वोंका अश्रद्धान प्रगट होता है वह नैसर्गिक है। यह साधारणतासे सर्व ही एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय पर्यंत जीवोंमें पाया जाता है। जबतक मिथ्यात्व कर्मका उदय नहीं मिटेगा तबतक यह मिथ्यात्व भाव होता ही रहेगा। दूसरा परोपदेश पूर्वक पांच प्रकार है—एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक, अज्ञान, मिथ्यादर्शन। ये पांच प्रकार सैनी जीवोंको परके उपदेशसे होता है, तब संस्कार वश असैनीके भी बना रहता है। इनका स्वरूप वहीं कहा है—

(१) "तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः पुरुष एवेदं सर्वमिति वा नित्यमेवेति।"

भावार्थ—धर्मि जो द्रव्य व धर्म जो उसके स्वभाव उनको ठीक न समझकर यह हठ करना कि वस्तु यही है व ऐसी ही है। वस्तु अनेक स्वभावरूप अनेकांत होते हुए भी उसे एक धर्मरूप या एकांत

मानना एकांत मिथ्यात्व है। जैसे जगत छः द्रव्यका समुदाय है। ऐसा न मानकर यह जगत एक ब्रह्म स्वरूप ही है, ऐसा मानना या वस्तु द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है व पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है ऐसा न मानकर सर्वथा नित्य ही मानना या सर्वथा अनित्य ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है। "सग्रंथो निर्ग्रन्थाः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिद्ध्यतीत्येवमादिः विपर्ययः।"

भावार्थ—जो बात संभव न हो-विपरीत हो उसको ठीक मानना विपरीत मिथ्यात्व है जैसे परिग्रहधारी साधुको निर्ग्रन्थ मानना, केवली अरहंत भगवानको ग्रास लेकर भोजन करना मानना, स्त्रीके शरीरसे सिद्धगति मानना, हिंसामें धर्म मानना इत्यादि विपरीत मिथ्यात्व है। वस्त्रादि बाहरी व क्रोधादि अंतरंग परिग्रह रहित ही निर्ग्रंथ साधु होसक्ता है, केवली अनंतबली परमौदारिक सात धातु-रहित शरीर रखते हैं, मोहकर्मको क्षय कर चुके हैं, उनको भूखकी बाधा होना—भोजनकी इच्छा होना व भिक्षार्थ भ्रमण करना व भोजनका खाना सम्भव नहीं है। वे परमात्मपदमें निरन्तर आत्मा-नन्दामृतका स्वाद लेते हैं, इन्द्रियोंके द्वारा स्वाद नहीं लेते हैं। उनके मतिज्ञान व श्रुतज्ञान नहीं है।

कर्मभूमिकी स्त्रीका शरीर वज्रवृषभनाराच संहनन विना हीन संहननका होता है इसीसे वह न तो भारी पाप कर सक्ती है न मोक्षके लायक ऊँचा ध्यान ही कर सक्ती है। इसलिये वह मरकर १६ स्वर्गके ऊपर ऊर्द्ध्व लोकमें व छठे नर्कसे नीचे अधोलोकमें नहीं जाती है। हिंसा या परपीड़ासे पापबन्ध होगा कभी पुण्यबन्ध नहीं होसक्ता। उल्टी प्रतीतिको ही विपरीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वा न वेत्यन्य-तरपक्षापेक्षा परिग्रहः संशयः" सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र रत्नत्रय धर्म

मोक्षमार्ग है कि नहीं है ऐसा विकल्प करके किसी एक पक्षको नहीं ग्रहण करना **संशय मिथ्यादर्शन** है।

"सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्" सर्व ही देवताओंको व सर्व ही दर्शनोंको या आगमोंको (विना स्वरूप विचार लिये) एक समान श्रद्धान करना वैनयिक मिथ्यादर्शन है।

"हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वं" हित अहितकी परीक्षा नहीं करना, देखादेखी धर्मको मान लेना, अज्ञान मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शन वास्तवमें अपने शुद्धात्माके स्वरूपकी प्रतीति है, उसका न होना ही मिथ्यादर्शन है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा मोक्ष इन सात तत्वोंमें श्रद्धान न होना तथा वीतराग सर्वज्ञ देवमें, सत्यार्थ आगममें व सत्य गुरुमें श्रद्धानका न होना व्यवहार मिथ्यादर्शन है। यह सब गृहीत या अधिगमज या परोपदेश पूर्वक मिथ्यादर्शन है।

अपनेको औरका और शरीर रूप मानना अगृहीत या नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शनके कारण इस जीवको सच्चे आत्मीक सुखकी तथा सच्चे शुद्ध आत्माके स्वभावकी प्रतीति नहीं होती है। इसकी बुद्धि मोहसे अच्छी होती है। यह विषयभोगके सुखको ही सुख समझकर प्रतिदिन उसके उद्योगमें लगा रहता है। परपीड़ा पहुंचाकर भी स्वार्थ साधन करता है, पापोंको बांधता है, भवभवमें दुःख उठाता फिरता है। मिथ्यादर्शनके समान जीवका कोई वैरी नहीं है। मिथ्यादर्शनसे बढ़कर कोई पाप नहीं है। देहको अपना मानना ही देह धारण करनेका वीज है।

समाधिशतकमें श्री पूज्यपादस्वामीने कहा है—

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमङ्करमात्मनः।
तथापि रमते वालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥ ५५ ॥

भावार्थ—इंद्रियोंके भोगोंके भीतर आत्माका हित नहीं है तौ भी मिथ्यादृष्टी अज्ञानकी भावनासे उन्हींमें रमण करता रहता है।

चिरं सुपुसास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥ ५६ ॥

भावार्थ—अनादिकालसे मूढ़ आत्माएं अपने स्वरूपमें सोई हुई हैं, खोटी योनियोंमें भ्रमण करती हुई स्त्री पुत्रादि परपदार्थोंको व अपने शरीर व रागादि विभावोंको अपना मानकर इसी विभावमें जाग रही हैं।

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेह निष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

भावार्थ—इस शरीरमें आपा मानना ही पुनः पुन देह ग्रहणका बीज है। जबकि अपने आत्मामें ही आपा मिलना देहसे छूट जानेका बीज है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य **सारसमुच्चयमें** कहते हैं—

मिथ्यात्वं परमं बीजं संसारस्य दुरात्मनः।
तस्मात्तदेव मोक्तव्यं मोक्षसौख्यं जिघृक्षुणा ॥ ५२ ॥

भावार्थ—इस दुष्ट संसारका परम बीज एक मिथ्यादर्शन है इसलिये मोक्षके सुखकी प्राप्ति चाहनेवालोंको मिथ्यादर्शनका त्याग करना उचित है।

सम्यत्तवेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः।
मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य संसारे भ्रमणं सदा ॥ ४१ ॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी जीवके अवश्य निर्वाणका लाभ होगा, किन्तु मिथ्यादृष्टी जीवका सदा ही संसारमें भ्रमण रहेगा।

अनादिकालीन संसारमें यह संसारी जीव अनादिसे ही मिथ्यादर्शनसे अन्धा होकर भटक रहा है, इसलिये इस मिथ्यात्वका त्याग जरूरी है।

मोक्षसुखका कारण आत्मध्यान है ।

जइ वीहउ चउगइगमणु तउ परभाव चएवि ।

अप्पा झायहि णिम्मलउ जिम सिवसुक्ख लहेवि ॥५॥

अन्वयार्थ—(जइ) जो (चउगइगमणु वीहउ) चारों गतियोंके भ्रमणसे भयभीत हैं (तउ) तो (परभाव चएवि) परभावोंको छोड़ दे (णिम्मलउ अप्पा झायहि) निर्मल आत्माका ध्यान कर (जिम) जिससे (सिवसुक्ख लहेहि) मोक्षके सुखको तू पासके ।

भावार्थ—जैसा पहले दिखाया जाचुका है चारों ही गतियोंमें शारीरिक व मानसिक दुःख हैं । सुखकारी व स्वाभाविक गति एक मोक्ष गति है, जहां आत्मा निश्चल रहकर परमानन्दका भोग निरंतर करता रहता है, जहां आत्मा विलकुल शुद्ध निराला शोभता रहता है । मन सहित प्राणीको अपना हित व अहित ही विचारना चाहिये । यदि आत्माके ऊपर दयाभाव है तो इसे दुःखोंके बीच नहीं डालना चाहिये । इसे भव-भ्रमणसे रक्षित करना चाहिये । और इसे जितना शीघ्र होसके, मोक्षके निराकुल भावमें पहुंच जाना चाहिये । तब इसका उपाय श्री गुरुने बताया है कि अपने ही शुद्ध आत्माका ध्यान करो ।

भेदविज्ञानकी शक्तिसे अपने आत्माके साथ जिन जिनका संयोग है उन उनको आत्मासे नित्य विचार करके उनका मोह छोड़ देना चाहिये । मोक्ष अपने ही आत्माका शुद्ध स्वभाव है तब उसका उपाय भी केवल एक अपने ही शुद्ध आत्माका ध्यान है । जैसा ध्यावे वैसा होजावे । यदि हम एक मानवकी आत्माका भेदविज्ञान करें तो यह पता चलेगा कि यह तीन प्रकारके शरीरोंके साथ है । वे

तीनों शरीर पुद्गल द्रव्यके बने हुये हैं, आत्माके स्वभावसे बिलकुल विपरीत हैं।

स्थूल दीखनेवाला औदारिक शरीर है जो माता, पिताके रज वीर्यसे बना है। दो अनादिकालसे प्रवाह रूपसे चले आनेवाले तैजस शरीर और कार्मण शरीर हैं। आठ कर्ममय कार्मणशरीरके विपाकसे जो जो फल व अवस्थाएं व विकार आत्माकी परिणतिमें होते हैं वे सबकी आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं। ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्मोंके कारण अज्ञान व मोह, रागद्वेष आदि भावकर्म होते हैं व अघातीय कर्मोंके कारण शरीर व चेतन अचेतन पदार्थोंका सम्बन्ध होता है, वे सब ही भिन्न हैं। जीवोंकी उन्नति करनेकी चौदह सीढ़ियां हैं, जिनको गुणस्थान कहते हैं, वे सब भी शुद्ध आत्मासे भिन्न हैं।

गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व, आहार ये चौदह मार्गणाएँ हैं सो भी शुद्ध जीवका स्वभाव नहीं है। शुद्ध जीव अखंड व अभेद है। सहज ज्ञान व सहज दर्शन व सहज वीर्य व सहज सुखका अमिट व अभेद समूह है। सर्व सांसारिक अवस्थाएं शुद्ध आत्मासे भिन्न हैं। इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, तीर्थंकरपद ये सब कर्मकृत उपाधियां हैं। आत्मा इन सबसे भिन्न निरञ्जन प्रभु-देव है।

तत्वार्थसूत्रमें जीवोंके पांच भाव व उनके भेद त्रेपन भाव बताए हैं, उनमेंसे शुद्ध आत्माके केवल क्षायिक भाव और पारणामिक भाव हैं—औपशमिक, क्षयोपशमिक, औदयिक तीन भाव नहीं हैं। त्रेपनमेंसे नौ क्षायिक भाव अर्थात् नौ लब्धियां व एक जीवत्व पारिणामिक भाव, इसतरह केवल दस भाव जीवके हैं शेष ४३ तेतालीस नहीं हैं।

सिद्धके समान आत्माका ध्यान करना चाहिये। भेदविज्ञानके

प्रतापसे ध्यान करनेवाला आप ही अपनेको परमात्मा रूप देखता है। जैसे दूधपानी मिले हुए हों तो दूध पानीसे अलग दीखता है व गर्म पानीमें जल व अग्निका स्वभाव अलग दीखता है। व्यंजनमें लवण व तरकारीका स्वाद अलग दीखता है। लाल पानीमें पानी व लाल रंगका स्वभाव अलग दीखता है। तिलोंमें भूसी व तेल अलग दीखता है। धान्यमें तुप और चावल अलग दीखता है। दालमें छिलका व दालका दाना अलग दीखता है। वैसे ही ज्ञानीको अपना आत्मा रागादि भावकर्मसे, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मसे व शरीरादि नोकर्मसे भिन्न दीखता है। जैसे ज्ञानीको अपना आत्मा सर्व पर भावोंसे जुदा दीखता है वैसे ही अन्य संसारी प्रत्येक आत्मा सर्व परभावोंसे भिन्न दीखता है।

सर्व ही सिद्ध व संसारी आत्माएं एक-समान परम निर्मल, वीतराग, ज्ञानानन्दमय दिखती हैं। इस दृष्टिको सम्यक् व यथार्थ व निर्मल व निश्चय दृष्टि कहते हैं। इस दृष्टिसे देखनेका अभ्यास करनेवालेके भावोंमें समभावका साम्राज्य होजाता है। राग द्वेष, मोहका विकार मिट जाता है।

इसी समभावमें एकाग्र होना ही ध्यान है। यही ध्यानकी आग है जिससे कर्मके वन्धन कट जाते हैं और यह आत्मा शीघ्र ही मुक्त होजाता है, तव परम सुखका भोगी वन जाता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयपाहुडमें कहते हैं।

जीवस्स णत्थि वण्णो णविगंधो णवि रसो णवि य फासो ।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ॥ ५५ ॥
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णो कम्मं चाविसे णत्थि ॥ ५६ ॥

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा ण वयअणुभावठाणाणि ॥ ५७ ॥

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठणा ण वन्धठाणा वा ।
णे वयउदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥ ५८ ॥

णो सिदि वन्धट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेश ठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संगनलद्धिठाणा वा ॥ ५९ ॥

णे वय जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य आत्म जीवस्स ।
जेणदु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ ६० ॥

भावार्थ—निश्चयनयसे इस जीवमें न कोई वर्ण है, न कोई गंध है, न रस है, न स्पर्श है, न कोई दिखनेवाला रूप है, न कोई शरीर है, न छः संस्थानोंमेंसे कोई संस्थान है, न छः संहननोंसेंसे कोई संहनन है, न जीवके राग है, न द्वेष है, न मोह है, न सत्तावन (५ मिथ्यात्व + १२ अविरति + २५ कषाय + १५ योग) आस्रव हैं, न आठ कर्म हैं, न आहारक, तैजस, भाषा, मनोवर्गणा आदि नौ कर्म हैं, न जीवके कोई अविभाग प्रतिच्छेद शक्तिका समूह रूप वर्ण है, न वर्गसमूहरूप वर्गणा है, न वर्गणासमूहरूप स्पर्द्धक है, न शुभाशुभ विकल्परूप अध्यात्मस्थान है, न सुख दुःख फलरूप अनुभागस्थान है, न जीवके कोई आत्मप्रदेश हलन चलनरूप व योगशक्तिके अशुद्ध परिणमनरूप योगस्थान है, न प्रकृति आदि चार बन्धके स्थान हैं, न कर्मोंके उदयके स्थान हैं, न चौदह गति आदि मार्गणाओंके स्थान हैं, न कर्मोंकी स्थितिबन्धके स्थान हैं, न अशुभ भावरूप संक्लेश स्थान है, न शुभ भावरूप विशुद्धिके स्थान हैं, न संयमकी वृद्धिरूप संयमके स्थान हैं, न एकेन्द्रियादि चौदह जीव समास हैं, न मिथ्या-

दर्शनादि चौदह गुणस्थान हैं, क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्यके संयोग व निमित्तसे होनेवाले परिणाम हैं।

श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसारकलशमें कहते हैं—

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥१५—३॥

भावार्थ—भेद विज्ञानके बलसे ज्ञानीको गर्म पानीमें अग्निकी उष्णता व पानीकी शीतता भिन्न२ दीखती है। भेदविज्ञानसे ही बनी हुई तरकारीमें लवणका व तरकारीका स्वाद अलग २ स्वादमें आता है। भेदविज्ञानसे ही दीखता है कि यह आत्मा आत्मीक रससे भरा हुआ नित्य चैतन्य धातुकी मूर्ति वीतराग है तथा यह क्रोधादि विकारोंका कर्ता नहीं है। क्रोधादि अलग हैं, आत्मा अलग है।

समयसारकलशमें और भी कहा है—

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ ४६—१० ॥

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक—
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥४७—१०॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमई आत्माका तत्त्व है, वही एक मोक्षमार्ग है। मोक्षके अर्थीको उचित है कि इसी एकका सेवन करे। दर्शनज्ञानचारित्रमय आत्मा ही निश्चयसे एक मोक्षका मार्ग है। जो कोई इस अपने आत्मामें अपनी स्थिति करता है, रात दिन

उसीको ध्याता है, उसीका अनुभव करता है, उसीमें ही निरन्तर विहार करता है, अपने आत्माके सिवाय अन्य आत्माओंको, सर्व पुद्गलोंको, धर्माधर्माकाशकाल चार अमूर्तीक द्रव्योंको व सर्व ही परभावोंको स्पर्श तक नहीं करता है वह ही अवश्य नित्य उदय रूप समयसार या परमात्माका अनुभव करता है। वास्तवमें यह आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है, योगीको यही निरन्तर करना चाहिये।

आत्मा तीन प्रकार है।

तिपयारो अप्पा मुणहि परु अंतरु बहिरप्पु।
पर झायहि अंतरसहिउ बाहिरु चयहि णिभंतु ॥६॥

अन्वयार्थ—(अप्पा तिपयारो मुणहि) आत्माको तीन प्रकार जानो, (परु) परमात्मा (अंतरु) अन्तरात्मा (बहिरप्पु) बहिरात्मा (णिभंतु) भ्रांति या शङ्कारहित होकर (बाहिरु चयहि) बहिरात्मापना छोड़ दे (अंतरसहिउ) अन्तरात्मा होकर (पर झायहि) परमात्माका ध्यान कर।

भावार्थ—द्रव्यदृष्टि या शुद्ध निश्चयनयसे सर्व ही आत्माएं एकसमान शुद्धबुद्ध परमात्मा ज्ञानानन्दमय हैं, कोई भेद नहीं है। द्रव्यका स्वभाव सत् है, सदा रहनेवाला है व सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। हरएक द्रव्य अपने सर्व सामान्य तथा विशेष गुणोंको अपने भीतर सदा बनाए रहता है, उनमें एक भी गुण कम व अधिक नहीं होता इसलिये द्रव्य ध्रौव्य होता है। हरएक गुण परिणमनशील है कूटस्थ नित्य नहीं है। यदि कूटस्थ नित्य हो तो कार्य न कर सके। गुणोंके परिणमनसे जो समय समय हरएक गुणकी अवस्था होती है वह उस गुणकी पर्याय है।

एक गुणमें समय समय होनेवाली ऐसी अनन्त पर्यायें होती हैं। पर्यायें सब नाशवंत हैं। जब एक पर्याय होती है तब पहली पर्यायको नाश करके होती है। पर्यायोंकी अपेक्षा हरसमय द्रव्य उत्पाद व्यय स्वरूप है अर्थात् पुरानी पर्यायको विगाड़ कर नवीन पर्यायको उत्पन्न करता हुआ द्रव्य अपने सर्व गुणोंको लिये हुए बना रहता है। इसलिये द्रव्यका लक्षण 'गुणपर्ययवत् द्रव्यं' गुण पर्यायवान द्रव्य होता है ऐसा किया है।

हरएक द्रव्यमें जितनी पर्यायें सम्भव होसकती हैं उन सबकी शक्ति रहती है, प्रगटता एक समयमें एककी होती है। जैसे मिट्टीकी डलीमें जितने प्रकारके वर्तन, खिलौने, मकान आदि बननेकी शक्ति है, वे सब पर्यायें शक्तिसे हैं, प्रगटता एक समयमें एक पर्याय ही होगी। जैसे मिट्टीसे प्याला बनाया, प्याला तोड़कर मटकेना बनाया, मटकेना तोड़कर एक पुरुष बनाया, पुरुष तोड़कर स्त्री बनाई आदि। इन सब पर्यायोंमें मिट्टी वही है व मिट्टीके सब गुण भी वे ही हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णमय मिट्टी सदा मिलेगी।

द्रव्य जगतमें छः हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, और कालाणु इन चारों द्रव्योंमें एकसमान सदृश स्वभाव पर्यायें ही होती रहती हैं। उनके परके निमित्तसे विभाव पर्यायें नहीं होसक्ती हैं। वे सदा उदासीन पड़े रहते हैं।

सिद्धात्माओंमें भी स्वभावसदृश पर्यायें होती हैं क्योंकि उनके ऊपर किसी पर द्रव्यका प्रभाव नहीं पड़ सक्ता है। वे पूर्ण मुक्त हैं। परंतु संसारी आत्माओंमें कर्मोंका संयोग व उदय होनेके कारण विभाव पर्यायें व अशुद्ध पर्यायें होती हैं। परमाणु जो जघन्य अंश स्निग्ध व रूक्ष गुणका रखता है, किसीसे बन्धता नहीं है, उस परमाणुमें भी स्वभाव पर्यायें होती हैं; जब यही स्निग्ध व रूक्ष

गुणोंके बढ़नेसे दूसरे परमाणुके साथ बन्धयोग्य हो जाता है तब उसमें विभाव पर्यायें होती हैं।

पर्यायें दो प्रकारकी हैं–अर्थ पर्याय व व्यंजन पर्याय। प्रदेश-गुण या आकारके पलटनेको व्यंजन पर्याय व अन्य सर्व गुणोंके परिणमनको अर्थ पर्याय कहते हैं। शुद्ध द्रव्योंमें व्यंजन व अर्थ पर्याय समानरूपसे शुद्ध ही होती हैं। अशुद्धसे अशुद्ध अर्थ पर्याय व आकारकी पलटन रूप अशुद्ध या विभाव व्यंजन पर्याय होती है। संसारी आत्माऐं अशुद्ध हैं तौ भी हरएक आत्मामें अपने सर्व ही गुणोंके शुद्ध या अशुद्ध परिणमनकी शक्तियें हैं। जबतक वे अशुद्ध हैं तबतक अशुद्ध पर्यायें प्रगट होती हैं। शुद्ध होनेपर शुद्ध पर्यायें ही प्रगट होती हैं। शुद्ध आत्माओंमें भी शुद्ध व अशुद्ध पर्यायोंके होनेकी शक्ति है परंतु शुद्ध पर्यायें ही प्रगट होती हैं क्योंकि अशुद्ध पर्यायोंके होनेके लिये पुद्गलका कोई निमित्त नहीं है। एक परमाणुमें सर्व संभवित पर्यायोंके होनेकी शक्ति है वैसे एक आत्मामें निगोदसे लेकर सिद्ध पर्याय तक सर्व पर्यायोंमें होनेकी शक्ति है, यह वस्तुस्वभाव है।

सिद्ध भगवानोंमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा तीनोंकी पर्यायोंके होनेकी शक्ति है। उनमेंसे परमात्मापनेकी शक्ति व्यक्त या प्रगट है। शेष दो शक्तियां अप्रगट हैं। इसी तरह संसारी आत्माओंमें जो बहिरात्मा हैं उनमें बहिरात्माकी पर्यायें तो प्रगट हैं, परन्तु उसी समय अन्तरात्मा व परमात्माकी पर्यायें शक्तिरूपसे अप्रगट हैं। यद्यपि तीनोंकी शक्तियां एक ही साथ हैं।

अन्तरात्मामें अन्तरात्माकी पर्यायें जो प्रगट हैं उसी समय बहिरात्मा व परमात्माकी पर्यायें शक्तिरूपसे अप्रगट हैं। वास्तवमें द्रव्यको शक्तिकी अपेक्षा देखा जावे तो हरएक आत्मामें बहिरात्मा,

अन्तरात्मा व परमात्मा तीनों ही शक्तियां हैं। उनमेंसे किसी एककी प्रगटता रहेगी तब दोकी अप्रगटता रहेगी। जैसे पानीमें गर्म होनेकी, लाल हरे पीले व निर्मल होनेकी व ठंढा रहनेकी आदि शक्तियां हैं। जब परका निमित न होगा तब वह पानी निर्मल ठंढ़ा ही प्रगट होगा। उसी पानीको अग्निका निमित्त मिले तब गर्म होजायगा तब गर्मपनेकी दशा प्रगट होगी, शीतपनेकी अप्रगट रहेगी।

मलका निमित्त मिलने पर मैला, लालरंगका निमित्त मिलनेपर लाल, हरे रंगका निमित्त मिलनेपर हरा होजायगा तब निर्मलपना शक्तिरूपसे रहेगा।

किसी पानीको परका निमित्त न मिले तो वह सदा ही निर्मल व ठंढ़ा ही झलकेगा। परंतु गर्म व मलीन व रंगीन होनेकी शक्तियोंका उस पानीमेंसे अभाव नहीं होजायगा। सिद्ध परमात्माओंमें कर्मोदयका निमित्त न होनेपर वे कभी भी अन्तरात्मा व बहिरात्मा न होंगे, परंतु इनकी शक्तियोंका उनमें अभाव नहीं होगा। अभव्य जीव कभी भी अन्तरात्मा व परमात्मा न होंगे—बहिरात्मा ही बने रहेंगे तौभी उनमें अन्तरात्मा व परमात्माकी शक्तियोंका अभाव नहीं होगा। इसलिये श्रीपूज्यपादस्वामीने समाधिशतकमें कहा है—

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिपु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत्॥ ४॥

भावार्थ—सर्व ही प्राणियोंमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा तीन प्रकारपना है, उनमेंसे बहिरात्मापना छोड़े। अन्तरात्माके उपायसे परमात्मापनेकी सिद्धि करे, यही योगेन्द्राचार्य परमात्मप्रकाशमें कहते हैं—

अप्पा तिविहु मुणेवि वहु मूढउ मेल्लहि भाउ।
मुणि सण्णाणे णाणमउ जो परमप्प सहाउ॥ १२॥

भावार्थ—आत्माको तीन प्रकारका जानकर बहिरात्मस्वरूप भावको शीघ्र ही छोड़े और जो परमात्माका स्वभाव है उसे स्वसंवेदन ज्ञानसे अन्तरात्मा होता हुआ जान। वह स्वभाव केवलज्ञानकर परिपूर्ण है।

मिथ्यादर्शन आदि चौदह गुणस्थान होते हैं. इनकी शक्ति सर्व ही आत्माओंमें है। प्रगटता एक समयमें एक गुणस्थानकी संसारी आत्माओंमें रहेगी। यद्यपि ये सर्व चौदह गुणस्थान संसारी आत्माओंमें होते हैं; सिद्धोंमें कोई गुणस्थान नहीं है तौभी संसारी जीवोंका बहिरात्मा, अन्तरात्मा. परमात्मा तीन अवस्थाओंमें विभाग होसक्ता है। जो अपने आत्माको यथार्थ न जाने न श्रद्धान करे न अनुभवे वह बहिरात्मा है। मिथ्यात्व. सासादन व मिश्र गुणस्थानवाले सब बहिरात्मा हैं। जो अपने आत्माको सच्चा जैसेका तैसा श्रद्धान करे, जाने व अनुभव करे वह अन्तरात्मा है। जहांतक केवलज्ञान नहीं वहां तक चौथे अविरत सम्यक्तसे लेकर ५ देश विरत. ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्मलोभ, ११ उपशांतमोह. १२ क्षीणमोह पर्यंत नौ गुणस्थानवाली सब आत्माएं अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टी हैं। सयोग केवली जिन तेरहवें व अयोगकेवली जिन चौदहवें गुणस्थानवाले अरहंत परमात्मा हैं।

इन दोनों गुणस्थानवालोंको संसारी इसलिये कहा है कि उनके आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय चार अघातीय कर्मोंका उदय है–क्षय नहीं हुआ है। यथार्थमें सिद्ध ही शरीर रहित परमात्मा हैं। अरहंत शरीर सहित परमात्मा हैं इतना ही अन्तर है। प्रयोजन कहनेका यह है कि बहिरात्मापना त्यागने योग्य है। क्योंकि इस दशामें अपने आत्माके स्वरूपका श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र नहीं होता है। उपयोग संसारासक्त मलीन होता है। तथा आत्मज्ञानी होकर अन्तरात्मा

दशामें परमात्माका ध्यान करके अर्थात् अपने ही आत्माको परमात्मा रूप अनुभव करके कर्मोंका क्षय करके परमात्मा होजाना योग्य है। धर्मके साधनमें प्रमाद न करना चाहिये। सार समुच्चयमें कुलभद्राचार्य कहते हैं—

धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातङ्कविनाशनम्।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं जीवानां जायते सदा ॥ ३३ ॥

भावार्थ—दुःख रूपी रोगके विनाशक धर्म रूपी अमृतको सदा पीना चाहिये, जिसके पीनेसे जीवोंको सदा ही परमानन्द प्राप्त होगा।

बहिरात्माका स्वरूप।

मिच्छादंसणमोहियउ परु अप्पा ण मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुण संसारु भमेइ ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(मिच्छादंसणमोहियउ) मिथ्यादर्शनसे मोही जीव (परु अप्पा ण मुणेइ) परमात्माको नहीं जानता है (सो बहिरप्पा) यही बहिरात्मा है (पुण संसारु भमेइ) वह बारबार संसारमें भ्रमण करता है (जिणभणिउ) ऐसा श्रीजिनेन्द्रने कहा है।

भावार्थ—जैसे मदिरा पीकर कोई उन्मत्त होजावे तो वह बेसुध होकर अपनेको भी भूल जाता है, अपना घर भी भूल जाता है, वैसे यह मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे मोही होकर अपने आत्माके स्वरूपको भूले हुए हैं। आपको शरीर रूप ही मान लेता है व कर्मोंके उदयसे जो जो अवस्थाएं होती हैं उनको अपना स्वभाव मान लेता है।

आत्माका यथार्थ स्वभाव सिद्ध परमात्माके समान परम शुद्ध,

निर्विकार, निरञ्जन, कृतकृत्य, इच्छारहित, शरीररहित, वचनरहित, मनके संकल्प विकल्परहित, अमूर्तीक, अविनाशी है। इस बातको जो नहीं समझता है और जो कुछ भी आत्माका निज स्वभाव नहीं है उसको अपना स्वभाव मान लेता है, वह आत्मासे बाहरकी वस्तुओंको आत्माकी मानता है। इसलिये उसको बहिरात्मा कहते हैं। अपने आत्माकी सत्ता सर्व आत्माओंसे जुदी है, सर्व पुद्गलोंसे जुदी है, धर्म, अधर्म, आकाश, कालसे जुदी है, इस बातको बहिरात्मा नहीं समझता। वह इंद्रिय सुखको ही सच्चा सुख मानता है। उसके जीवनका ध्येय विषयभोग व मानपुष्टि रहता है। वह धर्म भी इसी हेतुसे पालन करता है। यदि कुछ शुभ काम करता है तो मैं दानका, पूजाका, परोपकारका, श्रावकके व्रतोंका, मुनिके व्रतोंका कर्ता हूं। यदि कुछ अशुभ काम करता है तो मैं हिंसा कर्ता, असत्य बोलनेकी चतुराईका कर्ता, ठगीकर्ता, व्यभिचारकर्ता व हानिकर्ता प्रवीण पुरुष हूं, इस तरहके अहंकारसे मूर्छित रहता है। आत्माका स्वभाव तो न शुभ काम करनेका है, न अशुभ काम करनेका है। आत्मा स्वभावसे परका कर्ता नहीं है। यह बहिरात्मा अपनेको परका कर्ता मान लेता है।

इसी तरह पुण्यके उदयसे सुख मिलने पर मैं सुखका व पापके उदयसे दुःख होनेपर मैं दुःखका भोगनेवाला हूं। मैंने संपदा भोगी, राज्य भोगा, पंचेन्द्रियके भोग भोगे, इस तरह परका भोक्ता मान बैठता हूं। आत्मा स्वभावसे अपने ज्ञानानन्दका भोक्ता है, परका भोक्ता नहीं है, इस बातको बहिरात्मा नहीं समझता है।

मन, वचन, काय, पुद्गलकृत विकार व कर्मोंके उदयसे उनकी क्रियाएं होती हैं। यह बहिरात्मा इन तीनोंको व इनकी क्रियाओंको अपनी क्रिया मान लेता है। अनेक शास्त्रोंको पढ़कर मैं पंडित, इस

अभिमानमें चूर्ण होकर परका तिरस्कार करके प्रसन्न होनेवाला बहिरात्मा होता है। वह यह घमंड करता है कि मैं अमुक वंशका हूं, मैं ऊंचा हूं, मैं बड़ा रूपवान हूं, मैं बड़ा बलवान हूं, मैं बड़ा धनवान हूं, मैं बड़ा विद्वान हूं, मैं बड़ा तपस्वी हूं, मैं बड़ा अधिकार रखता हूं, मैं चाहे जिसका बिगाड़ कर सक्ता हूं. मेरी कृपासे सैकड़ों आदमी पलते हैं, इस अहंकारसे बहिरात्मा चूर रहता है।

बहिरात्माकी दृष्टि अन्धी होती है. वह जिनेन्द्रकी मूर्तिमें स्वानुभवरूप जिनेन्द्रकी आत्माको नहीं पहचानती है। छत्रचमरादि विभूति सहित शरीरकी रचनाको ही अरहंत मान लेता है। गुरुकी पूजा भक्ति होती है. गुरु बड़े चतुर वक्ता हैं, गुरुका शरीर प्रभावशाली है, गुरु बड़े विद्वान हैं, अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता हैं, इन गुरुमहिमाकी तरफ ध्यान देता है। गुरु आत्मज्ञानी हैं या नहीं, इस भीतरी तत्वपर बहिरात्मा ध्यान नहीं देता है।

शास्त्रमें रचना अच्छी है. कथन मनोहर है, न्यायकी युक्तिसे अकाट्य है, अनेक रसोंसे पूर्ण है, ऐसा समझता है, वह शास्त्रके कथनमें अध्यात्मरसको नहीं खोजता है न उसका पान करता है। बहिरात्माका जीवन विषय तथा कषायको पालनेमें व्यतीत होता है। वह मरकरके भी विषयसुखकी सामग्रीको ही चाहता है। इसी भावनाको लिये हुए भारी तपस्या साधता है।

मैं शुद्ध होकर सदा आत्मीक सुख भोग सकूं, इस भावनासे शून्य होता है। बहिरात्माको मिथ्यात्व कर्मके उदयवश सच्चा तत्व नहीं दिखता है। वह भिन्नर दर्शनोंके शास्त्रोंको समझकर यथार्थ जिन भाषित तत्वोंपर श्रद्धा नहीं लाता है। लोकमें छः द्रव्योंकी सत्ता होते हुए भी केवल एक ब्रह्ममय जगत है। एक परमात्मा ईश्वरके सिवाय कुछ नही है, यह सब उसीकी रचना है, उसीका रूपान्तर है, उसीकी

माया है व ईश्वर ही जगतका कर्ता है व जीवोंको सुख दुःखका फल देता है, ऐसा माननेवाला है।

द्रव्यका स्वभाव ध्रुव होकर परिणमनशील है। यदि ऐसा न हो तो कोई जगतमें काम ही न हो ऐसा न मानकर या तो वस्तुको सर्वथा नित्य या अपरिणमनशील मानता है या सर्वथा अनित्य या परिणमनशील मान लेता है। कभी बहिरात्मा हिंसाके कार्योंमें धर्म मानकर पशुबलि करके व रात्रिभोजन करके व नदियोंमें स्नान करके धर्म मान लेता है। वीतरागताकी पूजा न करके शृंगार-सहित देवताओंकी व शस्त्रादि सहित देवताओंकी व संसारासक्त देवताओंकी पूजा करनेसे पुण्यबन्ध मान लेता है व मोक्ष होना मान लेता है। किन्ही बहिरात्माओंको आत्माकी पृथक् सत्तापर ही विश्वास नहीं होता है। वह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुसे ही आत्माकी उत्पत्ति मान लेता है।

कोई बहिरात्मा आत्माको सदा ही रागी, द्वेषी या अल्पज्ञ रहना ही मान लेता है। वह कभी वीतराग सर्वज्ञ हो सकेगा ऐसा नहीं मानता है। यह बहिरात्मा मूढ़ होता हुआ मिथ्याश्रद्धान, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रसे मिथ्यामार्गी होता हुआ संसारमें अनादिकालसे भटकता आरहा है व भटकता रहेगा। जिस मानवको सागर पार करनेवाली नौका न मिले वह सागरमें ही गोते खाते २ डूबनेवाला है। बहिरात्माके समान कोई अज्ञानी व पापी नहीं है। जिसको सीधा मार्ग न मिले, उल्टे रास्तेपर चले वह सच्चे ध्येयपर किसतरह पहुंच सक्ता है ?

श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती गोम्मटसार जीवकांडमें कहते हैं—

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ १७ ॥

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥ १८ ॥

भावार्थ—मिथ्यात्व कर्मके फलको भोगनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानी होता है। उसे उसी तरह धर्म नहीं रुचता है जिस तरह ज्वरसे पीड़ित मानवको मिष्ट रस नहीं सुहाता है। ऐसा मिथ्यादृष्टी जीव जिनेन्द्र कथित तत्वोंकी श्रद्धा नहीं लाता है। अयथार्थ तत्वोंकी श्रद्धा परके उपदेशसे या विना उपदेशके करता रहता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य दंसणपाहुडमें कहते हैं—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥ ३ ॥

सम्मत्तरयणभट्टा जाणंता वहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥ ४ ॥

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं।
ण लहंति वोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिनका श्रद्धान भ्रष्ट है वे ही भ्रष्ट हैं क्योंकि दर्शनभ्रष्ट वहिरात्माको कभी निर्वाणका लाभ नहीं होगा। यदि कोई चारित्रभ्रष्ट हैं परंतु वहिरात्मा नहीं हैं तो वे सिद्ध होसकेंगे। परन्तु जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे कभी मोक्ष नहीं पासकेंगे। जिनको सम्यग्दर्शनरूपी रत्नकी प्राप्ति नहीं है, वे नानाप्रकारके शास्त्रोंको जानते हैं, तौभी रत्नत्रयकी आराधनाके विना वारवार संसारमें भ्रमण ही करेंगे। जो कोई सम्यग्दर्शनसे शून्य वहिरात्मा हैं वे करोड़ों वर्षतक भयानक कठिन तपको आचरण करते हुए भी रत्नत्रयके लाभको या आत्मानुभवको नहीं पासकते हैं।

श्री नागसेन मुनि तत्वानुशासनमें कहते हैं—

शश्वदनात्मीयेपु स्वतनुप्रमुखेसु कर्मजनितेपु ।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः ॥ १४ ॥
ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः ।
तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः ॥ १५ ॥
तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्णन् मुह्यति द्वेष्टि रज्यते ।
ततो बंधो भ्रमत्येवं मोहव्यूहगतः पुमान् ॥ १९ ॥

भावार्थ—वहिरात्मा मिथ्यादृष्टी जीव ममकार व अहंकारके दोषोंसे लिप्त रहता है। शरीर, धन, परिवार, देश–ग्रामादि पदार्थ जो सदा ही अपने आत्मासे जुदे हैं व जिनका संयोग कर्मके उदयसे हुआ हैं उनको अपना मानना ममकार है। जैसे यह शरीर मेरा है। जो कर्मके उदयसे होनेवाले रागादि भाव निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न हैं उन रूप ही अपनेको रागी, द्वेषी आदि मानना अहंकार है। जैसे मैं राजा हूं, यह प्राणी इन्द्रियोंसे पदार्थोंको जानकर उनमें मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है, तब कर्मोंको बांध लेता है, इसतरह यह वहिरात्मा मोहकी सेनामें प्राप्त हो, संसारमें भ्रमण करता रहता है।

अन्तरात्माका स्वरूप।

जो परियाणइ अप्प परु जो परभाव चएइ ।
सो पंडिउ अप्पा मुणहि सो संसार मुएइ ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(जो अप्प परु परियाणइ) जो कोई आत्माको और परको अर्थात् आपसे भिन्न पदार्थोंको भलेप्रकार पहचानता है

(जो परभाव चएइ) तथा जो अपने आत्माके स्वभावको छोड़कर अन्य सब भावोंका त्याग कर देता है (सो पंडिउ) वही पंडित भेदविज्ञानी अन्तरात्मा है वह (अप्पा मुणहिं) अपने आपका अनुभव करता है (सो संसार मुएइ) वही संसारसे छूट जाता है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टीको अन्तरात्मा कहते हैं। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी पहले गुणस्थानसे चढ़कर जब चौथेमें या एकदम पांचवेंमें या सातवें गुणस्थानमें आता है तब सम्यग्दृष्टी अन्तरात्मा होजाता है। मिथ्यात्वकी भूमिको लांघकर सम्यक्तकी भूमिपर आनेका उपाय यह है कि सैनी पंचेन्द्रिय जीव पांच लब्धियोंकी प्राप्ति करे।

१–क्षयोपशम—लब्धिमें ऐसी योग्यता पावे जो बुद्धि तत्वोंके समझनेयोग्य हो व जो अपने पापकर्मके उदयको समय २ अनन्त-गुणा कम करता जावे अर्थात् जो दुःखोंकी सन्तानको घटा रहा हो, साताको पा रहा हो, आकुलित चित्तधारी जीव तत्वकी तरफ उपयोग नहीं लगा सक्ता है।

२–विशुद्धिलब्धि—सुशिक्षा व सत् संगतिके प्रतापसे भावोंमें ऐसी कषायकी मंदता हो कि जिससे शुभ व नीतिमय कार्योंकी तरफ चलनेका प्रेम व उत्साह हो व अशुभ व अप्रीतिसे परिणाम सकता हो। इस योग्यताकी प्राप्तिको विशुद्धि लब्धि कहते हैं।

३–देशनालब्धि—अपने हितकी खोजमें प्रेमी होकर श्रीगुरुसे व शास्त्रोंसे धर्मोपदेश ग्रहण करे, मनन करे, धारणामें रखे। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्वोंका स्वरूप व्यवहारनयसे और निश्चयनयसे ठीक २ जाने। व्यवहारनयसे जाने कि अजीव, आस्रव, बन्ध तो त्यागनेयोग्य हैं व जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये चार तत्व ग्रहण करनेयोग्य हैं। निश्चयनयसे जाने कि इन सात तत्वोंमें दो ही द्रव्य हैं–जीव व कर्मपुद्गल। कर्मपुद्गल

त्यागनेयोग्य है व अपना ही शुद्ध जीव द्रव्य ग्रहण करनेयोग्य है। तथा सच्चे देव, शास्त्र, गुरुका लक्षण जानकर उनपर विश्वास लावे। इसतरह आत्माको व परपदार्थोंको ठीक २ समझे। शुद्ध निश्चयनयसे यह भलेप्रकार जान ले कि मैं एक आत्मा द्रव्य हूं, सिद्धके समान हूं, व अपने ही स्वभावमें परिणमन करनेवाला हूं। रागादि भावोंका कर्ता नहीं हूं व सांसारिक सुख व दुःखका भोगनेवाला हूं। मैं केवल अपने ही शुद्ध भावका कर्ता व शुद्ध आत्मीक आनंदका भोक्ता हूं, मैं आठ कर्मोंमें शरीरादिसे व अन्य सर्व आत्मादि द्रव्योंसे निराला हूं। तथा अपने गुणोंसे अभेद हूं। वह अपने आत्माको ऐसा समझे जैसा श्री कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारमें कहा है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबुद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो कोई अपने आत्माको पाँच तरहसे एक अखंड शुद्ध द्रव्य समझे।

(१) यह अबद्धस्पृष्ट है-न तो यह कर्मोंसे बंधा है और न यह स्पर्शित है।

(२) यह अनन्य है-जैसे कमल जलसे निर्लेप है, वह सदा एक आत्मा ही है, कभी नर नारक देव तिर्यंच नहीं है। जैसे मिट्टी अपने बने बर्तनोंमें मिट्टी ही रहती है।

(३) यह नियत है-निश्चल है। जैसे पवनके झकोरेके विना समुद्र निश्चल रहता है वैसे यह आत्मा कर्मके उदयके विना निश्चल है।

(४) यह अविशेष या सामान्य है-जैसे सुवर्ण अपने पीत, भारी, चिकने आदि गुणोंसे अभेद व सामान्य है वैसे यह आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि अपने ही गुणोंसे अभेद या सामान्य है, एक रूप है।

(५) यह असंयुक्त है—जैसे पानी स्वभावसे गर्म नहीं है-ठंडा है वैसे यह आत्मा स्वभावसे परम वीतराग है—रागी, द्वेषी, मोही, नहीं है ।

शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि परसे भिन्न आत्माको देखनेकी होती है । जैसे असलमें मैले पानीके भीतर मैलसे पानी जुदा है, पानी निर्मल है, वैसे ही यह अपना आत्मा शरीरसे, आठ कर्मोंसे व रागादिसे सर्व परभावोंसे जुदा है । इस तरह आत्माको व अनात्माको ठीक २ जानकर आत्माका प्रेमी होजावे व सर्व इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण आदि लौकिक पदोंसे व संसार देह भोगोंसे उदास होकर उनका मोह छोड़दे और अपने आत्माका मनन करे । आत्माके मननके लिये नित्य चार काम करे—

(१) अरहंत सिद्ध परमात्माकी भक्ति पूजा करे, (२) आचार्य उपाध्याय साधु तीन प्रकारके गुरुओंकी सेवा करके तत्वज्ञानको ग्रहण करे, (३) तत्व प्रदर्शक ग्रन्थोंका अभ्यास करे, (४) एकांतमें बैठकर सवेरे सांझ कुछ देर सामायिक करे व भेदविज्ञानसे अपने व परकी आत्माओंको एक समान शुद्ध विचारे । रागद्वेषकी विषमता मिटावे ।

इसतरह मनन करते हुए कर्मोंकी स्थिति घटते घटते अंतः कोड़ाकोड़ी सागर मात्र रह जाती है तब चौथी प्रायोग्यलब्धि एक अन्तर्मुहूर्तके लिये होती है तब चौतीस बन्धापसरण होते हैं । हरएक बन्धापसरणमें सातसौ आठसौ सागर कर्मोंकी स्थिति घटती है । फिर जब सम्यक्तके लाभमें एक अन्तर्मुहूर्त बाकी रहता है तब **करणलब्धिको** पाता है तब परिणाम समय समय अनन्तगुण अधिक शुद्ध होते जाते हैं । जिन परिणामोंके प्रतापसे सम्यग्दर्शनके रोकनेवाले अनन्तानुबन्धी चार कपाय व मिथ्यात्व कर्मका अवश्य

उपशम हो जावे उन परिणामोंकी प्राप्तिको करणलब्धि कहते हैं। एक अन्तर्मुहूर्तमें यह बहिरात्मा चौथे गुणस्थानमें आकर सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हो जाता है।

अन्तरात्माको पंडित कहते हैं, क्योंकि उसको भेदविज्ञानकी पंडा या बुद्धि प्राप्त होजाती है। इसको यह शक्ति होजाती है कि जब चाहे तब अपने आत्माके शुद्ध स्वभावको ध्यानमें लेकर उसका अनुभव कर सके। यह निःशंक होकर तत्वज्ञानका मनन करता रहता है। चारित्रमोहनीयके उदयसे गृहस्थ योग्य कार्योंको भले-प्रकार करता है तौभी उनमें लिप्त नहीं होता है। उन सबको नाटक जानके करता है। भीतरसे ज्ञाताद्रष्टा रहता है। भावना यह रहती कि कब कर्मका उदय हटे कि मैं केवल एक वीतराग भावका ही रमण करता रहूं। ऐसा अन्तरात्मा चार लक्षणोंसे युक्त होता है-

१-प्रशम-शांतभाव-वह विचारशील होकर हरएक बातपर कारण कार्यका मनन करता है. यकायक क्रोधी नहीं होजाता है। २ संवेग-वह धर्मका प्रेमी होता है व संसार शरीर व भोगोंसे वैरागी होता है। ३ अनुकम्पा-वह प्राणी मात्रपर कृपालु या दयावान होता है। ४ आस्तिक्य-उसे इसलोक व परलोकमें श्रद्धा होती है। परमात्मप्रकाशमें कहा है—

देह-विभिण्णउ णाणमउ, जो परमप्पु णिएइ।
परमसमाहि-परिट्ठियउ, पंडिउ सो जि हवेइ॥ १४॥

भावार्थ—जो कोई अपनी देहसे भिन्न अपने आत्माको ज्ञान-मई परमात्मारूप देखता है व परम समाधिमें स्थिर होकर ध्यान करता है, वही पंडित अन्तरात्मा है।

दंसणपाहुडमें कहा है—

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ १९ ॥
जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥ २० ॥

भावार्थ—जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल ये छः द्रव्य हैं। कालको छोड़कर पांच अस्तिकाय हैं। जीवादि सात तत्व हैं। पुण्य पाप मिलाकर नौ पदार्थ हैं। उन सबका जो श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टी जानना योग्य है।

जिनेंद्रने कहा है कि जीवादिका श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त है व अपने ही आत्माका यथार्थ श्रद्धान निश्चय सम्यक्त है।

समयसार कलशमें श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥५—२॥

भावार्थ—वर्णादि व रागादि सर्व भाव इस आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं। इसलिये जो कोई निश्चयतत्वकी दृष्टिसे अपने भीतर देखता है उसे ये सब रागादि भाव नहीं दिखते हैं, केवल एक परमात्मा ही दिखता है।

सारसमुच्चयमें कहा है—

पण्डितोऽसौ विनीतोऽसौ धर्मज्ञः प्रियदर्शनः।
यः सदाचारसम्पन्नः सम्यक्त्वदृढमानसः ॥ ४२ ॥

भावार्थ—जो कोई सम्यग्दर्शनमें मजबूत है व सदाचारी है वही पंडित है, वही विनयवान है, वही धर्मात्मा है, उसीका दर्शन प्रिय है।

परमात्माका स्वरूप।

णिम्मलु णिक्कलु सुद्ध जिणु विण्हु बुद्धु सिव संतु।
सो परमप्पा जिणभणिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(णिम्मलु) जो कर्ममल व रागादि मल रहित है (णिक्कलु) जो निष्कल अर्थात् शरीर रहित है (सुद्ध) जो शुद्ध व अभेद एक है (जिणु) जिसने आत्माके सर्व शत्रुओंको जीत लिया है (विण्हु) जो विष्णु है अर्थात् ज्ञानकी अपेक्षा सर्व लोका-लोक व्यापी है-सर्वका ज्ञाता है (बुद्धु) जो बुद्ध है अर्थात् स्वपर तत्वको समझनेवाला है (सिव) जो शिव है-परम कल्याणकारी है (संतु) जो परम शांत व वीतराग हैं (सो परमप्पा) वही परमात्मा है (जिणभणिउ) ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है (एहउ णिभंतु जाणि) इस बातको शंका रहित जान।

भावार्थ—परमात्मा उत्कृष्ट व परम पवित्र आत्माको कहते हैं जो केवल एक आत्मा ही है उसके साथ किसी भी पाप पुण्य रूपी कर्मका संयोग नहीं है न वह किसी तरहका कपायभाव, राग, द्वेष, मोह रखता है। उसमें सांसारिक प्राणियोंमें पाए जानेवाले दोष नहीं हैं। संसारी प्राणी इच्छा व तृष्णाके वशीभूत होकर मनमे किन्ही कामोंके करनेका संकल्प या विचार करते हैं, वचनोंसे आज्ञा देते हैं, कायसे उद्यम वा आरंभ करते हैं। काम सिद्ध होनेपर सन्तोपी व न सिद्ध होनेपर विपाद करते हैं, किसीपर राजी होते हैं, किसीपर नाराज होते हैं। परमात्माके भीतर मोहका लेश मात्र भी सम्बन्ध नहीं हैं, न मन, वचन, काय हैं इसलिये कोई प्रकारकी इच्छा या कोई प्रकारका प्रयत्न या कोई राग, द्वेष, मोह या विकार या सन्तोष या असन्तोष कुछ भी सम्भव नहीं है। इसीलिये परमात्मामें न तो

जगतके करनेका, बनाने व विगाड़नेका कोई आरोप किया जा सक्ता है, न सुखदु ख कर्ममल भुगतानेका आरोप किया जा सक्ता है। वह संसारके प्रपंचजालमें नहीं पड़ सक्ता है। वह परम कृतकृत्य है।

जगत अनादि है—कर्मकी जरूरत नहीं। काम इस जगतमें या तो स्वभावसे होजाते हैं जैसे पानीका भाफ बनना, बादल बनना, पानी बरसना, नदीका बहना, मिट्टीको लेजाना, मिट्टीका जमकर भूमि बन जाना, आदि२। किन्हीं कामोंके करनेमें इच्छावान संसारी जीव निमित्त हैं। खेती, कपड़ा, बर्तन, आदि; मनुष्य व घोसले आदि पक्षी इच्छासे बनाते हैं, इस तरह जगतका काम चल रहा है।

पापपुण्यका फल भी स्वयं हो जाता है। कार्मण शरीरमें बन्धा हुआ कर्म जब पकता है तब उसका फल प्रगट होता है। जैसे क्रोध, मान, माया या लोभ व कामभावका होजाना या नित्य ग्रहण किया हुआ भोजन पानी हवाका स्वयं रस, रुधिर, अस्थि, चरबी, मांसादिमें बन जाना या रोगोंका होजाना, शरीरमें बल आजाना, विष खानेसे मरण होजाना।

यदि परमात्मा इस हिसाबको रखे तो उसे बहुत चिन्ता करनी पड़े। तथा यदि उसे जगतके प्राणियोंपर करुणा होतो वह सर्वशक्तिमान होनेसे प्राणियोंके भाव ही बदल देवे जिससे वे पापकर्म न करें। जो फल देसक्ता है—दंड देसक्ता है वह अपने आधीनोंको बुरे कामोंसे रोक भी सक्ता है। परमातमा सदा स्वरूपमें मगन परमानन्दका अमृत पान करते रहते हैं, उनसे कोई फल देनेका विकार या उद्योग संभव नहीं है। जब परमातमा किसीपर प्रसन्न होकर सुख नहीं देता है तब परमात्माकी स्तुति, भक्ति व पूजा करनेका क्या प्रयोजन है?

इसका समाधान यह है कि वह पवित्र है, शुद्ध गुणोंका धारी है, उसके नाम स्मरणसे, गुण स्मरणसे; पूजा भक्ति करनेसे; भक्त-

जनोंके परिणाम निर्मल होजाते हैं, राग द्वेषके मैलसे रहित होजाते हैं, भावोंकी शुद्धिसे पाप स्वयं कट जाते हैं। शुभोपयोगसे पुण्य स्वयं बंध जाता है। जैसे जड़ शास्त्रोंके पढ़ने व सुननेसे परिणामोंमें ज्ञान व वैराग्य आजाता है वैसे परमात्माकी पूजा भक्तिसे परिणामोंमे शुद्ध आत्माका ज्ञान व संसारसे वैराग्य छाजाता है। परमात्मा उदासीन निमित्त है, प्रेरक निमित्त नहीं है। हम सब उनके आलंबनसे अपना भला कर लेते हैं। परमात्मा किसीको मुक्ति भी नहीं देते। हम तो परमात्माकी भक्तिके द्वारा जब अद्वैत एक निश्चल अपने ही आत्मामें स्थिर होकर परम समाधिका अभ्यास करेंगे तब ही कर्मोंसे रहित परमात्मा होंगे। इस कारणसे परमात्मा निर्मल है।

परमात्माके साथ तैजस, कार्मण, आहारक, वैक्रियिक या औदारिक किसी शरीरका सम्बंध नहीं होता है तथापि वह अमूर्तीक ज्ञानमय आकारको धरनेवाला होता है। जिस शरीरसे छूटकर परमात्मा होता है उस शरीरमें जैसा ध्यानाकार था वैसा ही आकार मोक्ष होने पर बना रहता है। आकार विना कोई वस्तु नहीं होसक्ती है। अमूर्तीक द्रव्योंका अमूर्तीक व मूर्तीक पुद्गल रचित द्रव्योंका मूर्तीक आकार होता है।

परमात्मा शुद्ध है, उसमें कर्ता कर्म आदिके कारक नहीं हैं तथा वह अपने अनंत गुणपर्यायोंका अखण्ड अमिट एक समुदाय है जिसमेंसे कोई गुण छूट नहीं सक्ता है न कोई नवीन गुण प्रवेश कर सक्ता है। उसी परमात्माको जिनेन्द्र कहते हैं। क्योंकि जगतमें कोई शक्ति नहीं है कि जो उसको जीत सके व उसे पुनः संसारी या विकारी बना सके। वह सदा विजयशील रहता है। विना कारणके रागद्वेषमें नहीं फंसता है; न पाप पुण्यको बांधता है।

परमात्माका पद किसी कर्मका फल नहीं है। किंतु स्वाभाविक आत्माका पद है। इसलिये वह कभी विभाव रूप नहीं होसक्ता है। वही परमात्मा सच्चा विष्णु है, क्योंकि वह सर्वज्ञ होनेसे उसके ज्ञानमें सर्व द्रव्योंके गुणपर्याय एकसाथ विराजमान हैं। इसलिये वह सर्वव्यापी विष्णु है, वही सच्चा बुद्ध है, क्योंकि ज्ञाताद्रष्टा है व सर्व अज्ञानसे रहित है। वही सच्चा शिव है, मंगलरूप हैं। उसके भजनसे हमारा कल्याण होता है। तथा वह परमात्मा परम शांत है, परम वीतराग है।

निश्चयसे सिद्ध परमात्मा ही सच्चे परमात्मा हैं। अरहंतकी आत्मामें भी परमात्माके गुण प्रगट हैं। परंतु वे चार अघातीय कर्म-सहित हैं, शरीर रहित हैं। परंतु शीघ्र ही सिद्ध होंगे। इसलिये उनको भी परमात्मा कहते हैं। सर्वज्ञ व वीतराग दोनों ही अरहंत व सिद्ध परमात्मा हैं।

परमात्मा हमारे लिये आदर्श हैं, हमें उनको पहचानकर उनके समान अपनेको बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये। परमात्मप्रकाशमें कहा है—

अप्पा लद्धउ णाणमउ, कम्मविमुक्कें जेण ।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु, सो परु मुणहि मणेण ॥१५॥
णिच्चु णिरंजणु णाणमउ, परमाणंदसहाउ ।
जो एहउ सो संतु सिउ, तासु मुणिज्जहि भाउ ॥ १७ ॥
वेयहिं सत्थहिं इंदियहिं, जो जिय मुणहु ण जाइ ।
णिम्मल-झाणहं जो विसउ, सो परमप्पु अणाइ ॥ २३ ॥

भावार्थ—जिसने सर्व कर्मोंको दूर करके व सर्व देहादि पर-द्रव्योंका संयोग हटाकर अपने ज्ञानमय आत्माको पाया है वही परमात्मा है, उसको शुद्ध मनसे जान। वह परमात्मा नित्य है, निरं-

जन या वीतराग है, ज्ञानमय है, परमानंद स्वभावका धारी है। वही शिव है, शांत है। उसके शुद्ध भावको पहचान, जिसको वेदोंके द्वारा, शास्त्रोंके द्वारा, इन्द्रियोंके द्वारा जाना नहीं जासकता। मात्र निर्मल ध्यानमें वह झलकता है। वही अनादि, अनन्त, अविनाशी, शुद्ध आत्मा परमात्मा है। समाधिशतकमें कहा है—

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः॥ ६॥

भावार्थ—परमात्मा कर्ममलरहित हैं, केवल स्वाधीन हैं, साध्यको सिद्ध करके सिद्ध हैं, सब द्रव्योंकी सत्तामें निराली सत्ताका धारी हैं, वही अनन्तवीर्य धारी प्रभु हैं, वही अविनाशी हैं, परमपदमें रहनेवाला परमेष्टी हैं, वही श्रेष्ट आत्मा हैं, वही शुद्ध गुणरूपी ऐश्वर्यका धारी ईश्वर हैं, वही परम विजयी जिनेन्द्र हैं।

श्री समन्तभद्राचार्य स्वयंभूस्तोत्रमें कहते हैं—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥५७॥
दुरितमलकलङ्कमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन्।
अभवदभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशान्तये॥११५॥

भावार्थ—परमात्मा वीतराग हैं, हमारी पूजासे प्रसन्न नहीं होते। परमात्मा वैर रहित हैं, हमारी निन्दासे अप्रसन्न नहीं होते। तथापि उनके पवित्र गुणोंका स्मरण मनको पापके मैलसे साफ कर देता है। अनुपम योगाभ्यासमें जिसने आठ कर्मके कठिन कलङ्कको जला डाला है व जो मोक्षके अतीन्द्रिय सुखका भोगनेवाला है वही परमात्मा है। मेरे संसारको शांत करनेके लिये वह उदासीन सहायक हैं। उसके ध्यानसे मैं संसारका क्षय कर सकूंगा।

बहिरात्मा परको आप मानता है।

देहादिउ जे पर कहिया ते अप्पाणु मुणेइ।
सोबहिरप्पा जिणभणिउ पुणु संसार भमेइ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(देहादिउ जे पर कहिया) शरीर आदि जिनको आत्मासे भिन्न कहा गया है (ते अप्पाणु मुणेइ) तिन रूप ही अपनेको मानता है (सो बहिरप्पा) वह बहिरात्मा है (जिणभणिउ) ऐसा जिनेन्द्रने कहा है (पुणु संसार भमेइ) वह बारबार संसारमें भ्रमण करता रहता है।

भावार्थ—आत्मा वास्तवमें एक अखंड अमूर्तीक ज्ञानस्वरूपी द्रव्य है। इसका स्वभाव परम शुद्ध है। निर्मल जलके समान वह परम वीतराग व शांत व परमानंदमय है। जैसा सिद्ध परमात्मा सिद्धक्षेत्रमें एकाकी निरजन शुद्ध द्रव्य है वैसा ही यह अपना आत्मा शरीरके भीतर है। अपने आत्मामें और परमात्मामें सत्ताकी अपेक्षा अर्थात् प्रदेशोंकी या आकारकी अपेक्षा बिलकुल भिन्नता है परंतु गुणोंकी अपेक्षा बिलकुल एकता है। जितने गुण एक आत्मामें हैं उतने गुण दूसरे आत्मामें हैं। प्रदेशोंकी गणना भी समान है। हरएक असंख्यात प्रदेश धारी है।

इस तरहका यह आत्मा द्रव्य है। जो कोई ऐसा नहीं मानता किन्तु आत्माके साथ आठ कर्मोंका संयोग सम्बंध होनेसे उन कर्मोंके उदय या फलसे जो जो अशुद्ध अवस्थाएं आत्माकी झलकती हैं उनको आत्माका स्वभाव जो मान लेता है वह बहिरात्मा है।

जैसे पानीमें भिन्न २ प्रकारका रंग मिला देनेसे पानी लाल, हरा, पीला, काला, नीला दिखता है। इस रंगीन पानीको कोई असली पानी मानले तो उसको मूढ़ व अज्ञानी कहेंगे तथा वह

पानीके स्थानमें रंगीन पानी पीकर पानीका असली स्वाद नहीं पा सकेगा, उसीतरह जो कर्मोंके उदयसे होनेवाली विकारी अवस्थाओंको आत्मा मान लेगा और उस आत्माका ग्रहण करके उसका ध्यान करेगा उस अज्ञानीको असली आत्माके ज्ञानानन्द स्वभावका स्वाद नहीं मिलेगा, वह विपरीत स्वादको ही आत्माका स्वाद मान लेगा। ज्ञानावरण, दर्शनावरण. अन्तरायके क्षयोपशमसे जो अल्प व अशुद्ध ज्ञानदर्शनवीर्य संसारी जीवोंमें प्रगट होता है वह इन ही तीन प्रकारके कर्मोंके उदयसे मलीन हैं।

जहां सर्वघाती कर्मस्पर्द्धकोंका उदयाभाव लक्षण क्षय हो, अर्थात् विना फल दिये झड़ना हो तथा आगामी उदय आनेवालोंका सत्तारूप उपशम हो तथा देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय हो उसको क्षयोपशम कहते हैं। इस मलीन अल्प ज्ञान दर्शन वीर्यको पूर्ण ज्ञान-दर्शन वीर्य मानना मिथ्या है। इसीतरह मोहनीय कर्मके उदयसे क्रोध, मान, माया, लोभ भाव या हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा व स्त्रीवेद, पुंवेद व नपुंसकवेद भाव होता है। कभी लोभका तीव्र उदय होता है तब उसको अशुभ राग कहते हैं, कभी लोभका मन्द उदय होता है तब उसे शुभ राग कहते हैं।

मान, माया, क्रोधके तीव्र उदयको भी अशुभ भाव व मन्द उदयको जो शुभ रागका सहकारी हो, शुभ भाव कहते हैं। पूजा, भक्ति, दान, परोपकार, सेवा, क्षमा, नम्रता, सरलता, सत्य, सन्तोष, संयम, उपवासादि तप, आहार, औषधि, अभय व विद्यादान; अल्प ममत्व व ब्रह्मचर्य पालन आदि भावोंको शुभ भाव या शुभोपयोग कहते हैं। ऐसे भावोंसे पुण्यकर्मका बन्ध होता है।

हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, मूर्छा, जूआखेलना, मांसाहार, मदिरापान, शिकार, वेश्यासेवन, परस्त्रीसेवन, परका अपकार, दुष्ट

व्यवहार, इंद्रियोंकी लोलुपता, तीव्र अहंकार, कपटसे ठगना, तीव्र क्रोध, तीव्र लोभ, तीव्र कामभाव आदि भावोंको अशुभ भाव या अशुभोपयोग कहते हैं। इन अशुभ भावोंसे पापकर्मका बंध होता है। इन मोहनीय कर्मजनित मलीन व अशुचि, आकुलताकारी, दुःखप्रद, शांतिविघातक भावोंको आत्माका भाव मानलेना मिथ्या है।

अघातीय कर्मोंमें आयुकर्मके उदयसे नरक, तिर्यंच, मानव, देव चार प्रकार शरीरोंमें आत्मा कैद रहता है। इस कैदखानेको आत्माका घर मानना मिथ्या है। नामकर्मके उदयसे शरीरकी सुन्दर, असुन्दर, निरोगी, सरोगी, बलिष्ट, निर्बल आदि अनेक अवस्थाएं होती हैं उनको आत्मा मानना मिथ्या है। गोत्रकर्मके उदयसे नीच व ऊंच कुलवाला कहलाता है। उन कुलोंको आत्मा मानना मिथ्या है। वेदनीयकर्मके उदयसे साताकारी व असाताकारी शरीरकी अवस्था होती है या धन, कुटुम्ब, राज्य, भूमि, वाहन, घर आदि बाहरी अच्छे व बुरे, चेतन व अचेतन पदार्थोंका सम्बन्ध होता है, उनको अपना मानना मिथ्या है।

बहिरात्मा अज्ञानसे कर्मजनित दशाओंके भीतर आपापना मानकर अपने आत्माके सच्चे स्वभावको भूले हुए कभी भी निर्वाणका भय नहीं पा सक्ता। निरन्तर शुभ अशुभ कर्म बांधकर एक गतिसे दूसरीमें, दूसरीसे तीसरीमें इस तरह अनादि कालसे भ्रमण करता चला आया है।

यदि कोई साधु या गृहस्थका चारित्र पाले और इसे भी आत्माका स्वभाव जानले व मैं साधु मैं श्रावक ऐसा अहंकार करे तो वह भी बहिरात्मा है।

यद्यपि ज्ञानी श्रावक व साधुका आचरण पालता है तौभी वह उसे विभाव जानता है, आत्माका स्वभाव नहीं जानता। परम

शुद्धोपयोग भावरूप ही आत्मा है। शुक्लध्यान जो साधुके होता है वह परम शुद्धोपयोग नहीं है, क्योंकि दशवें गुणस्थान तक तो मोहका उदय मिला हुआ है। ग्यारहवें बारहवेंमें अज्ञान है, पूर्ण ज्ञान नहीं, इसलिये इस अपरम शुद्धोपयोगको भी आत्माका स्वभाव मानना मिथ्याभाव है। श्री **समयसारमें** कहा है—

परमाणुमित्तियं वि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पा णयं तु सव्वागमधरो वि ॥२१४॥

भावार्थ—जिसके भीतर परमाणु मात्र थोड़ासा भी अज्ञान सम्बंधी रागभाव है कि परद्रव्य या परभाव आत्मा है वह श्रुतकेवलीके समान बहुत शास्त्रोंका ज्ञाता है तौभी वह आत्माको नहीं पहचानता है, इसलिये बहिरात्मा है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें श्री अमृतचन्द्रआचार्य कहते हैं—

परिणममाणो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥ १० ॥
जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥
परिणममाणस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ १३ ॥
एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥ १४ ॥

भावार्थ—यह जीव अनादिकालकी परिपाटीसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके उदयके साथ परिणमन या व्यवहार करता हुआ जो अपने अशुद्ध परिणाम करता है उनहीका यह अज्ञानी जीव अपनेको कर्ता तथा भोक्ता मान लेता है कि मैंने अच्छा किया या बुरा किया, या

मैं सुखी हूं या दुःखी हूं। इस अज्ञानमई जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर दूसरी पौद्गलिक कर्मवर्गणाएं स्वयं कर्मरूप होकर वन्ध जाती हैं। जब यह जीव स्वयं अपने अशुद्ध भावोंमें परिणमन करता है तब उस समय पूर्वमें बांधा पौद्गलिक कर्म उदयमें आकर उस अशुद्ध भावका निमित्त होता है। इसतरह कर्मफल भावोंको व कर्मोके बंधको व कर्मके उदयको वहिरात्मा अपने मान लेता है। निश्चयसे आत्मा इन सर्व कर्मकृत भावोंसे जुदा है। तौभी अज्ञानी वहिरात्माओंके यही प्रतिभास या भ्रम रहता है कि वे सब भाव या विकार या दशा मेरी ही है। कर्मकृत परिणामोंको या रचनाको जो निश्चयसे पर हैं, अपनी स्वाभाविक परिणति या दशा मान लेना संसार-भ्रमणका वीज है यह वीज संसार-वृक्षको वढ़ाता है।

वहिरात्मा अन्धा मोही होकर संसार-वनमें भटकता रहता है।

ज्ञानीको परको आत्मा नहीं मानना चाहिये।

देहादिउ जे परकहिया ते अप्पाणु ण होंहिं।
इउ जाणेविणु जीव तुहुं अप्पा अप्प मुणेहिं॥ ११॥

अन्वयार्थ—(देहादिउ जे परकहिया) शरीर आदि अपने आत्मासे भिन्न कहे गये हैं (ते अप्पाणु ण होंहिं) वे पदार्थ आत्मा नहीं होसक्ते व उन रूप आत्मा नहीं होसक्ता याने आत्माके नहीं होसक्ते (इउ जाणेविणु) ऐसा समझकर (जीव) हे जीव! (तुहुं अप्पा अप्प मुणेहिं) तू अपनेको आत्मा पहचान, यथार्थ आत्माका वोध कर।

भावार्थ—वहिरात्मा जब पर वस्तुओंको व परभावोंको अपना आत्मा मानता है तब अन्तरात्मा ऐसा नहीं मानता है। वह मानता

है कि आत्मा आत्मारूप ही है। आत्माका स्वभाव सर्व अन्य आत्माओंसे व पुद्गलादि पांच द्रव्योंसे व आठ कर्मोंसे व आठ कर्मोंके फलसे, सर्व रागादि भावोंसे निराला परम शुद्ध है। भेदविज्ञानकी कलासे वह आत्माको परसे विलकुल भिन्न श्रद्धान रखता है। भेद-विज्ञानकी शक्तिसे ही भ्रमभावका नाश होता है। हंस दूधको पानीसे भिन्न ग्रहण करता है, किसान धान्यमें चावलको भूसीसे अलग जानता है। सुवर्णकी मालामें सर्राफ सुवर्णको धागे आदिसे भिन्न समझता है, पकी हुई सागभाजीमें लवणका स्वाद सागसे भिन्न समझदारको आता है। चतुर वैद्य एक गुटिकामें सर्व औषधियोंको अलग २ समझता है। इसीतरह ज्ञानी अन्तरात्मा आत्माको सर्व देहादि पर द्रव्योंसे भिन्न जानता है।

आत्मा वास्तवमें अनुभवगम्य है। मनसे इसका यथार्थ चिंतवन नहीं होसकता, वचनोंसे इसका वर्णन नहीं होसक्ता, शरीरसे इसका स्पर्श नहीं होसक्ता। क्योंकि मनका काम क्रमसे किसी स्वरूपका विचार करना है। वचनोंसे एक ही गुण या स्वभाव एक साथ कहा जासक्ता है। शरीर मूर्तीक स्थूल द्रव्यको ही स्पर्श कर सक्ता है जब कि आत्मा अनन्तगुण व पर्यायोंका अखण्ड पिंड है। केवल अनु-भवमें ही इसका स्वरूप आसक्ता है। वचनोंसे मात्र संकेतरूपसे कहा जासक्ता है। मनके द्वारा क्रमसे ही विचारा जासक्ता है। इसलिये यह उपदेश है कि पहले शास्त्रोंके द्वारा या यथार्थ गुरुके उपदेशसे आत्मा द्रव्यके गुण व पर्यायोंको समझ ले, उसके शुद्ध स्वभावको भी जाने तथा परके संयोगजनित अशुद्ध स्वभावको भी जाने अर्थात् द्रव्यार्थिकनयसे तथा पर्यायार्थिकनयसे या निश्चयनयसे तथा व्यवहारनयसे आत्माको भलेप्रकार जाने।

इस आत्माका सम्बन्ध किसी भी परवस्तुसे नहीं है। यह

आत्मा अपने ही ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणोंका स्वामी है। इसका धन इसकी गुणसम्पदा है, इसका निवास या घर इसीका स्वभाव है। इस आत्माका भोजनपान आदिक आनन्द अमृत है। आत्मामें ही सम्यग्दर्शन है, आत्मामें ही सम्यग्ज्ञान है, आत्मामें ही सम्यक्चारित्र है, आत्मामें ही सम्यक् तप है, आत्मामें ही संयम है, आत्मामें ही त्याग है, आत्मामें ही संवर तत्व है, आत्मामें ही निर्जरा है, आत्मामें ही मोक्ष है। जिसने अपने उपभोगको आत्मामें जोड़ दिया उसने मोक्षमार्गको पालिया।

आत्मा आपहीसे आपमें क्रीड़ा करता हुआ शनैः २ शुद्ध होता हुआ परमात्मा होजाता है। जितनी मन, वचन, कायकी शुभ व अशुभ क्रियाएँ हैं वे सब पर हैं, आत्मा नहीं हैं। चौदह गुणस्थानकी सीढ़ियां भी आत्माका निज स्वभाव नहीं हैं। आत्मा परम पारणामिक एक जीवत्वभावका धनी है, जिसका प्रकाश कर्मरहित सिद्ध गतिमें होता है। जहां सिद्धत्वभाव है वहां जीवत्वभाव है। अंतरात्मा अपने आत्माको परभावोंका अकर्ता व अभोक्ता देखता है। वह जानता है कि आत्मा ज्ञानचेतनामय है अर्थात् यह मात्र शुद्ध ज्ञानका स्वाद लेनेवाला है। इसमें रागद्वेषरूप कार्य करनेका अनुभवरूप कर्मचेतना तथा सुखदुःख भोगनेरूप कर्मफलचेतना नहीं है।

आत्माका पहचाननेवाला अन्तरात्मा एक आत्मरसिक होजाता है, आत्मानन्दका प्रेमी होजाता है, उसके भीतरसे विषयभोगजनित सुखकी श्रद्धा मिट जाती है, वह एक आत्मानुभवको ही अपना कार्य समझता है, उसके सिवाय जो व्यवहारमें गृहस्थ या मुनि अंतरात्माको कर्तव्य करना पड़ता है वह सब मोहनीय कर्मके उदयकी प्रेरणासे होता है। इसीलिये ज्ञानी अन्तरात्मा सर्व ही धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थकी चेष्टाको आत्माका स्वाभाविक धर्म नहीं मानता है।

आत्मा तो स्वभावसे सर्व चेष्टारहित निश्चल परम कृतकृत्य है।

इसतरह आत्माको केवल आत्मारूप ही टंकोत्कीर्ण ज्ञाताद्रष्टा परमानन्दमय समझकर उसीमें रमण करनेका अत्यन्त प्रेमी होजाना अन्तरात्माका स्वभाव बन जाता है। तीन लोककी संपत्तिको वह आदरसे नहीं देखता है, उसका प्रतिष्ठाका स्थान केवल अपना ही शुद्ध स्वभाव है। इसी कारणसे सम्यग्दृष्टी अन्तरात्माको जीवमुक्त कहते हैं। वह यथार्थ ज्ञानसे व परम वैराग्यसे पूर्ण होता है। परम तत्वका एक मात्र रुचिवान होता है। उसकी दृष्टि एक शुद्ध आत्म-तत्वपर जम जाती है। समयसारमें कहा है—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण हु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को ॥ २०७ ॥
उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं।
णदु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥ २१० ॥
उप्पण्णोदयभोगे विओगवुद्धीय तस्स सो णिचं।
कंखामणागदस्सय उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥ २२८ ॥

भावार्थ—राग एक पुद्गलकर्म है, उसके फलसे आत्मामें राग भाव होता है। यह कर्मकृत विकार है, मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक ज्ञायक भावका धारी आत्मा हूं। जिनेन्द्रोंने कहा है कि कर्मोंके उदयसे जो नाना प्रकारका फल होता है वह सब मेरे आत्माका स्वभाव नहीं है। मैं तो एक ज्ञायक भावका धारी आत्मा हूं। कर्मोदयसे प्राप्त वर्तमान भोगोंमें भी ज्ञानीके आदर नहीं है वियोग बुद्धि ही है। तब ज्ञानी आगामी भोगोंकी इच्छा कैसे कर सकता है?

समयसारकलशमें कहा है—

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः॥ १४॥

भावार्थ—ज्ञानी अपनी आत्म वस्तुके स्वभावको ठीक ठीक जानता है, इसलिये रागादि भावोंको कभी आत्माका धन नहीं मानता है, आप उनका कर्ता नहीं होता है, वे कर्मोदयसे होते हैं, यह उनका जाननेवाला है।

बृहत् सामायिक पाठमें श्री अमितिगति आचार्य कहते हैं—

नाहं कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भावः परो विद्यते
मुक्त्वात्मानमपास्तकर्म्मसमितिं ज्ञानेक्षणालंकृतिं।
यस्यैषा मतिरस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्त्वस्थिते—
र्बंधस्तस्य न मंत्रितस्त्रिभुवनं सांसारिकैर्बंधनैः॥ ११॥

भावार्थ—अंतरात्मा ज्ञानी विचारता है कि मैं तो ज्ञान नेत्रोंसे अलंकृत व सर्व कर्म-समूहसे रहित एक आत्मा द्रव्य हूं। उसके सिवाय कोई परद्रव्य या परभाव मेरा नहीं है न मैं किसीका संबंधी हूं। जिस आत्मीक तत्वके ज्ञाताके भीतर ऐसी निर्मल बुद्धि सदा रहती है उसका संसारीक बंधनोंसे बंधन तीन लोकमें कहीं भी नहीं होसक्ता।

नागसेन मुनि तत्वानुशासनमें कहते हैं—

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्तः॥ १५२॥

भावार्थ—मैं सत् भाव द्रव्य हूं, चैतन्यमय हूं, ज्ञाता दृष्टा हूं। सदा ही वैराग्यवान हूं। यद्यपि शरीरमें शरीर प्रमाण हूं तौ भी शरीरसे जुदा हूं। आकाशके समान अमूर्तीक हूं।



आत्मज्ञानी ही निर्वाण पाता है।

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि तउ णिव्वाण लहेहि।
पर अप्पा जउ मुणिहि तुहुं तहु संसार भमेहि ॥ १२॥

अन्वयार्थ—(जइ) यदि (अप्पा अप्पउ मुणहि) आत्माको आत्मा समझेगा (तो णिव्वाण लहेहि) तो निर्वाणको पावेगा (जउ) यदि (पर अप्पा मुणहि) परपदार्थोंको आत्मा मानेगा (तहु तुहुं संसार भमेहि) तो तू संसारमें भ्रमण करेगा।

भावार्थ—निर्वाण उसे कहते हैं जहां आत्मा सर्व रागद्वेष, मोहादि दोषोंसे मुक्त होकर व सर्व कर्म-कलंकसे छूटकर शुद्ध सुवर्णके समान पूर्ण शुद्ध होजावे और फिर सदा ही शुद्ध भावोंमें ही कल्लोल करे व निरन्तर आनन्दामृतका स्वाद लेवे। वह आत्माका स्वाभाविक पद है। इस निर्वाणका साधन भी अपने ही आत्माको आत्मारूप समझकर उसीका वैसा ही ध्यान करना है।

हरएक कार्यके लिये उपादान और निमित्त दो कारणोंकी जरूरत है। मूल कारणको उपादान कारण कहते हैं जो स्वयं कार्यरूप होजावे। सहायक कारणोंको निमित्त कारण कहते हैं। घड़ेके बनानेमें मिट्टी उपादान कारण है, कुम्हार चाक आदि निमित्त कारण हैं। कपड़ेके बनानेमें कपास उपादान कारण है. चरखा करघा आदि निमित्त कारण हैं। सुवर्णकी मुद्रिका बनानेमें सुवर्ण उपादान कारण है, सुवर्णकार, उसके शस्त्र व अग्नि आदि निमित्त कारण हैं।

इसीतरह आत्माके शुद्ध होनेमें उपादान कारण आत्मा ही है, निमित्त कारण व्यवहार रत्नत्रय है, मुनि व श्रावकका चारित्र है, बारह तप हैं, मन, वचन, कायकी क्रियाका निरोध है। निमित्तके होते हुए उपादान काम करता है। जैसे अग्निका निमित्त होते हुए

चावल भातके रूपमें बदलता है, दोनों कारणोंकी जरूरत है। साधकको या मुमुक्षुको सबसे पहले व्यवहार सम्यग्दर्शन द्वारा अर्थात् परमार्थदेव- शास्त्र, गुरुके श्रद्धान तथा जीवादि सात तत्वोंके श्रद्धान-द्वारा मनन करके भेदज्ञानकी दृढ़तासे अपने आत्माकी प्रतीतिरूप निश्चय सम्यग्दर्शनको प्राप्त करना चाहिये। तब ही आत्म-ज्ञानका यथार्थ उदय हो जायगा, वीतरागताका अंश झलक जायगा, संवर व निर्जराका कार्य प्रारंभ हो जायगा, मोक्षमार्गका उदय हो जायगा। कर्मोंका बन्ध जब रागद्वेष मोहसे होता है तब कर्मोंका क्षय वीतरागभावसे होता है। वीतरागभाव अपने ही आत्माका रागद्वेष मोह रहित परिणमन या वर्तन है। मुमुक्षुका कर्तव्य है कि वह बुद्धिपूर्वक परिणामोंको वीतरागभावमें लानेका पुरुषार्थ करे। तब कर्म स्वयं झड़ेंगे व नवीन कर्मके आस्रवका संवर होगा।

राग, द्वेष, मोहके पैदा होनेमें भीतरी निमित्त मोहकर्मका उदय है। बाहरी निमित्त दूसरे चेतन व अचेतन पदार्थोंका संयोग व उनके साथ व्यवहार है। इसलिये बाहरी निमित्तोंको हटानेके लिये श्रावकके बारह व्रतोंकी प्रतिज्ञा लेकर ग्यारह प्रतिमाकी पूर्तितक बाहरी परिग्रहको घटाते घटाते एक लंगोट मात्रपर आना होता है। फिर निर्ग्रंथ दशा धारण करके बालकके समान नग्न हो जाना पड़ता है, साधुका चारित्र पालना पड़ता है, एकांतमें निवास करना पड़ता है, निर्जन स्थानोंमें आसन जमाकर आत्माका ध्यान करना पड़ता है, अनशन ऊनोदर रस त्याग आदि तपसे ही इच्छाका निरोध करना पड़ता है। सर्व श्रावकका या साधुका व्यवहारचारित्र पालते हुए बाहरी निमित्त मिलाते हुए साधककी दृष्टि उपादान कारणको उच्च बनानेकी तरफ रहनी चाहिये। अर्थात् अपने ही शुद्धात्माके

स्वभावमें रमण करनेकी व स्थिर होनेकी परम चेष्टा रहनी चाहिये।

साधकको बाहरी चारित्रमें निमित्त मात्रसे सन्तोष न करना चाहिये। जब आत्मा आत्मसमाधिमें व आत्मानुभवमें वर्तन करे तब ही कुछ फल हुआ, तब ही मोक्षमार्ग सधा ऐसा भाव रखना चाहिये। क्योंकि जबतक शुद्धात्मध्यान होकर शुद्धोपयोगका अंश नहीं प्रगट होगा तबतक संवर व निर्जराके तत्व नहीं प्रगट होंगे। तबतक आत्माकी एकदेश शुद्धि नहीं होगी। निश्चयसे ऐसा समझना चाहिए कि निर्वाणका मार्ग एक आत्मध्यानकी अग्निका जलना है, एक आत्मानुभव है; आत्माका आत्मारूप ज्ञान है, आप ही आपको शुद्ध करता है, उपादान कारण आप ही है। यदि परिणामोंमें आत्मानुभव नहीं प्रगटे तो बाहरी चारित्रसे शुभ भावोंके कारण बंध होगा, संसार बढ़ेगा, मोक्षका साधन नहीं होगा।

इसके विरोधमें जब कि आत्माका यथार्थ ज्ञान नहीं होगा व जबतक आत्माको अन्यरूप मानता रहेगा, जैसा उसका जिनेन्द्र भगवान कथित स्वरूप है वैसा नहीं मानेगा, आत्माको सांसारिक विकारका कर्ता व भोक्ता मानेगा व जबतक परमाणु भाव भी मोह अपने आत्माके सिवाय परपदार्थोंमें रहेगा तबतक मिथ्यात्वकी कालिमा नहीं मिटी ऐसा समझना होगा।

मिथ्यात्वकी कालिमाके होते हुए बाहरी साधुका व गृहस्थका चारित्र पालते हुए भी संसार ही वढेगा। विशेष पुण्य बांधकर शुभगतिमें जाकर फिर अशुभ गतिमें चला जायगा। जहांतक आत्माका आत्मारूप श्रद्धान नहीं होगा वहांतक मिथ्यादर्शनका अनादि रोग दूर नहीं होगा। पर्यायबुद्धिका अहंकार नहीं मिटेगा। विषयभोगोंकी कामनाका अंश जब तक नहीं मिटेगा तब तक मिथ्या भाव नहीं हटेगा। विषयभोगोंका सुख त्यागने योग्य है, यह श्रद्धान जब तक न होगा तब तक मिथ्यात्व न हटेगा।

मिथ्यादृष्टि रुचिपूर्वक आसक्तिसे विषय भोग करता है। सम्यक्ती गृहस्थ अनासक्तिसे व कर्मोंके उदयमें लाचार होकर विषय-भोग करता है व भावना भाता है कि यह कर्मका विकार शीघ्र दूर हो तो ठीक है। भोगोंसे पूर्ण वैराग्य भाव ज्ञानीके होता है। अज्ञानीके व मिथ्यादृष्टिके तप करते हुए भी भोगोंसे राग भाव रहता है. इसीसे उसका संसार बढ़ता है। वह संसारसे पार होनेका मार्ग नहीं पाता है।

समयसारजीमें कहा है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग संपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥ १६० ॥
परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥ १६१ ॥
परमट्ठम्मिय अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हु॥ १६२ ॥

भावार्थ—श्री जिनेन्द्रका ऐसा उपदेश है कि रागी जीव कर्मोंमें बन्धता है। वैराग्यसे पूर्ण जीव कर्मोंसे छूटता है। इसलिये बंधके कारक शुभ व अशुभ कार्योंमें राग नहीं करो।

निश्चयसे परम पदार्थ एक आत्मा है। वही अपने स्वभावमें एक ही काल परिणमन करनेसे व जाननेसे समय है, वही एक ज्ञानमय निर्विकार होनेसे शुद्ध है, वही स्वतन्त्र चैतन्यमय होनेसे केवली है, वही मननमात्र होनेसे मुनि है, वही ज्ञानमय होनेसे ज्ञानी है। जो मुनिगण ऐसे अपने ही आत्माके स्वभावमें स्थिर होते हैं, आत्मस्थ होते हैं वे ही निर्वाणको पाते हैं। जो कोई परम पदार्थ अपने आत्माकी स्थिति न पाकर तप तथा व्रत पालता है उस सर्व तप या

व्रतको जो आत्मज्ञान या आत्मानुभवकी चेष्टासे शून्य है; सर्वज्ञ भगवानने अज्ञान तप व अज्ञान व्रत कहा है।

समयसार कलशमें कहा है—

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल ।
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ॥११-७॥

भावार्थ—निर्वाणका पद शुभ क्रियाओंके करनेसे कभी प्राप्त नहीं होसक्ता। वह तो सहज आत्मज्ञानकी कलासे सहजमें मिलता है। इसलिये जगतके मुमुक्षुओंका कर्तव्य है कि वे आत्मज्ञानकी कलाके बलसे सदा ही उसीका यत्न करें।

तत्वानुशासनमें कहा है—

पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यार्जितान्मलान् ।
निरस्ताहंममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान् ॥ १७८ ॥

भावार्थ—जो कोई परपदार्थोंमें अहंकार ममकारका त्याग करके एकाग्रभावसे अपने आत्माका अनुभव करता है वह पूर्व संचय किए हुए कर्ममलोंको नाश करता है तथा नवीन कर्मोंका संवर भी करता है।

इच्छारहित तप ही निर्वाणका कारण है।

इच्छारहिउ तव करहि अप्पा अप्प मुणेहि ।
तउ लहु पावइ परमगई पुण संसार ण एहि ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(अप्पा) हे आत्मा! (इच्छारहियउ तवं कराहि) यदि तू इच्छा रहित होकर तप करे (अप्प मुणेहि) व आत्माका अनुभव करे (तउ लहु परमगई पावइ) तो तू शीघ्र ही परम गतिको पावे (पुण संसार ण एहि) फिर निश्चयसे कभी संसारमें नहीं आवे।

भावार्थ—जैसे मलीन सुवर्ण अग्निमें मसाला डालनेसे शुद्ध होता है, उसका मैल कटता है, वैसे ही तपकी अग्निमें ज्ञान वैराग्यका मसाला डालनेसे यह अशुद्ध आत्मा कर्ममैलको काटकर शुद्ध होता है। शुद्ध सुवर्ण जो कुन्दन है वह फिर कभी मलीन नहीं होता है अर्थात् मलीन किट्ट कालिमासे नहीं मिलता है, वैसे ही शुद्ध व मुक्त आत्मा फिर कर्मोंके बंधमें नहीं पड़ता है, फिर संसारमें जन्म व मरण नहीं करता है।

इसलिये मुमुक्षुको तपका अभ्यास करना चाहिये। तप करते हुए किसी प्रकारकी इच्छा नहीं रखना चाहिये कि तपसे नारायण, प्रतिनारायण, बलदेव, चक्रवर्ती, इंद्र, अहमिन्द्रपद या कोई सांसारिक विभूति या सांसारिक सुख प्राप्त हो या मान बड़ाई यश हो या शत्रुका क्षय हो। इस लोककी या परलोककी कोई वांछा तपस्वीको नहीं रखना चाहिये। केवल यही भावना करे कि मेरा आत्मा शुद्ध होकर निर्वाणका लाभ करे। इस शुद्ध निर्विकार भावनासे किया हुआ तप ही यथार्थ तप है। तप दो प्रकारका है—निश्चय तप, व्यवहार तप। अपने ही शुद्ध आत्माके श्रद्धान व ज्ञानमें तपना व लीन होना निश्चय तप है। उसके निमित्त रूप बारह प्रकारका तप करना व्यवहार तप है। निमित्तका संयोग मिलानेसे उपादानकी प्रगटता होती है। बारह तपके द्वारा निश्चय तप जो आत्मानुभव है वह बढ़ता है।

बाह्य तप छः प्रकार हैं। जो तप बाहरी शरीरकी अपेक्षासे हों व दूसरोंको प्रत्यक्ष दीखें वे बाहरी तप हैं। उनके छः भेद इसप्रकार हैं—

(१) अनशन—खाद्य (पेट भरने योग्य), स्वाद्य (इलायची लौंग सुपारी), लेह्य (चाटने योग्य चटनी आदि), पेय (पीने योग्य पानी आदि) इन चार प्रकारके आहारका त्याग एक दिन, दो दिन आदि कालके नियमसे या समाधिमरणके समय जन्म पर्यंत करना सो उप-

'वास तप है। इससे इंद्रियोंपर विजय, रागका नाश, ध्यानकी सिद्धि व कर्मका क्षय होता है।' उपवास करके निश्चय तपका साधन करे।

(२) अवमोदर्य–कम भोजन करना। इससे रोग शमन, आलस्य विजय, निद्रा विजय होता है व स्वाध्याय तथा ध्यानकी सिद्धि होती है।

(३) वृत्तिपरिसंख्यान–भिक्षाको जाते हुए एक आदि घरोंका व किसी वस्तुकी प्राप्तिका नियम करना। भोजन लाभ न होनेपर सन्तोष रखना–आशाको जीतना।

(४) रस परित्याग–घृत, दूध, दही, शक्कर, लवण, तैल इन छः रसोंमेंसे एक दो चार या सबका त्याग करना। इससे इन्द्रिय-विजय, ब्रह्मचर्य रक्षा, निद्रा–विजय होकर स्वाध्याय व ध्यानकी सिद्धि होती है।

(५) विविक्त शय्यासन–स्त्री, पुरुष, नपुंसक रहित व जन्तु पीड़ा रहित निर्जन स्थानोंमें शयन, आसन करना, जिससे बाधा रहित ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय व ध्यानकी सिद्धि होसके।

(६) कायक्लेश–धूपमें, वृक्षमूलमें, मैदानमें, पर्वतपर, गुफामें नानाप्रकारके आसनोंके द्वारा ऐसा तप करना जो दूसरोंको कायक्लेश विदित हो। इससे देहका ममत्व घटता है व सुखिया स्वभाव मिटता है व ध्यानकी सिद्धि होती है। इसमें ध्यानका अभ्यासी शरीरकी शक्ति देखकर कठिन तप करता है, परिणामोंमें आर्तध्यान हो जावे ऐसा क्लेश नहीं सहता है।

छः अभ्यन्तर तप हैं। इनको अभ्यन्तर इसलिये कहते हैं कि इनमें मनके निग्रह करनेकी व परिणामोंकी निर्मलताकी मुख्यता है। वे छः हैं:—

(१) प्रायश्चित्त– प्रमादसे लगे हुए दोषोंकी शुद्धि स्वयं या

गुरु द्वारा दण्ड लेकर करते रहना । जैसे कपड़ेपर कीचका छींटा पड़नेसे तुर्त धो डालनेसे वस्त्र साफ रहता है, वैसे ही मन, वचन, काय द्वारा दोष होजाने पर उसको आलोचना, प्रतिक्रमण तथा प्रायश्चित्त लेकर दूर कर देना चाहिये, तब परिणाम निर्मल रह सकेंगे।

(२) विनय—बड़े आदरसे ज्ञानको बढ़ाना, श्रद्धानको पक्का रखना, चारित्रको पालना व पूज्य पुरुषोंमें विनयसे वर्तना, उनके गुण स्मरण करना विनय तप है।

(३) वैय्यावृत्य—साधु, आर्यिका, श्रावक, श्राविका आदिकी सेवा करना । रोग, अन्य परीषह व परिणामोंकी शिथिलता आदि होनेपर शरीरसे व उपदेशसे या अन्य उपायसे आकुलता मेटना वैय्यावृत्य या सेवा तप है । इससे ग्लानिका अभाव, वात्सल्य गुण, धर्मकी रक्षा आदि तप होता है । महान पुरुषोंकी सेवासे ध्यान व स्वाध्यायकी सिद्धि होती है।

(४) स्वाध्याय—ज्ञानभावना व आलस्य त्यागके लिये पांच प्रकार स्वाध्याय करना योग्य है—

(१) निर्दोष ग्रंथको पढ़ना व पढ़ाना व सुनाना व सुनना (२) संशय छेद व ज्ञानकी दृढ़ताके लिये प्रश्न करना, (३) जाने हुए भावका बारम्बार विचारना, (४) शुद्ध शब्द व अर्थको घोखकर कण्ठ करना, (५) धर्मका उपदेश देना—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश ये पांच नाम हैं। इससे ज्ञानका अतिशय बढ़ता है, परम वैराग्य होता है व दोषोंकी शुद्धिका ध्यान रहता है।

(५) व्युत्सर्ग—बाहरी शरीर धन गृहादिसे व अंतरंग रागादि भावोंसे विशेष ममताका त्याग करना, निर्लेप होजाना, असंगभावको पाना व्युत्सर्ग तप है।

(६) ध्यान—किसी एक ध्येयमें मनको रोकना ध्यान है। धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मोक्षके कारण हैं, उनका अभ्यास करना योग्य है। आर्तध्यान व रौद्रध्यानसे बचना योग्य है।

तप करना व तपका आराधन निर्वाणके लिये बहुत आवश्यक है। निश्चय तपकी मुख्यतासे तप किये बिना कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती है। तपसे संवर व निर्जरा दोनों होते हैं।

समयसारमें कहा है—

अप्पाणमप्पणा रुंभिऊण दोसु पुण्णपावजोगेसु।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णह्मि ॥ १८० ॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥ १८१ ॥
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥ १८२ ॥

भावार्थ—पुण्य व पाप बंधके कारक शुभ व अशुभयोगोंसे अपने आत्माको आत्माके द्वारा रोककर जो आत्मा अन्य परद्रव्योंकी इच्छासे विरक्त हो व सर्व परिग्रहकी इच्छासे रहित हो, दर्शनज्ञानमई आत्मामें स्थिर बैठकर आपसे अपनेको ही ध्याता है। भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मको रंच मात्र स्पर्श नहीं करता है, केवल एक शुद्ध आत्माका ही अनुभव करता है, वह एकाग्र मन हो स्वयं दर्शन ज्ञानमय होकर आत्माको ध्याते ध्याते थोड़े ही कालमें सर्व कर्मरहित आत्माको या मोक्षको पा लेता है।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासनमें कहते हैं—

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ॥ १७४ ॥

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजात् मूलांकुराविव ।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥ १८२ ॥

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो ।
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम् ॥
छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः ।
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम् ॥ १८९ ॥

भावार्थ—आत्माका स्वभाव ज्ञानमय है। उस स्वभावकी प्राप्तिको ही मोक्ष कहते हैं, इसलिये मोक्षके वांछकको ज्ञानकी भावना भानी चाहिये। जैसे बीजसे मूल व अंकुर होते हैं वैसे मोहके बीजसे रागद्वेष पैदा होते हैं। इसलिये जो इन रागद्वेषोंको जलाना चाहे उसे ज्ञानकी आग जलाकर उनको भस्म कर देना चाहिये। हे भव्य! तू सर्व शास्त्रोंको पढ़कर व चिरकालतक घोर तप तपकर यदि इन दोनोंका फल सांसारिक लाभ या पूजा प्रतिष्ठा आदि चाहता है तो तू जड़बुद्धि होकर सुन्दर तपरूपी वृक्षकी जड़को ही काट रहा है, किसतरह तू रसीले पके फलको अर्थात् मोक्षके फलको पा सकेगा?

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुडमें कहते हैं—

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो ।
सयलो झाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥ ८९ ॥

भावार्थ—जिनका भाव शुद्ध आत्मामें स्थिर नहीं है उनका बाहरी परिग्रहका त्याग पहाड़, नदी, तट, गुफा, कन्दरा, आदिका रहना, ध्यान व पठन पाठन सर्व निरर्थक है।

परिणामोंसे ही बंध व मोक्ष होता है ।

परिणामें बंधुजि कहिउ मोक्ख वि तह जि वियाणि ।
इउ जाणेविणु जीव तुहुं तह भावहु परियाणि ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(परिणामें बंधुजि कहिउ) परिणामोंसे ही कर्मका बंध कहा गया है (तह जि मोक्ख वि वियाणि) तैसे ही परिणामोंसे ही मोक्षको जान (जीव) हे आत्मन् ! (इउ जाणेविणु) ऐसा समझकर (तुहुं तह भावहु परियाणि) तू उन भावोंकी पहचान कर ।

भावार्थ—आत्मा आप ही अपने भावोंका कर्ता है । स्वभावसे यह शुद्ध भावका ही कर्ता है । यह आत्मद्रव्य परिणमनशील है । यह स्फटिकमणिके समान है । स्फटिकमणिके नीचे रंगका संयोग हो तो वह उस रंग रूप लाल, पीली, काली, झलकती है । यदि पर वस्तुका संयोग न हो तो वह स्फटिक निर्मल स्वरूपमें झलकती है । इसी तरह इस आत्मामें कर्मोंके उदयके निमित्तसे विभावोंमें या औपाधिक अशुद्ध भावोंमें परिणमनकी शक्ति है । यदि कर्मके उदयका निमित्त हो तो यह अपने निर्मल शुद्ध भावमें ही परिणमन करता है । मोहनीय कर्मके उदयसे विभाव भाव होते हैं । उन औदयिक भावोंसे ही वन्ध होता है ।

अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर स्वयमेव कर्मवर्गणाएं आठ कर्मरूप या सात कर्मरूप वन्ध जाती हैं । वन्धकारक भाव दो प्रकारके होते हैं—शुभ भाव या शुभोपयोग, अशुभ भाव या अशुभोपयोग । मन्द कषायरूप भावोंको शुभोपयोग कहते हैं, तीव्र कषायरूप भावोंको अशुभोपयोग कहते हैं । दोनों ही प्रकारके भाव अशुद्ध हैं, वन्धके ही कारण हैं । जहांतक कषायका रंच मात्र भी उदय है वहांतक कर्मका

बन्ध है। दसवें सूक्ष्मलोभ गुणस्थानतक बन्ध है।

रागद्वेष, मोह, भाव, बन्धहीके कारण हैं। ज्ञानीको यह भले-प्रकार समझना चाहिये। मुनिव्रत या श्रावकके व्रतका राग या तपका राग या भक्तिका राग या पठनपाठनका राग या मन्त्रोंके जपका राग यह सब राग बन्धहीका कारण है। साधुका कठिनसे कठिन चारित्रको राग सहित पालता हुआ भी बन्धको ही करता है। मोक्षका कारण भाव एक वीतरागभाव है या शुद्धोपयोग है या निश्चय रत्नत्रय है। शुद्धात्माका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, शुद्धात्माका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, शुद्धात्माका ध्यान सम्यक्चारित्र है। यह रत्नत्रय धर्म एकदेश भी हो तौभी बन्धका कारण नहीं है।

ज्ञानीको यह विश्वास रखना चाहिये कि मेरा उपयोग जब सर्व चिंताओंको त्यागकर अपने ही आत्माके स्वभावमें एकाग्र होगा ऐसा तन्मय होगा कि जहां ध्याता, ध्यान, ध्येयका भेद न रहे, गुण गुणीके भेदका विचार न रहे, बिल्कुल स्व रूपमें उपयोग ऐसा घुल जावे कि जैसे लवणकी डली पानीमें घुल जाती है। आत्म-समाधि प्राप्त होजावे या स्वानुभव होजावे। इसहीको ध्यानकी अग्नि कहते हैं। यह एकाग्र शुद्धभाव मोक्षका कारण है, संवर व निर्जराका कारण है। इस भावकी प्राप्तिकी कला अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुण-स्थानसे प्राप्त होजाती है।

चौथे, पांचवें देशविरत तथा छठे प्रमत्तविरत गुणस्थानमें प्रवृत्ति मार्ग भी है, निवृत्ति मार्ग भी है। जब ये गृहस्थ तथा साधु ध्यानस्थ होते हैं तब निवृत्ति मार्गमें चढ़ जाते हैं। जब गृहस्थ धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ साधते हैं या साधुका व्यवहार चारित्र, आहार विहार, स्वाध्याय, धर्मोपदेश आदि पालते हैं तब प्रवृत्तिमार्ग है। निवृत्ति मार्गमें उपयोग एक शुद्धात्माके सन्मुख ही रहता है। प्रवृत्ति

मार्गमें चारित्रकी अपेक्षा उपयोग पर द्रव्योंके सन्मुख रहता है। सातवेंसे लेकर दसवें गुणस्थान तक साधुके निवृत्तिमार्ग ही है, प्रवृत्ति नहीं है, ध्यान अवस्था ही है।

इस तरह चौथेसे दशवें गुणस्थान तक दोनों निवृत्ति व प्रवृत्तिमार्ग यथासंभव होते हुये भी अप्रत्याख्यानादि कषायका उदय, चौथेमें प्रत्याख्यानादि कषायका उदय, पांचवेंमें संज्वलन कषायका तीव्र उदय, छठेमें संज्वलनका मंद उदय, सातवेंसे दशवें तक रहता है। ध्यानके समय इन कषायोंका उदय बहुत मंद होता है। प्रवृत्तिके समय तीव्र होता है। तथापि जितना कषायका उदय होता है वह तो कर्मको ही बांधता है। जितना रत्नत्रय भाव होता है वह संवर व निर्जरा करता है। बंध व निर्जरा दोनों ही धाराएँ साथ साथ चलती रहती हैं।

हरएक जीव गुणस्थानके अनुसार बन्धयोग्य प्रकृतियोंका बंध अवश्य करता है। निवृत्ति मार्गमें आरूढ़ होनेपर घातीय कर्मोंकी स्थिति व उनका अनुभाग बहुत कम पड़ता है व अघातीयोंमें केवल शुभ प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है, उनमें स्थिति कम व अनुभाग अधिक पड़ता है। प्रवृत्ति मार्गमें शुभोपयोगकी दशामें तो ऐसा ही होता है, किन्तु तीव्र कषायके उदयसे अशुभोपयोग होनेपर घातीय कर्मोंमें स्थिति व अनुभाग अधिक पड़ेगा व अघातीयमें पापकर्मोंको अधिक स्थिति व अनुभाग लिये हुए बाँधेगा।

प्रयोजन यह है कि शुभ या अशुभ दोनों ही भाव अशुद्ध हैं बन्धहीके कारण हैं। मोक्षका कारण एक शुद्ध भाव है, वीतरागभाव है, शुद्धात्माभिमुख भाव है ऐसा श्रद्धान ज्ञानीको रखना चाहिये।

समयसारमें कहा है—

अज्झवसिदेण बन्धो सत्ते मारे हिं माव मारे हिं।
एसो बन्धसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ २७४ ॥

वत्थुं पडुच्च तं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं ।
ण हि वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्ति ॥ २७७ ॥
एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२८७॥

भावार्थ—हिंसक परिणाममें वन्ध अवश्य होगा, चाहे प्राणी मरो या न मरो । वास्तवमें जीवोंको कर्मका बंध अपने विकारी भावोंसे होता है, यही बंधका तत्व है । यद्यपि बाहरी पदार्थोंके निमित्तसे अशुद्ध परिणाम होता है । तथापि बाहरी वस्तुओंके कारण बंध नहीं होता है । बंध तो परिणामोंसे ही होता है । जिनके शुभ या अशुभ दोनों ही प्रकारके परिणाम नहीं हैं वे मुनि पुण्य तथा पाप-कर्मोंसे नहीं बंधते हैं । समयसारकलशामें कहा है—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।
किं त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय त-
न्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥ ११–४ ॥

भावार्थ—जबतक मोहनीय कर्मका उदय है तबतक ज्ञानमें पूर्ण वीतरागता नहीं होती है, तबतक मोहका उदय और सम्यग्ज्ञान दोनों ही साथ २ रहते हैं, इसमें कुछ हानि नहीं है, किन्तु यहां जितना अंश कर्मके उदयसे अपने वश विना राग है उतने अंश बंध होगा तथा परसे मुक्त जो परम आत्मज्ञान है वह स्वयं मोक्षका ही कारण है । रत्नत्रयका अंश बंधकारक नहीं है, राग अंश बंध-कारक है । श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड़में कहते हैं—

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं ।
असुहं च अट्टरुद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥ ७६ ॥

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥ ७७ ॥

भावार्थ—जीवोंमें तीन प्रकारके भाव जानने चाहिये। अशुभ, शुभ, शुद्ध आर्त व रौद्रध्यान अशुभभाव हैं, धर्मध्यान शुभभाव है।

शुद्ध भाव आत्माका शुद्ध स्वभाव है, जब आत्मा आत्मामें रमण करता है ऐसा जिनेन्द्रने कहा है। जिससे कल्याण हो उसको आचरण कर। प्रयोजन यहां यह है कि जब भीतरी आशयमें इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा, चिंतवन व भोगाकांक्षा निदानभाव है या हिंसानन्द, मृपानन्द, चौर्यानन्द, परिग्रहानन्द इसतरह चार प्रकारके आर्त या चार प्रकारके रौद्रध्यानमेंसे कोई भाव है तो वह अशुभभाव है। धर्म रत्नत्रय है उसमें प्रेमभाव शुभभाव है। निर्विकल्प आत्मीक भाव शुद्धभाव है।

इससे यह भी झलकाया है कि सम्यग्दृष्टी ज्ञानीके ही शुद्धभाव होता है। मिथ्यादृष्टीके मन्द कषायको व्यवहारमें शुभभाव कहते हैं परंतु उसका आशय अशुभ होनेसे उसमें कोई न कोई आर्त व रौद्र-ध्यान होता है। इसलिये उसे अशुभभावमें ही गिना है। मोक्षका कारण एक शुद्ध भाव ही है, वह आत्मानुभव रूप है।

पुण्यकर्म मोक्ष-सुख नहीं दे सक्ता।

अह पुणु अप्पा ण वि मुणहि पुण्णु वि करइ असेसु।
तउ वि णु पावइ सिद्धसुहु पुणु संसार भमेसु ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(अह पुणु अप्पा ण वि मुणहि) यदि तू आत्माको नहीं जानेगा (असेसु पुण्णु वि करइ) सर्व पुण्य

कर्मको ही करता रहेगा (तउ वि सिद्धि सुहु ण पावइ) तौ भी तू सिद्धके सुखको नहीं पावेगा (पुणु संसार भमेसु) पुनः पुनः संसारमें ही भ्रमण करेगा।

भावार्थ—मोक्षका सुख या सिद्ध भगवानका सुख आत्माका स्वाभाविक व अतीन्द्रिय गुण है। यह बिलकुल परमानंद हरएक आत्माका स्वभाव है। इसका आवरण ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय चारों ही घातीय कर्मोंने कर रखा है। जब इनका नाश होजाता है तब अनंत अतीन्द्रिय सुख अरहंत केवलीके प्रगट हो जाता है, वही सिद्ध भगवानमें या मोक्षमें रहता है। इस सुखके पानेका उपाय भी अपने आत्माका श्रद्धान, ज्ञान व आचरण है। सम्यग्दृष्टीको अपने आत्माके सच्चे स्वभावका पूर्ण विश्वास रहता है। इसलिये वह जब उपयोगको अपने आत्मामें ही अपने आत्माके द्वारा तल्लीन करता है तब आनंदामृतका पान करता है। इस ही समय वीतराग परिणतिसे पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती है व नवीन कर्मोंका संवर होता है। आत्मा आप ही साधक है, आप ही साध्य है। उस तत्वका जिसको श्रद्धान नहीं है वह पुण्यबंधके कारक शुभ मन वचन काय द्वारा अनेक कार्य करता है और चाहता है कि मोक्ष-सुख मिल सके, सो कभी नहीं मिल सक्ता है। जहां मन वचन कायकी क्रियापर मोह है वहां परसे अनुराग है। आत्मासे दूरवर्तीपना है वहां बंध होगा, निर्जरा नहीं होगी।

कोई मानव कठिनसे कठिन तपस्या वा व्रतादि पाले व आप भी पुण्यबंधके अनेक कार्य करे, वह संसार मार्गका ही पथिक है व निर्वाणका पथिक नहीं। वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। वह द्रव्य-लिंगी साधुका चारित्र पालता है। शास्त्रोक्त व्रत समिति गुप्ति पालता है, तप करता है। आत्मज्ञान रहित तपसे वह महान् पुण्य

बांधकर नौमें ग्रैवेयिकमें जाकर अहमिंद्र होजाता है। आत्मज्ञान विना वहांसे चयकर संसार-भ्रमणमें ही रुलता है।

शुद्धोपयोग ही वास्तवमें मोक्षका कारण है। इस तत्वको भले प्रकार श्रद्धानमें रखकर अन्तरात्मा मोक्षमार्गी होता है तब इसकी दृष्टि हरसमय अपने आत्मामें रमणकी रहती है। यह आत्माकी शांत गङ्गामें स्नान करना ही धर्म समझता है। इसके सिवाय सर्व ही मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको अपना धर्म न समझकर बंधका कारक अधर्म समझता है। व्यवहारमें शुभ क्रियाको धर्म कहते हैं परन्तु निश्चयसे जो वन्ध करे वह धर्म नहीं होसक्ता।

जिस समय सम्यग्दर्शनका लाभ होता है उसी समय वह सर्व शुभ प्रवृत्तियोंसे उसी तरह उदास होजाता है। जैसा वह अशुभ प्रवृत्तियोंसे उदास है, वह न मुनिके व्रत न श्रावकके व्रत पालना चाहता है। परन्तु आत्मबलकी कमीसे जब उपयोग अपने आत्माके भीतर अधिक कालतक थिर नहीं रहता है तब अशुभसे वचनेके लिये वह शुभ कार्य करता है। परन्तु उसे बंधकारक ही जानता है। भीतरी भावना यह रहती है कि कब मैं फिर आत्माके ही साथमें रमण करूं। मैं अपने घरसे छूटकर पर घरमें आगया, अपराधी हो गया। सम्यक्ती वन्धकारक शुभ कार्योंसे कभी मोक्षका साधन नहीं मानता है।

जिस साधनसे वीतराग परिणति झलके उसे ही मोक्षमार्ग जानता है। इसलिये वह शुभ कामोंको लाचारीसे करता हुआ भी मोक्षमार्गी है। निश्चय रत्नत्रय ही धर्म है, व्यवहार रत्नत्रय यद्यपि निश्चय रत्नत्रयके लिये निमित्त है तथापि बंधका कारण होनेसे वह निश्चयकी अपेक्षा अधर्म है। ज्ञानी आत्माके कार्यके सिवाय अन्य कार्यमें जानेको अपना अपराध समझता है। ज्ञानमें ज्ञानके रमणको

ही अपना सच्चा हित जानता है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टी चौथे अविरत गुणस्थानमें भी है तौभी वह निरन्तर आत्मानुभवका ही खोजक बना रहता है। वह व्यवहार धर्म पूजा पाठ, जप तप, स्वाध्याय व्रत आदि जो कुछ भी पालता है उसके भीतर वह पुण्यकी खोज नहीं करता है, न वह पुण्यको चाहता है। वह तो व्यवहार धर्मके निमित्तसे निश्चयधर्मको ही खोजता है। जबतक नहीं पाता है तबतक अपना व्यवहार धर्मका साधन केवल पुण्यबंध करेगा ऐसा समझता है।

जैसे चतुर व्यापारी केवल धनको कमानेका प्रेमी होता है—वह हाटमें जाता है, माल खरीदता है, रखता उठाता है, तोलता नापता है, विक्रय करता है। जब धनका लाभ करता है तब ही अपना सर्व प्रयास सफल मानता है। यदि अनेक प्रकार परिश्रम करनेपर भी धनकी कमाई न हो तो वह अपनेको व्यापार करनेवाला नहीं मानता है।

सर्व उद्यम कमानेका करता हुआ भी वह उस उद्यमको धनका लाभ नहीं मानता है। धनका लाभ ही उसका ध्येय है, उस ध्येयकी सिद्धिका उद्यम निमित्त है इसलिये वह उद्यम करता है। परन्तु रात दिन चाहना एक धनके लाभकी है। धनकी वृद्धिको ही अपनी सफलता मानता है। इसी तरह सम्यग्दृष्टी ज्ञानी आत्मानुभवके लाभको ही अपना लाभ मानता है, वह रात दिन आत्मानुभवकी ही खोजमें रहता है। इसी हेतुसे बाहरी व्यवहार धर्मका उद्यम करता है कि उसके सहारेसे परिणाम फिर शीघ्र ही आत्मामें जाकर आत्मस्थ हो जावे। उदाहरणार्थ एक सम्यग्दृष्टी गृहस्थ भगवानकी पूजा करता है, गुणानुवाद गाता है, अरहन्त व सिद्धके आत्मीक गुणोंका वर्णन करते हुए अपने आत्मीक गुणोंका वर्णन मानता है। लक्ष्य अपने आत्मापर होते हुए वह पूजाके कार्यके मध्यमें कभी

कभी अत्यन्त अल्पकालके लिये भी आत्मामें रमण करके आत्मानुभवको पा लेता है, आत्मानन्दका भोगी हो जाता है।

इसीतरह सामायिक करते हुए, पाठ पढ़ते हुए, जप करते हुए, मनन करते हुए आत्मामें थिरता पानेकी खोज करता है। जब उसे कुछ देर भी आत्मानुभव हो जाता है तब यह यात्रादिक करना सफल जानता है। व्यापारी धनका खोजक है, सम्यक्ती आत्मानुभवका खोजक है। आत्मानुभवकी प्राप्तिकी भावना विना शुभ कार्य केवल बन्धहीके कारण हैं। आत्मानुभवका लाभ ही मोक्षके कारणका लाभ है, क्योंकि वहां निश्चय सम्यक्त, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्र तीनों गर्भित हैं। मोक्षकी दृष्टि रखनेवाला मोक्षमार्गी है। संसारकी दृष्टि रखनेवाला संसारमार्गी है।

जो संसारकी दृष्टि रखके भूलसे उसे मोक्षकी दृष्टि मान ले वह मिथ्यादृष्टी है। सम्यग्दृष्टी मोक्षकी दृष्टि रखते हुए शुभ भावोंको बन्धका कारक व शुद्ध आत्मीक भावको मोक्षका कारक मानता है। इसी बातको इस दोहेमें योगीन्द्राचार्यने प्रगट किया है कि व्यवहार धर्ममें उलझकर निश्चय धर्मकी प्राप्तिको भुला न दो। यदि आत्मानुभवका स्वरूप चला गया तो भवभवमें अनन्तवार साधुका चरित पालते हुए भी संसार ही बना रहता है। वह एक कदम भी मोक्षमार्गपर नहीं चल सक्ता इसलिये पुण्य बन्धनके कारक भावोंको मोक्षमार्ग कभी नहीं मानना चाहिये। **समयसार**में कहा है—

वदणियमाणिधरन्ता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी॥ १६०॥
परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं विमोक्खहेदुं अयाणंता॥ १६१॥

भावार्थ—जो व्रत नियम धारे, शील पाले, तप करे, परन्तु निश्चय आत्म-स्वभावके धर्मसे बाहर हो तो वे सब अज्ञानी बहिरात्मा हैं। परमार्थ आत्मतत्वमें जो नहीं समझते वे अज्ञानसे संसार-भ्रमणके कारण पुण्यकी ही वांछा करते हैं। क्योंकि उनको मोक्षके कारणका ज्ञान ही नहीं है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुडमें कहते हैं—

किं काहिदि वहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं तु।
किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥ ९९ ॥

भावार्थ—जो आत्माके स्वभावसे परे है, आत्माको ही अनुभव करता है उसके लिये बाहरी क्रियाकाण्ड क्या फल देसक्ता है। नाना प्रकार उपवासादि तप क्या कर सक्ता है। आतापन योग आदि कायक्लेश क्या कर सक्ता है। अर्थात् मोक्षके साधक नहीं हो सकते। मोक्षका साधन एक आत्मज्ञान है। समाधिशतकमें कहा है—

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते न स निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः ॥ ३३० ॥

भावार्थ—जो कोई शरीरादिसे भिन्न इस प्रकारके ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्माको नहीं जानता है वह उत्कृष्ट तप तपते हुये भी निर्वाणको नहीं पाता है।

आत्मदर्शन ही मोक्षका कारण है।

अप्पादंसण इक्कु पर अण्णु ण किं पि वियाणि।
मोक्खह कारण जोइया णिच्छइं एहउ जाणि ॥१६॥

अन्वयार्थ—(जोइया) हे योगी! (इक्क अप्पादंसण मोक्खह कारण) एक आत्माका दर्शन ही मोक्षका मार्ग है (अण्णु

परु ण किं पि णियाणि) अन्य पर कुछ भी मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा जान (णिच्छइ एहउ जाणि) निश्चयनयने तू ऐसा ही समझ।

भावार्थ—निश्चयनयसे यथार्थ कथन होता है। अथवा इस नयसे उपादान कारणका वर्णन होता है। निश्चयनयसे मोक्षका मार्ग एक अपने आत्माका ही दर्शन है, इसके सिवाय कोई और मार्ग नहीं है। यदि कोई परके आश्रय वर्तन करे व उसीसे मोक्ष होना माने तो वह मिथ्यात्व है। मन वचन काय तीनों ही आत्मासे या आत्माके मूल स्वभावसे भिन्न हैं। आत्माका भिन्न स्वभाव सिद्धके समान है, जहां न मनके संकल्प विकल्प हैं न वचनका व्यापार है न कायकी चेष्टा है। व्यवहार धर्मका सर्व आचरण मन, वचन, कायके आधीन है, इसलिये पराश्रय है। निमित्त कारण तो होसक्ता है परंतु उपादानका कारण नहीं होसक्ता है।

जो कुछ स्वाश्रय हो, आत्माके ही आधीन हो वही उपादान कारण है। जब उपयोग मात्र एक उपयोगके धनी आत्माकी तरफ हो अभेद व सामान्य एक आत्मा ही देखने योग्य हो व आप ही देखनेवाला हो, कहनेको दृष्टा व दृश्य दो हों, निश्चयसे एक आत्मा ही हो। इस निर्विकल्प समाधिमात्रको या स्वानुभवको आत्मदर्शन कहते हैं। यह आत्मदर्शन एक गुप्त तत्व है, वचनसे अगोचर है, मनसे चिंतवन योग्य नहीं है, केवल आपसे ही अपनेको अनुभवने योग्य है।

आत्मा गुण पर्यायवान एक अखण्ड द्रव्य है। मनके द्वारा व वचनके द्वारा खंड रूप होजाता है, आत्माका पूर्णस्वरूप लक्ष्यमें नहीं आसक्ता। इसी लिये सर्व ही मनके विचारोंको छोड़नेकी जरूरत है। जो कोई मौनसे स्वरूप गुप्त होगा वही आत्माके भीतर रमण कर जायगा। गुण गुणीके भेद करनेसे भी आत्माका स्वरूप

हाथमें नहीं आयगा। जितना कुछ व्यापार मन वचन कायका है उससे विमुख होकर जब आत्मा आत्मामें ही विश्राम करता है तब आत्मदर्शन होता है। वहांपर एक सहजज्ञान है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल ये ज्ञानके भेदोंका कोई विकल्प नहीं है।

साधकको पहले तो यह उचित है कि आत्माके स्वभावका व विभावका निश्चय शास्त्रोंके द्वारा कर डाले। आत्मा किस तरह कर्मोंको बांधता है, कर्मोंके उदयसे क्या २ अवस्था होती है, कर्मोको कैसे रोका जावे, कर्मोंका क्षय कैसे हो, मोक्ष क्या वस्तु है, इस-तरह जीवादि सात तत्वोंका ज्ञान भलेप्रकार प्राप्त करना चाहिये। संशय रहित अपने आत्माकी कर्मरोगकी अवस्थाको जान लेना चाहिये। सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार जीवकांड कर्मकांडका ज्ञान आव-श्यक है। तथा व्यवहार चारित्रको भी जानना चाहिये। साधु व श्रावकके आचारका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। पश्चात् निश्चयसे आत्माके स्वभावका ज्ञान होनेके लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य रचित पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसारको या नियमसारको, अष्टपा-हुडको समझकर निश्चय आत्मतत्वको जानना चाहिये कि यह मात्र अपनी ही शुद्ध परिणतिका कर्ता है व अपनी ही शुद्ध परिणतिका ही भोक्ता है। यह परम वीतराग व परमानन्द स्वभावका धारी है।

व्यवहार रत्नत्रयका ज्ञान मात्र निमित्त कारण होनेके लिये सहायकारी है, निश्चय तत्वका ज्ञान स्वानुभवके लिये हितकारी है। साधकको उचित है कि व्यवहार चारित्रके आधारसे जैनधर्मका आचार पाले। जिससे मन, वचन, कायका वर्तन हानिकारक न हो उनको वशमें रखा जासके फिर ध्यानका अभ्यास किया जावे। एकांतमें बैठकर आसन जमाकर पहले तो आत्माको द्रव्यार्थिक नयसे अभेदरूप विचारा जावे।

स्वरूपका मनन शास्त्रकी पद्धतिसे किया जावे। फिर प्रयत्न करके मननको बन्द करके मौनसे ही तिष्ठकर उपयोगको स्वभावके ज्ञान श्रद्धानमें एकाग्र किया जावे। निज आत्माकी झांकी की जावे। अभ्यास करनेवालेको पहले बहुत अल्प समय तक थिरता होगी। अभ्यास करते करते थिरता बढ़ती जायगी। आत्मप्रभुका दर्शन अधिक समयतक होता रहेगा। जिस भावसे नवीन कर्मोंका संवर हो व पुराने संचित कर्मोंकी निर्जरा हो वही भाव एक मोक्षमार्ग हो सक्ता है। आत्माके दर्शनमें व आत्मानुभवमें ही वीतरागभावकी धारा बहती है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकता रहती है। वहीं संवर व निर्जरातत्व झलकते हैं। गृहस्थ हो या त्यागी हो उसे यदि निर्वाणके पदकी भावना है तो आत्माके दर्शन पानेका अभ्यास करना चाहिये।

जिसने आत्माका दर्शन पा लिया उसने ही सच्चा, वीतराग भगवानका दर्शन पाया, उसने ही सच्ची आराधना श्री अरहन्तदेव व सिद्ध परमात्माकी की। उसने ही श्रावक या साधुका व्रत पाला। वही सच्चा निर्वाणका पथिक है, यही आत्मदर्शन मोक्षमार्ग है। यह श्रद्धान जबतक नहीं है तबतक सम्यग्दर्शनका प्रकाश नहीं है, मिथ्यादर्शन है। आत्मदर्शन ही वास्तवमें सम्यग्दर्शन है।

समयसारमें कहा है—

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥ ३२० ॥

भावार्थ—भेदविज्ञानसे जो कुछ ग्रहण करनेयोग्य है वह मैं ही चेतनेवाला हूं, यही निश्चयतत्व है। शेष जितने भाव हैं वे मेरे स्वभावसे भिन्न हैं ऐसा जानकर उनको त्याग देना चाहिये। आपसे आपमें ही रमण करना चाहिये।

मोक्षपाहुडमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो ।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥ १२ ॥
सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ सो साहू ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ॥ १४ ॥
आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवइ ।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहिं ॥ १७ ॥
दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं ।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवइ सद्दव्वं ॥ १८ ॥
जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा दु सुचरित्ता ।
ते जिणवराण मग्गे अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं ॥ १९ ॥

भावार्थ—जो कोई शरीरसे उदास हो, द्वन्द्व या रागद्वेषसे रहित हो, ममकारसे परे हो, सर्व लौकिक व धार्मिक आरंभसे रहित हो, केवल एक अपने आत्माके स्वभावमें भलेप्रकार लीन हो, वही योगी निर्वाणको पाता है। जो अपने ही आत्माके द्रव्यमें लीन है वही साधु या श्रावक सम्यग्दृष्टी है, वही दुष्ट आठों कर्मोंका क्षय करता है। अपने आत्माके स्वभावसे अन्य सर्व चेतन या अचेतन या मिश्र द्रव्य परद्रव्य है ऐसा यथार्थ कथन सर्वदर्शी भगवानने बताया है। दुष्ट आठों कर्मोंसे रहित, अनुपम ज्ञानशरीरी, नित्य, शुद्ध अपना आत्मा ही स्वद्रव्य है ऐसा जिनेन्द्रने कहा है। जो अपने आत्मद्रव्यको ध्याते हैं, परद्रव्योंसे उपयोगको हटाते हैं तथा सुन्दर चारित्रको पालते हैं व जिनेन्द्रके मार्गमें भलेप्रकार चलते हैं वे ही निर्वाणको पाते हैं।

समाधिशतकमें कहा है—

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्त्यात्मानमात्मनि।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत्॥ ८२॥

भावार्थ—शरीरादिसे हटकर अपने आत्माके भीतर अपने आत्माको इसतरह ध्यावे कि स्वप्नमें भी कभी शरीरादिमें अपना मन नहीं जोड़े। सदा अपने आत्माको शुद्ध, परद्रव्यके संगसे रहित ध्यावे।

मार्गणा व गुणस्थान आत्मा नहीं है।

मग्गणगुणठाणइ कहिया ववहारेण वि दिट्ठि।
णिच्छइणइ अप्पा मुणहु जिय पावहु परमेट्ठि॥ १७॥

अन्वयार्थ—(ववहारेण वि दिट्ठि) केवल व्यवहारनयकी दृष्टिसे ही (मग्गणगुणठाणइ कहिया) जीवको मार्गणा व गुणस्थानरूप कहा है (णिच्छइणइ) निश्चयनयसे (अप्पा मुणहु) अपने आत्माको आत्मारूप ही समझ (जिय परमेट्ठि पावहु) जिससे तू सिद्ध परमेष्टीके या अरहंत परमेष्टीके पदको पा सके।

भावार्थ—व्यवहारनय पराश्रित है। दूसरे द्रव्यकी अपेक्षासे आत्माको कुछका कुछ कहनेवाला है। निश्चयनय स्वाश्रित है। आत्माको यथार्थ जैसाका तैसा कहनेवाला है। निश्चयनयसे आत्मा स्वयं अरहन्त या सिद्ध परमात्मा है। आत्मा अभेद एक शुद्ध ज्ञायक है जैसे सिद्ध भगवान हैं। अपनेको शुद्ध निश्चयनयसे शुद्धरूप ध्याना ही साक्षात् परमात्मा होनेका उपाय है, यही मोक्षमार्ग है क्योंकि जैसा ध्यावे वैसा ही हो जावे। समयसारमें कहा है—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि॥ १७६॥

भावार्थ—शुद्ध आत्माको अनुभव करनेसे यह जीव शुद्ध आत्माको पालेता है या शुद्ध होजाता है। जो कोई अपने आत्माको अशुद्ध रूपमें ध्याता है उसको अशुद्ध आत्माका ही लाभ होता है वह कभी शुद्ध नहीं होसकता। इसलिये शुद्ध आत्मा है ऐसा बतानेवाला निश्चयनय है, सो ग्रहण करनेयोग्य है, व्यवहारनय ग्रहण करने योग्य नहीं है, केवल जाननेयोग्य है। आत्माका कर्मसे संयोग अनादिसे चला आरहा है। इस संयोगसे आत्माकी क्या २ अवस्थाएँ होसकती हैं उनका जानना इसलिये जरूरी है कि उनके साथ वैराग्य होजावे। उनको अपने आत्माकी स्वाभाविक अवस्था न मान लिया जावे। व्यवहार नय होसे यह कहा जाता है कि यह आत्मा मार्गणा व गुणस्थानरूप है।

सांसारिक सर्व प्रकारकी अवस्थाओंका बहुतसा ज्ञान चौदह मार्गणाओंसे तथा चौदह गुणस्थानोंसे होता है।

श्री गोम्मटसार जीवकांडके अनुसार उनका स्वरूप पाठकोंके ज्ञान हेतु यहां दिया जाता है—

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोद्दस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति॥ १४१॥
गइइंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्साभवियासम्मत्तसण्णिआहारे॥ १४२॥

भावार्थ—जिन अवस्थाओंके द्वारा व जिन पर्यायोंमें जिसतरह जीव देखे जाते हैं वैसे ही ढूंढ़ लिये जावें, जान लिये जावें, उन अवस्थाओंको मार्गणा कहते हैं, ये मार्गणाएं चौदह हैं—

१ गति, २ इन्द्रिय, ३ कांय, ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७ ज्ञान, ८ संयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११ भव्य, १२ सम्यक्त, १३ संज्ञी, १४ आहार।

प्रायः संसारी जीवोंमें ये चौदह दशाएं हर समय पाई जाती हैं या इनमें खोजनेसे हरएकमें संसारी जीव मिल जावेंगे। इनका स्वरूप व भेद ऐसा है—

१–गति मार्गणा चार प्रकार—

गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवगइत्ति य हवे चदुधा ॥ १४६ ॥

भावार्थ—गति कर्मके उदयसे जो पर्याय होती है या चार गतियोंमें जानेका कारण जो उसे गति कहते हैं। वे चार हैं—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति। हरएक संसारी जीव किसी न किसी गतिमें मिल जायगा। जब एक शरीरको छोड़कर जीव दूसरे शरीरमें जाता है तब बीचमें विग्रहगतिके भीतर उसी गतिका उदय माना जायगा जिसमें जारहा है।

२–इन्द्रिय मार्गणा पांच प्रकार—

अहमिंदा जह देवा अविसेसं अहमहंत्ति मण्णंता।
ईसंति एक्कमेक्कं इंदा इव इन्दिये जाण ॥ १६४ ॥

भावार्थ—अहमिन्द्रोंके समान जो विना किसी विशेपके अपनेको भिन्न अहंकाररूप माने व जो इन्द्रोंके समान एक एक अपना भिन्न २ स्वामीपना रखें, एक दूसरेके साथी न हों, जो भिन्न२ काम करें उनको इन्द्रिय कहते हैं। वे पांच हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। इसीलिये संसारी जीव एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, व पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जिनके आगेकी इन्द्रिय होगी उनके पिछली अवश्य होगी। जिनके श्रोत्र होंगे उनके पिछली चार अवश्य होगी।

३–काय मार्गणा छह प्रकार—

जाईअविणाभावीतसथावरउदयजो हवे काओ।

सो जिणमदह्मि भणिओ पुढवीकायादिछब्भेयो ॥ १८१ ॥

भावार्थ—जाति कर्मके साथ अवश्यमेव रहनेवाले स्थावर तथा त्रस कर्मके उदयसे जो शरीर हो उसको काय कहते हैं, उसके छः भेद जिनमतमें कहे गए हैं–पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्नि या तेज-काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय, छहोंकी शरीरकी रचनामें भेद है, इसलिये छः कायधारी जीव भिन्न२ होते हैं। मांसादि त्रस कायमें ही होता है, स्थावर शेष पांचमें नहीं। वनस्पतिकाय व त्रसकायकी रचनामें पृथ्वी आदि चार काय सहायक हैं।

४–योग मार्गणा पंद्रह प्रकार—

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।

जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥ २१६ ॥

भावार्थ—मन, वचन, काय तीन सहित या वचनकाय दो सहित या मात्र काय सहित जीवके भीतर पुद्गलविपाकी शरीर कर्मके उदयसे जो कर्म व नोकर्मवर्गणाओंको ग्रहण करनेकी शक्ति है उस शक्तिको योग कहते हैं। यह शक्ति जीवमें होती है परंतु इसका काम शरीर नामकर्मके उदयसे होता है। पंद्रह योगोंमेंसे किसीतक योगकी प्रवृत्ति होते हुए योगशक्ति हरसमय जहांतक अयोग केवली जिन न हो वहांतक काम करती रहती है। विग्रहगतिमें कर्मवर्गणाओंको व तैजस वर्गणाओंको, शेष समय इन दोनोंके साथ साथ आहारक वर्गणाओंको, भाषा वर्गणाओंको (द्वेंद्रियादिके), मनोवर्गणाको (सैनीके) ग्रहण करती रहती है।

४ चार मनके—सत्य, असत्य, उभय, अनुभय (जिसे सत्य व असत्य कुछ नही कह सकते)।

४ चार वचनके—सत्य, असत्य, उभय, अनुभय।

७ सात कायके—औदारिक, औदारिक मिश्र (अपर्याप्तके) वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र (अपर्याप्तके), आहारक, आहारक मिश्र, कार्मण-मनुष्य व तिर्यंचोंके औदारिक दोनों, देवनारकियोंके वैक्रियिक दोनों, छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक दोनों, विग्रह-गतिमें कार्मण योग होते हैं तथा केवली समुद्घातमें भी तीन समय कार्मण योग होता है।

५ वेद मार्गणा ३ तीन प्रकार—

पुरुसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरुसिच्छिसंढओ भावे।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा ॥ २७० ॥
वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो।
संमोहेण ण जाणदि जीवो हु गुणं व दोसं वा ॥ २७१ ॥

भावार्थ—पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, नोकषायके उदयसे जो क्रमसे पुरुप, स्त्री या नपुंसक कैसे परिणाम होते हैं उनको **भाव वेद** कहते हैं तथा नामकर्मके उदयसे जो तीन प्रकारकी शरीर रचना होती है उसको **द्रव्यवेद** कहते हैं। प्रायः भाव वेद व द्रव्य वेद समान होते हैं, कहीं २ विसम होते हैं। देव, नारक व भोगभूमियोंमें जैसा द्रव्यवेद होता है वैसा ही भाववेद होता है। किंतु कर्मभूमिके मानव तथा पशुओंमें एक द्रव्य वेदके साथ तीनों ही प्रकारका भाववेद हो सक्ता है। मार्गणामें भाववेदकी मुख्यता है। पुरुप वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, नोकपायकी उदीरणासे जीवके परिणाम मोहित या मूर्छित होजाते हैं तब यह मोही जीव गुण या दोपका विवेक नहीं रखता है। यह कायभाव अनर्थका कारण है।

(६) कपाय मार्गणा—पच्चीस प्रकार—

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं वेंति ॥ २८१ ॥
सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे।
घादंति वा कसाया चउसोलअसंखलोगमिदा ॥ २८२ ॥

भावार्थ—जीवके कर्मरूपी खेतको जो वेमर्याद संसार भ्रमण रूप है व जिसमें सुख दुःख रूपी बहुत धान्य पैदा होते हैं जो कसता है या हल चलाकर बोने योग्य करता है उसको कषाय कहते हैं। अथवा सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरणके घात करनेवाले अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषाय हैं, व देश संयमके घातक अप्रत्याख्यान क्रोधादि चार हैं, व सकल संयमके घातक प्रत्याख्यान क्रोधादि चार हैं, व यथाख्यात चारित्रके परिणामोंको घात करनेवाले संज्वलन क्रोधादि चार व नौ नोकषाय (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद) हैं. इसलिये उनको कषाय कहते हैं। इसके मूल चार या सोलह या पचीस आदि असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं।

(७) ज्ञान मार्गणा आठ प्रकार—

जाणइ तिकालविसए दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणेत्ति णं वेंति ॥ २९८ ॥

भावार्थ—जो भूत, भविष्य, वर्तमान, तीन काल सम्बंधी सर्व द्रव्योंके गुणोंको व उनकी बहुत पर्यायोंको एक काल जानता है उसको ज्ञान कहते हैं। मन व इन्द्रियोंके द्वारा जो जाने सो परोक्ष ज्ञान है। मति, श्रुत, कुमति, कुश्रुत, आत्मा स्वयं जाने सो प्रत्यक्ष ज्ञान है। अवधि, कुअवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान, सम्यग्दर्शन सहित भाव सम्यग्ज्ञान है, मिथ्यादर्शन सहित तीन कुज्ञान हैं।

(८) संयम मार्गणा सात प्रकार—

वदसमिदिकसायाणं दण्डाण तहिंदियाण पंचण्हं।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणियो ॥ ४६४ ॥

भावार्थ—पांच व्रत धारना, पांच समिति पालना, पच्चीस कषायोंको रोकना, मन, वचन, काय तीन दण्डोंका त्याग करना व पांच इन्द्रियोंका जीतना, सो संयम कहा गया है। असंयम, देश-संयम, सामायिक छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय, यथाख्यात, ये सात भेद हैं।

(९) दर्शन मार्गणा चार प्रकार—

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समये ॥ ४८१ ॥

भावार्थ—जो पदार्थोंका सामान्य ग्रहण करना, उनका आकार न जानना, न पदार्थका विशेष समझना सो दर्शन आगममें कहा गया है।

चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल ये चार भेद हैं—

(१०) लेश्या मार्गणा छः प्रकार—

लिंपइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्णपुण्णं च।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा ॥ ४८८ ॥
जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरञ्जिया होइ।
तत्तो दोण्णं कज्जं बन्धचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥ ४८९ ॥

भावार्थ—जिन परिणामोंके द्वारा जीव अपनेमें पुण्य तथा पापकर्मको लेपता है या ग्रहण करता है उनको लेश्या लेश्याके गुणोंके ज्ञायकोंने कहा है। कषायोंके उदयसे रंगी हुई योगोंकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। उससे पुण्य व पापका प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग चार प्रकारका बन्ध होता है।

कृष्ण, नील, कापोत, तीन अशुभ व पीत, पद्म, शुक्ल तीन शुभ लेश्याएं हैं।

(११) भव्य मार्गणा दो प्रकार—

भविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा।
तव्विवरीया भव्वा संसारादो ण सिज्झंति ॥ ५५६ ॥

भावार्थ—जीन जीवोंमें सिद्ध होनेकी योग्यता है वे भव्य हैं। जिनमें यह योग्यता नहीं है वे अभव्य हैं।

(१२) सम्यक्त मार्गणा छः प्रकार—

छप्पञ्चणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ ५६० ॥

भावार्थ—छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, नव पदार्थोंका जैसा जिनेन्द्रने उपदेश किया है वैसा श्रद्धान आज्ञासे या प्रमाणनयके द्वारा होना सम्यक्त है। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, उपशम, वेदक, क्षायिक ये छः भेद हैं।

(१३) संज्ञी मार्गणा दो प्रकार—

णोइन्दियआवरणखओपसमं तज्जवोहणं सण्णा।
सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिंदिअवबोहो ॥ ६५९ ॥
सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीयो असण्णी दु ॥ ६६० ॥

भावार्थ—नो इंद्रिय जो मन उसको रोकनेवाले ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जो बोध होता है उसको संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसको हो वह संज्ञी है। जो केवल इंद्रियोंसे ही जाने वह असंज्ञी है। शिक्षा, क्रियाका उपदेश, वार्तालाप, संकेत वा जो मनके अलंबनसे

कर सके वह जीव संज्ञी है। जो इनको ग्रहण नहीं कर सके वह असंज्ञी है।

(१४) आहार मार्गणा दो प्रकार-

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं।
णोकम्मवग्गणाणं गहणं आहारयं णाम ॥ ६६३ ॥

भावार्थ—उदय प्राप्त शरीरकर्मके उदयसे उस शरीर सम्बन्धी या भाषा या मन सम्बन्धी नो कर्मवर्गणाओंको जो ग्रहण करे वह आहारक है, जो नहीं ग्रहण करे वह अनाहारक है।

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ॥ ८ ॥

भावार्थ—मोहनीय कर्मके उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षयके होनेपर संभव होनेवाले जिन भावोंसे जीव पहचाने जावें उनको सर्वज्ञने गुणस्थान कहा है। ये मोक्षमार्गकी चौदह सीढियां हैं। मोह व योगके सम्बंधसे होती हैं। उनको पार कर जीव सिद्ध होता है। एक समयमें एक जीवके एक गुणस्थान होता है।

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्ठ सुहुमोय ॥ ९ ॥
उवसंतखीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ॥ १० ॥

भावार्थ—१-मिथ्यात्व, २-सासादन, ३-मिश्र, ४-अविरक्त सम्यंक्त, ५-देशविरत, ६-प्रमत्तविरत, ७-अप्रमत्तविरत, ८-अपूर्वकरण, ९-अनिवृत्तिकरण, १०-सूक्ष्मलोभ, ११-उपशांत मोह, १२-क्षीण मोह, १३-सयोग केवली जिन, १४-अयोग केवली जिन। इन चौदह गुणस्थानको पार करके सिद्ध होते हैं।

चौदह गुणस्थान स्वरूप—

(१) मिथ्यात गुणस्थान—

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च अत्थाणं।

एयंतं विबरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं ॥ १५ ॥

भावार्थ—मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे मिथ्यात्व भाव होता है तब तत्वोंका व पदार्थोंका श्रद्धान नहीं होता है, उसके पांच भेद हैं। एकांत (अनेक स्वभावोंमेंसे एकको ही मानना), विपरीत, विनय, संशय, अज्ञान।

(२) सासादन गुणस्थान—

आदिमसम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे।

अणअण्णदरुदयादोणा सियसम्मोत्ति सासणक्खो सो ॥१९॥

भावार्थ—उपशम सम्यक्तके अंतर्मुहूर्त कालके भीतर जब एक समयसे लेकर छः आवली काल शेष रहे तब अनंतानुबन्धी चार कपायोंमेंसे किसी एकके उदयसे सम्यक्तसे छूट कर मिथ्यात्वकी तरफ गिरता है तब बीचमें सासादन भाव होता है।

(३) मिश्र गुणस्थान—

सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण।

ण य सम्मं मिच्छंपि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥ २१ ॥

भावार्थ—जात्यंतर सर्व घाति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे न तो सम्यक्तके भाव होते हैं न मिथ्यात्वके, किन्तु दोनोंके मिले हुए परिणाम होते हैं।

(४) अविरत सम्यक्त गुणस्थान—

सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खयादु खइओ य।

बिदियकसायुदयादो असंजदो होदि सम्मो य ॥ २६ ॥

भावार्थ—अनंतानुबन्धी चार कषाय व मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त प्रकृति इन सात कर्मोंके उपशमसे उपशम सम्यक्त व उनके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त व छहके उदय न होनेसे केवल सम्यक्तके उदयसे वेदक सम्यक्त इस गुणस्थानमें होता है, अप्रत्याख्यान कषायके उदयसे असंयम भी होता है।

(५) देशविरत—

पच्चक्खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरिं दु।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पञ्चमओ॥ ३०॥

भावार्थ—प्रत्याख्यान कषायके उदयसे यहां संयम नहीं होता है, किन्तु कुछ या एकदेशव्रत होता है। इसलिये देशव्रत नामका पंचम गुणस्थान है।

(६) प्रमत्तविरत गुणस्थान—

संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जह्मा।
मलजणणपमादोविय तह्मा हु पमत्तविरदो सो॥ ३२॥

भावार्थ - संज्वलन कषाय चार व नौ नोकषायके उदयसे संयम होता है परंतु अतीचार उत्पन्न करनेवाला प्रमाद भी होता है इसलिये उसे प्रमत्तविरत कहते हैं।

(७) अप्रमत्तविरत गुणस्थान—

णट्ठासेसपमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो॥ ४६॥

भावार्थ—सर्व प्रमादोंसे रहित, व्रत, गुण, शीलसे मंडित ज्ञानी, उपशम व क्षपकश्रेणीके नीचे ध्यानलीन साधु अप्रमत्तविरत है।

(८) अपूर्वकरण गुणस्थान—

अन्तो मुहुत्तकालं गमिऊण अधापवत्तकरणं तं।
पडिसमयं सुज्झंतो अपुव्वकरणं समल्लियइ ॥ ५० ॥

भावार्थ—सातवें गुणस्थानमें एक अन्तर्मुहूर्ततक अधःप्रवृत्त-करण समाप्त करके जब प्रति समय शुद्धि बढ़ाता हुआ अपूर्व परिणामोंको पाता है तब अपूर्वकरण गुणस्थान नाम पाता है।

(९) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान—

एकह्मि कालसमये संठाणादीहिं जइ णिवट्टंति।
ण णिवट्टंति तहावि य परिणामेहिं मिहो जे हु ॥ ५६ ॥
होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामो।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा ॥ ५७ ॥

भावार्थ—शरीरके आकारादिसे भिन्नता होनेपर भी जहां एक समयके परिणामोंमें परस्पर साधुओंके भिन्नता न हो व जिनके हर-समय एकसे ही परिणाम निर्मल बढ़ते हुए हों वे अनिवृत्तिकरण गुणस्थानधारी साधु हैं, जो अति शुद्ध ध्यानकी अग्निकी शिखाओंसे कर्मके वनको जलाते हैं।

(१०) सूक्ष्मलोभ गुणस्थान—

अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहुमसंपराओ सहखादेणूणओ किंचि ॥ ६० ॥

भावार्थ—जो सूक्ष्मलोभके उदयको भोगनेवाला जीव उपशम या क्षपकश्रेणीमें हो वह सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानधारी है, जो यथा-ख्यात संयमीसे कुछ ही कम है।

(११) उपशांतमोह गुणस्थान—

कदकफलजुदजलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।
सयलोवसन्तमोहो उवसन्तकसायओ होदि ॥ ६१ ॥

भावार्थ—कतकफल गेरे हुए जलके समान या शरद् कालमें निर्मल सरोवरके पानीके समान जब सर्व मोहकर्म उपशम हो तब वह साधु उपशांतकषाय नाम गुणस्थानधारी होता है।

(१२) क्षीणमोह गुणस्थान—

णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभावणुदयसमचित्तो।

खीणकसाओ भण्णदि णिग्गंथो वीयरायेहिं ॥ ६२ ॥

भावार्थ—सर्व मोहको नाश करके जिसका भाव स्फटिकमणिके वर्तनमें रक्खे हुए जलके समान निर्मल हो वह निर्ग्रंथ साधु क्षीणकषाय है ऐसा वीतराग भगवानने कहा है।

(१३) सयोगकेवलीजिन गुणस्थान—

केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो।

णवकेवलल्लद्धुग्गमसुजणियपरमप्पववएसो ॥ ६३ ॥

असहायणाणदंसणसहिणो इदि केवली हु जोगेण।

जुत्तोत्ति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥ ६४ ॥

भावार्थ—जिसने केवलज्ञान रूपी सूर्यकी किरणोंसे अज्ञानका नाश कर दिया है व नौ केवललब्धिके प्रकाशसे परमात्मा पद पाया है व जो सहाय रहित केवलज्ञान केवल दर्शन सहित केवली है व योग सहित है उनको अनादि निधन आगममें सयोग केवली जिन कहा है। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत दान, अनंत लाभ, अनंत भोग, अनंत उपभोग, अनंत वीर्य, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र ये नौ केवल लब्धियां हैं।

(१४) अयोगकेवलि जिन गुणस्थान—

सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।

कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥ ६५ ॥

भावार्थ—चारित्रके ईशपनेको प्राप्त व सर्व आस्रवोंसे मुक्त व घातीय कर्मरजसे रहित जीव अयोगकेवलि जिन होते हैं।

पहले पांच गुणस्थान गृहस्थोंके छः से बारह तक साधुओंके व तेरह चौदह दो गुणस्थान परमात्मा अरहंतके होते हैं।

अनादि मिथ्यादृष्टी जीव चार अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्वकर्मको उपशम करके पहलेसे एकदम चौथेमें आकर या कोई भी प्रत्याख्यानकषायका भी उपशम करके एकदम पांचवेंमें आकर या कोई प्रत्याख्यान कषायका भी उपशम करके एकदम सातवेंमें आकर उपशम सम्यक्ती एक अन्तर्मुहूर्तके लिये होता है वह मिथ्यात्वकर्मके तीन खंड कर देता है—मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्तप्रकृति रूप।

इसी कालमें छः आवली तक शेष रहनेपर यदि अनन्तानुबंधी किसी कषायका उदय होजावे तो दूसरे सासादनमें गिरता है, फिर नियमसे पहलेमें आजाता है। यह गुणस्थान उपशमसे गिर करके ही होता है। यदि उपशम सम्यक्तीके मिश्रका उदय आजावे तो तीसरे मिश्र गुणस्थानमें गिरता है। एक दफे मिथ्यात्वमें गिरा हुआ फिर वहांसे तीसरेमें जासक्ता है। यदि सम्यक्त मोहनीयका उदय होजाय तो उपशमसे वेदक सम्यक्ती होजाता है। वेदकसे क्षायिक सम्यक्ती चौथेसे सातवें तक किसीमें होसक्ता है।

चौथेसे पांचवेंमें या सातवेंमें जासक्ता है। पांचवेंसे सातवें चला जाता है, छठेमें नहीं। सातवेंसे छठेमें गिरता है। साधुके छठा सातवां बारबार हुआ करता है। इस पञ्चमकालमें सात गुणस्थान ही हो सक्ते हैं। आगेके गुणस्थान उत्तम संहननवालेंके होते हैं। पंचमकालमें तीन नीचेके संहनन ही होते हैं।

धर्मध्यान सातवें तक होता है, शुक्लध्यान आठवेंसे होता है, सातवेंके आगे दो श्रेणियां हैं—उपशम श्रेणी जहां मोहका उपशम

किया जाता है, उसके गुणस्थान चार हैं–आठवां, नौवां, दशवां, ग्यारहवां। फिर नियमसे क्रमसे पतन होता है। क्षपक श्रेणी जहां मोहका क्षय किया जाता है, उस श्रेणीपर वज्रवृषभनाराच संहनन-धारी ही चढ़ सक्ता है। उसके चार गुणस्थान हैं–आठवां, नौवां, दशवा, ग्यारहवां।

फिर वारहवां गुणस्थानधारी तीन दोष या तीन कर्म क्षय करके तेरहवेंमें जाकर अरहन्त परमात्मा जिनेन्द्र हो जाता है। उसी गुणस्थानमें विहार व उपदेश होता है। आयुके भीतर जब अ, इ, उ, ऋ, ॠ, ऌ, लघु पंच अक्षर उच्चारण मात्र काल शेष रहता है तब चौदहवां गुणस्थान होता है, फिर जीव सिद्ध हो जाता है।

छठे, पांचवें, चौथेसे गिरकर एकदम किसी भी नीचेके गुण-स्थानमें आ सक्ता है, तीसरे व दूसरेसे आकर पहलेमें ही जायगा, तीसरेमें व क्षपकश्रेणीमें व केवलीके तेरहवेंमें मरण नहीं होता है। पहले, चौथे, पांचवें, तेरहवेंका काल उत्कृष्ट बहुत है। शेष सर्व गुण-स्थानोंका काल एक अन्तर्मुहुर्तसे अधिक नहीं है।

एक जीवके चौदह मार्गणाएँ एक साथ पाई जांयगी व गुण-स्थान एक ही होगा। एक प्रमत्तविरत साधुके उपदेश देते हुए इसप्रकार मार्गणाएँ होंगी—

१ मनुष्य गति, २ पंचेन्द्रिय, ३ त्रसकाय, ४ वचनयोग, ५ पुंवेद, ६ लोभ कषाय, ७ श्रुतज्ञान, ८ सामायिक संयम, ९ चक्षु अचक्षुदर्शन, १० शुभ लेश्या, ११ भव्यत्व, १२ वेदक सम्यक्त, १३ संज्ञी, १४ आहारक।

कर्मोंकी अपेक्षासे ही ये गुणस्थान व मार्गणाएँ हैं। इसलिये व्यवहारनयसे कही हैं, निश्चयनयसे जीव इनसे रहित है।

समयसारमें कहा है—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।

गुणठाणन्ताभावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥ ६१ ॥

भावार्थ—वर्णादि, मार्गणा, गुणस्थानादि सर्व भाव व्यवहार-नयसे जीवके कहे गए हैं। निश्चयनयसे ये कोई जीवके नहीं हैं। यह तो परम शुद्ध है।

गृहस्थी भी निर्वाणमार्गपर चलसक्ता है।

गिहिवावार परट्ठिआ हेयाहेउ मुणंति ।

अणुदिणु झायहि देउ जिणु लहु णिव्वाणु लहंति ॥१८॥

अन्वयार्थ—(गिहिवावार परट्ठिया) जो गृहस्थके व्यापारमें लगे हुए हैं (हेयाहेउ मुणंति) तथा हेय उपादेयको त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्यको जानते हैं (अणुदिणु जिणु देउ झायहि) तथा रात दिन जिनेन्द्र देवका ध्यान करते हैं (लहु णिव्वाणु लहंति) वे भी शीघ्र निर्वाणको पाते हैं।

भावार्थ—निर्वाणका उपाय हरएक भव्यजीव करसक्ता है। यहां यह कहा है कि गृहस्थके व्यापार धंधेमें उलझा हुआ मानव भी निर्वाणका साधन करसक्ता है। यह बात समझनी चाहिये कि निर्वाण आत्माका शुद्ध स्वभाव है, वह तो यह आप है ही इस पर जो कर्मका आवरण है उसको दूर करना है। उसका भी साधन एक मात्र अपने ही शुद्ध आत्मीक स्वभावका दर्शन या मनन है। निर्वाणका मार्ग भी अपने पास ही है।

सम्यग्दृष्टी अन्तरात्माके भीतर भेद विज्ञानकी कला प्रगट हो जाती है, जिसके प्रभावसे वह सदा ही अपने आत्माको सर्व कर्म-जालसे निराला वीतराग विज्ञानमय शुद्ध सिद्धके समान श्रद्धान

करता है, जानता है तथा उसका आचरण भी करसक्ता है। जिसकी रुचि होजाती है इसतरह चित्त स्वयंमेव स्थिर होजाता है। आत्म-स्थिरता भी करनेकी योग्यता अविरत सम्यक्ती गृहस्थको होजाती है। वह जब चाहे तब सिद्धके समान अपने आत्माका दर्शन कर सक्ता है।

आत्मदर्शन गृहस्थ तथा साधु दोनों ही कर सक्ते हैं। गृहस्थ अन्य कार्योंकी चिन्ताके कारण बहुत थोड़ी देर आत्मदर्शनके कार्यमें समय देसक्ता है जब कि साधु गृही कार्यसे निवृत्त हैं। उस साधुको गृह सम्बन्धी अनेक कार्योंकी कोई फिकर नहीं है, इस लिये वह निरन्तर आत्मदर्शन कर सक्ता है। निर्वाणका साक्षात् साधन साधुपदमें ही होसक्ता है, गृहस्थमें एकदेश साधन होसक्ता है।

हरएक तत्वज्ञानी अन्तरात्मा गृहस्थको चार पुरुषार्थोंका साधन आवश्यक है। मोक्ष या निर्वाणके पुरुषार्थको ध्येयरूप या सिद्ध करने योग्य मानके निर्वाण प्राप्तिका लक्ष्य रखके अन्य तीन पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, कामका साधन गृहस्थ करता है। तीनोंमें विरोध न पहुंचे इसतरह तीनोंकी एकता पूर्वक कार्य करता है। इतना धर्मका भी साधन नहीं करता है जो द्रव्यको न पैदा कर सके व शरीरसे इंद्रिय भोग न कर सके। इतना द्रव्य कमानेमें भी नहीं लगता है जो धर्मको साधन न कर सके व शरीरको रोगी बनाके जिससे काम पुरुषार्थ न कर सके। इतना इंद्रिय भोग नहीं करता है जिससे धर्म-साधनमें हानि पहुंचे व द्रव्यका लाभ न कर सके।

अर्थ पुरुषार्थके लिये वह अपनी योग्यताके अनुसार नीचे लिखे छः कर्म करता है व इनमें सहायक होता है—

(१) असिकर्म—रक्षाका उपाय शस्त्र धारण करके रक्षाका काम।

(२) मसिकर्म—हिसाब किताब जमाखर्च व पत्रादि लिखनेका काम।

(३) कृषिकर्म—खेती करने व करानेका व प्रबन्ध करनेकी व्यवस्था।

(४) वाणिज्यकर्म—देश परदेशमें मालका क्रय विक्रय करना।

(५) शिल्पकर्म—नाना प्रकारके उद्योगोंसे आवश्यक वस्तुओंको बनाना।

(६) विद्याकर्म—गाना, बजाना, नृत्य, चित्रकारी आदिक हुनर।

काम पुरुषार्थमें वह न्यायपूर्वक व धर्मका खण्डन न करते हुए पांचों इन्द्रियोंके भोग भोगना है। स्पर्शन इन्द्रियके भोगमें अपनी विवाहिता स्त्रीमें सन्तोष रखता है, रसना इन्द्रियके भोगमें शुद्ध व स्वास्थ्यवर्धक भोजनपान ग्रहण करता है, घ्राण इन्द्रियके भोगमें शरीररक्षक सुगन्ध लेता है, चक्षु इन्द्रियके भोगमें उपयोगी ग्रन्थोंका व वस्तुओंका अवलोकन करता है, कर्ण इन्द्रियके भोगमें उपयोगी गानादि सुनता है।

धर्म पुरुषार्थमें वह गृहस्थ नित्य छः कर्मोंका साधन करता है:—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिने दिने॥

(पद्मनंदि श्रावकाचार)

(१) देवपूजा—अरहन्त व सिद्ध परमात्मा—जिनेन्द्रकी भक्ति करना। उसके छः प्रकार हैं—१—नाम लेकर गुण स्मरण नाम भक्ति है। २—स्थापना या मूर्ति द्वारा पूजन, दर्शन व जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल इन आठ द्रव्योंसे पूजन स्थापना भक्ति है। ३—अरहन्त व सिद्धके स्वरूपका विचार द्रव्य भक्ति है। ४—अरहन्त व सिद्धके भावोंका मनन भाव भक्ति है। ५—जिन स्थानोंसे महान पुरुषोंने जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाणको पाया उन

सभीके द्वारा गुण स्मरण क्षेत्र भक्ति है। ६-जिन समयोंमें जन्म, तप, ज्ञान व निर्वाण पाया उन कालोंको ध्यानमें लेकर गुण स्मरण काल भक्ति है। छः प्रकारसे देवपूजा होती है। यथासम्भव नित्य करे।

(२) गुरु भक्ति—आचार्य, उपाध्याय, साधुकी विनय, सेवा, उनसे उपदेश ग्रहण यदि प्रत्यक्ष न हो तो परोक्ष उनकी शिक्षाको मान्य रखना गुरुसेवा है।

(३) स्वाध्याय—तत्वज्ञान पूर्ण अध्यात्मिक शास्त्रोंको पढ़ना व सुनना व विचारना।

(४) संयम—नियमित आहारादि करना, स्वच्छंद वर्तन न करना।

(५) तप—प्रातःकाल व संध्याकाल कुछ देर तक आत्मध्यानका अभ्यास करना, सामायिक पाठ पढ़ना, आत्माका स्वरूप विचारना।

(६) दान—भक्तिपूर्वक धर्मात्मा मुनि, आर्यिका, श्रावक श्राविकाको व दयाभावसे प्राणी मात्रको आहार, औषधि, अभय व ज्ञान दान देना। तथा आठ मूलगुणोंको पालना। वे मूलगुण भिन्न भिन्न आचार्योंके मतसे नीचे प्रकार हैं:—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुः गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥ ६६ ॥ (रत्न० श्रा०)

भावार्थ—१-मदिरा नहीं पीना, २-मांस नहीं खाना, ३-मधु नहीं खाना, क्योंकि मक्खियोंका घातक है व हिंसाकारक है। इन तीन मकारोंको नहीं सेवना, तथा पांच अणुव्रतोंको पालना।

(१) अहिंसा अणुव्रत-संकल्पी हिंसा नहीं करना। जैसे शिकारको मांसाहारके लिये धर्मार्थ पशुवध, वृथा मौजशौकमें प्राणी

पीड़ा करना आदि, आरम्भी हिंसा जो अर्थ व काम पुरुषार्थके साधकमें आवश्यक है उसको यह साधारण गृहस्थी त्याग नहीं कर सक्ता है, वृथा आरम्भी भी नहीं करता है।

(२) सत्य अणुव्रत—सत्य बोलता है पर पीड़ाकारी वचन नहीं बोलता है। कटुक निन्दनीय भाषा नहीं बोलता है। आरम्भसाधक वचनोंको त्याग नहीं कर सकता।

(३) अचौर्य अणुव्रत—गिरी पड़ी व भूली हुई किसीकी वस्तु नहीं ग्रहण करता है। चोरी, लूटपाट, विश्वासघातसे बचता है।

(४) ब्रह्मचर्य अणुव्रत—स्वस्त्रीमें सन्तोष रखके वीर्यकी रक्षा करता है।

(५) परिग्रह त्याग अणुव्रत—तृष्णाके घटानेके लिये सम्पत्तिका प्रमाण कर लेता है। उतनी मर्यादा पूरी होनेपर परोपकार व धर्मार्थ जीवन बिताता है।

यह गृहस्थी इस वाक्यपर ध्यान रखता है—

सर्वमेव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्तहानिर्न यत्र न व्रतदूषणं ॥

भावार्थ—जैन गृहस्थ उन सर्व लौकिक नियमोंको मान कर लेगा कि जिनसे अपनी श्रद्धामें व पांच अणुव्रतोंमें बाधा नहीं आवे। सामाजिक नियमोंका परिवर्तन उस आधारपर कर सक्ता है।

श्री जिनसेनाचार्य महापुराणमें कहते है—

हिंसाऽसत्यस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्टमूलगुणाः ॥

भावार्थ—स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रहका त्याग तथा जुआ नहीं खेलना, मांस नहीं खाना, मदिरा नहीं पीना, ये गृहस्थीके आठ मूलगुण हैं।

पण्डित आशाधर सागारधर्मामृतमें कहते हैं—

मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती ।

जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥ १८२ ॥

भावार्थ—ये भी आठ मूलगुण हैं-(१) मदिरा त्याग, (२) मांस त्याग, (३) मधु त्याग, (४) रात्रिभोजन त्याग, (५) पांच फल गूलर, पाकर, वड़, पीपल, कठूमर, अंजीर त्याग, (६) पांच परमेष्टी भक्ति, (७) जीव दया, (८) जल छानकर पीना।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।

हिंसाव्युपरतकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥ ६१ ॥

भावार्थ—हिंसासे वचनेवालेको प्रथम ही मदिरा, मांस, मधुको त्यागना व ऊपर कहे पांच फल न खाने चाहिये।

आत्मज्ञानी गृहस्थ जिनेन्द्रका व अपने आत्माका स्वभाव एक समान जानता है इसलिये निरन्तर जिनेन्द्रके ध्यानसे वह अपना ही ध्यान करता है। गृहस्थ सम्यग्दृष्टी आत्माके चिंतवनको परम रुचिसे करता है। शेष कामोंको कर्मोंके उदयवश लाचार होकर करता है। उत्त गृहस्थके ज्ञानचेतनाकी मुख्यता है। गृहस्थके रागद्वेषपूर्वक कामोंमें व कर्मफलभोगमें भीतरसे समभाव है। भावना यह रखता है कि कब कर्मका उदय टले जो मैं गृह प्रपंचसे छूटूं।

समाधिशतकमें कहा है—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।

कुर्यादर्थवशात् किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ ५० ॥

भावार्थ—ज्ञानी सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानके सिवाय अन्य कार्यको बुद्धिमें देरतक नहीं धारता है। प्रयोजनवश कुछ काम कहना हो

उसमें आसक्त न होकर वचन व कायसे कर लेना है ।

समयसार कलशमें कहा है—

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना ।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥ ३—७ ॥

भावार्थ—ज्ञानी विषयोंको सेवन करते हुए भी विषय सेवनके फलको नहीं भोगता है । वह तत्वज्ञानकी विभूति व वैराग्यके बलसे सेवते हुए भी सेवनेवाला नहीं है । समभावसे कर्मका फल भोगनेपर कर्मकी निर्जरा बहुत होती है, बन्ध अल्प होता है, इसलिये सम्यग्दृष्टी गृहस्थ निर्वाणका पथिक होकर संसार घटाता है । उसकी दृष्टि स्वतन्त्रतापर रहती है, संसारसे उदासीन है, प्रयोजनके अनुकूल अर्थ व काम पुरुषार्थ साधता है व व्यवहार धर्म पालता है, परंतु उन सबमें वैरागी है । प्रेमी मात्र एक अपने आत्मानुभवका है, उससे यह शीघ्र ही निर्वाणको पानेकी योग्यताको बढ़ा लेता है ।

जिनेन्द्रका स्मरण परम पदका कारण है ।

जिण सुमिरहु जिण चिंतवहु जिण झायहु सुमणेण ।
सो झाहंतह परमपउ लब्भइ इक्कखणेण ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(सुमणेण) शुद्धभावसे (जिण सुमिरहु) जिनेन्द्रका स्मरण करो (जिण चिंतवहु) जिनेन्द्रका चिन्तवन करो (जिण झायहु) जिनेन्द्रका ध्यान करो (सो झाहंतह) ऐसा ध्यान करनेसे (इक्कखणेण) एक क्षणमें (परमपउ लब्भइ) परमपद प्राप्त होजाता है ।

भावार्थ—जिनेन्द्रके स्वभावमें व अपने आत्माके मूल स्वभावमें कोई प्रकारका अन्तर नहीं है । सम्यग्दृष्टी अन्तरात्मा आत्माके

उत्कृष्ट पदका परमप्रेमी होजाता है। उसके भीतर यह अनुकम्पा पैदा होजाती है कि जिनके समान होते हुए भी इसे भवभवमें जन्म मरणके कष्ट सहने पड़े यह बात ठीक नहीं है। इसे तो जिनके समान स्वतंत्र व पूर्ण व पवित्र बना देना चाहिये। यह पर्यायकी अपेक्षा अपने आत्माको अशुद्ध रागी द्वेषी, अज्ञानी, कर्मबद्ध, शरीरमें कैद पाता है व श्री जिनेन्द्र भगवानको शुद्ध वीतरागी, ज्ञानी, कर्ममुक्त व शरीरसे रहित देखता है तब गाढ़ प्रेमालु व उत्साहित होजाता है कि शुद्ध पदमें अपने आत्माको शीघ्र पहुंचा देना चाहिये। वह जिन पदको आदर्श या शुद्धताका नमूना मानके हरसमय उनको धारणामें रखता है।

गृहस्थीके काम व आहार विहारादि करते हुये भी बार बार जिनदेवको स्मरण करता है। कभी देवपूजादि व सामायिकके समय जिनपदके स्वरूपका–जिनकी गुणावलीका चिन्तवन करता है। चिन्तवन करते करते क्षणमात्रके लिये स्थिर होता है। आपको जिन भगवानके स्वरूपमें जोड़ देता है। दोको एकी भावमें कर देता है। अर्हतके शुद्ध भावमें एकतान होजाता है तब वास्तवमें उसी क्षण आत्माका साक्षात्कार पाकर निर्वाणकासा आनन्द अनुभव करता है। ध्यानमें थिरता कम होने पर फिर ध्यानसे छूटकर चिन्तवन करने लगता है। फिर ध्यानको पालेता है। फिर आनंदका अमृत पीने लगता है। इसतरह जिन समान अपने आत्माका ध्यान ही परमपदके निकट लेजानेका वाहन होजाता है। यदि कोई साधु वज्र-वृषभनाराच संहननका धारी लगातार एक मुहूर्त या ४८ मिनटसे कुछ कम समयतक ध्यानमें एकतान होजावे तो चारों घातीय कर्मोंका क्षय करके अरहंत परमात्मा होजावे। फिर उस शरीरके पीछे शरीर-रहित सिद्ध होजावे।

जैसे कोई स्त्री पतिके परदेश जानेपर अपना घरका काम करती हुई भी वार वार पतिको स्मरण करती है, कभी स्थिर वैठकर पतिके गुणोंको व प्रेमको विचार करती है। विचारते २ कभी प्रेममें आसक्त हो पतिसे मिलनेकासा सुख अनुभव करती है। इसी तरह जिनेन्द्र पदका प्रेमी अन्तरात्मा ज्ञानी गृहस्थ हो या साधु आत्माके कार्यके सिवाय अन्य कामोंको करते हुये जिनेन्द्रका वार वार स्मरण करता है। कभी एकांतमें स्थिर वैठकर गुणोंको विचारता है, कभी ध्यानमें लीन होजाता है। उसका जितना प्रेम जिन भगवानके स्वरूपमें है उतना किसी वस्तुसे नहीं है, ज्ञानी अंतरात्मा शुद्ध वीतराग भावसे जिन भगवानका स्मरण, चिन्तवन व उनका ध्यान करता है। किसी प्रकारकी वांछा व फलकी चाहना नहीं रखता है। उसके भीतर संसारके सर्व क्षणिक पदोंसे पूर्ण वैराग्य है। वह इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके पदोंको भी नहीं चाहता है। न वह इंद्रियोंके तृष्णावर्द्धक भोगोंको चाहता है, न वह अपनी पूजा या प्रसिद्धि चाहता है। वह कषाय कालिमाको बिलकुल मेटना चाहता है, वीतराग होना चाहता है, स्वानुभव प्राप्त करना चाहता है, निजानंद रस पान करना चाहता है। इसलिये वह मुमुक्षु शुद्ध निर्लेप भावसे जिनेन्द्र भगवानका स्मरण चिंतवन व ध्यान करता है। यह उसको ज्ञान है कि भक्ति करनेसे या सविकल्प चिंतवन करनेसे या निर्विकल्प ध्यान करनेसे भी जितना अंश राग भाव होगा, वह कर्मबन्ध करेगा, पुण्यको भी वांधेगा व पुण्यका फल भी होगा। परंतु वह ज्ञानी पुण्यको व पुण्यके फलको बिलकुल चाहता नहीं है। वह तो कर्म रहित पदको ही चाहता है।

इस ज्ञानीके भीतर सम्यग्दर्शनके आठ अंग भलेप्रकार अंकित रहते हैं। वह ज्ञानी इन आठ अंगोंका मनन इसतरह रखता है कि

मुझे अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें या जिनपरमात्मामें कोई संशय नहीं है, न मुझे मरणका रोगादिका व किसी अकस्मात्का भय है। मेरा आत्मा अमूर्तीक अभेद्य अछेद्य अविनाशी है। इसका कोई बिगाड़ कर नहीं सक्ता है। इसतरह स्वरूपमें निशंक व निर्भय होकर **निःशंकित** अंग पालता है। इस ज्ञानीको कर्मोंके आधीन क्षणिक, तृष्णावर्द्धक, पापबन्धकारी इंद्रिय सुखोंकी रंचमात्र लालसा या आसक्ति नहीं होती है। यह पूर्णपने वैरागी है। केवल अपने अतीन्द्रिय आनन्दका प्यासा है। उस परमानन्दके सिवाय किसी प्रकारके अन्य सुखकी व स्वानुभवके सिवाय अन्य किसी व्यवहार धर्मकी या मोक्षपद्के निज पद्के सिवाय अन्य किसी पदकी वांछा नहीं रखता है। वे चाह तो शुद्ध भाव रखता हुआ **निष्कांक्षित** अङ्गको पालता है। ज्ञानी छः द्रव्योंको व उनके गुणोंके व उनकी होनेवाली स्वाभाविक व वैभाविक पर्यायोंको पहचानता है। सर्व ही जगतकी व्यवस्थाको नाटकके समान देखता है। किसीको बुरी व भली माननेका विचार न करके घृणाभावकी कालिमासे दूर रहकर व समभावकी भूमिमें तिष्ठकर **निर्विचिकित्सित** अङ्गको पालता है।

वस्तु स्वरूपको ठीक ठीक जाननेवाला ज्ञानी जैसे अपने आत्माको द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयसे एक व अनेकरूप देखता है वैसे अन्य जगतकी आत्माओंको देखता है, वह किसी बातमें मूढ़भाव नहीं रखता है। वह धर्म, अधर्म, आकाश, काल चार द्रव्योंको स्वभावमें सदा परिणमन करते हुए देखता है। पुद्गलकी स्वाभाविक व वैभाविक पर्यायोंको पुद्गलकी मानता है। जीवकी स्वाभाविक व वैभाविक वैमित्तिक पर्यायोंको जीवकी जानता है। उपादेय एक अपने शुद्ध द्रव्यको ही जानता है। इसतरह ज्ञानी वस्तु स्वभावका ज्ञाता होकर **अमूढ दृष्टि** अंग पालता है। ज्ञानी

सर्व रागादि दोषोंसे परे रहकर व कषायके मैलको मैल समझकर उनसे रहित अपने वीतराग स्वभावके अनुभवमें जमकर अपने भीतर अनन्त शुद्ध गुणोंको प्रकाश करता है, दोषोंसे उपयोग हटाकर आत्मीक गुणोंमें अपनेको झलकाता हुआ उपगूहन या उपबृंहन अंगको पालता है।

ज्ञानी जानता है कि रागद्वेषोंकी पवन लगनेसे मेरा आत्मीक समुद्र चंचल होगा। इसलिये वीतरागभावमें स्थिर होकर व ज्ञान चेतनामय होकर आत्मानंदके स्वादमें तन्मय हो स्थितिकरण अङ्गको पालता है। अपने उपयोगको आत्माकी भूमिमें रमनेसे बाहर नहीं जाने देता है। ज्ञानी जीव सर्व जगतकी आत्माओंको एकसमान शुद्ध व परमानंदमय देखकर परम शुद्ध प्रेमसे भरकर ऐसा प्रेमालु होजाता है कि सर्व विश्वको एक शांतिमय समुद्र बनाकर उस समुद्रमें गोते लगाता है। शुद्ध विश्व-प्रेमको रखकर वात्सल्य अङ्ग पालता है। वह ज्ञानी अपने निर्मल उपयोगरूपी रथमें परमात्माको विराजमान करके ध्यानके मार्गमें रथको चलाकर अपने आत्माकी परम शांत महिमाको विस्तार करके प्रभावना अङ्ग पालता है। इस तरह आठ अंगोंसे विभूषित ज्ञानी शुद्ध भावसे श्री जिनेन्द्रका स्मरण, चिन्तवन व ध्यान करता हुआ निर्वाणके अचल नगरको प्रयाण करता है। समाधिशतकमें कहा है—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥ ९७ ॥

भावार्थ—जैसे बत्ती दीपकसे भिन्न है तौभी दीपककी सेवा करके स्वयं दीपक होजाती है वैसे यह भिन्न परमात्माकी उपासना करके स्वयं परमात्मा हो जाता है।

भावपाहुडमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

णाणम्मविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण।

वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ॥ १२५ ॥

भावार्थ—भव्यजीव शुद्धभावसे ज्ञानमई निर्मल शीतल जलको पीकर व्याधि, जरा, मरणकी वेदनाकी दाहसे छूट कर शिवरूप मुक्त होजाते हैं। आप्तस्वरूपमें कहा है कि—

रागद्वेषादयो येन जिताः कर्ममहाभटाः।

कालचक्रविनिर्मुक्तः स जिनः परिकीर्तितः ॥२१॥

भावार्थ—जिसने रागद्वेषादिको व कर्मरूपी महान योद्धाओंको जीता है व जो मरणके चक्रसे रहित है वही जिन कहा गया है।

अपनी आत्मामें व जिनेन्द्रमें भेद नहीं।

सुद्धप्पा अरु जिणवरहं भेउ म किमपि वियाणि।

मोक्खह कारण जोईया णिच्छइ एउ वियाणि ॥२०॥

अन्वयार्थ—(जोईया) हे योगी! (सुद्धप्पा अरु जिणवरहं किमपि भेउ म वियाणि) अपने शुद्धात्मामें और जिनेन्द्रमें कोई भी भेद मत समझो (मोक्खह कारण णिच्छइ एउ वियाणि) मोक्षका साधन निश्चयनयसे यही मानो।

भावार्थ—मोक्ष केवल एक अपने ही आत्माकी परके संयोगरहित शुद्ध अवस्थाका नाम है। तब उसका उपाय भी निश्चयनयसे या पर्यायमें यही है कि अपने आत्माको शुद्ध अनुभव किया जावे तथा श्री जिनेन्द्र अरहंत या सिद्ध परमात्माके समान ही अपनेको माना जावे।

जब ऐसा माना जायगा तब अनादिकी मिथ्या वासनाका अभाव होगा। अनादिसे यही मिथ्याबुद्धि थी कि मैं नर हूं, नारकी हूं, तिर्यंच हूं या देव हूं या मैं रागी हूं, द्वेषी हूं, क्रोधी हूं, मानी हूं, मायावी हूं, लोभी हूं, कामी हूं, रूपवान हूं, बलवान हूं, रोगी हूं, निरोगी हूं, बालक हूं; युवान हूं, वृद्ध हूं। मैं जन्मा, मैं वृद्ध हुआ, मैं मरा, आठ कर्मोंके उदयके विपाकसे जो विभाव दशा आत्माकी होती थी उसीको यह अज्ञानी अपनी ही मूल दशा मान लेता था। कर्मकृत रचनामें अहंबुद्धि रखता था, शरीरके सुखमें सुखी व शरीरके दुःखमें दुःखी मानता था। जैसे कोई सिंहका बालक सिंह होके भी दीन पशु बना रहता है वैसे ही अज्ञानसे वह अपनेको दीन हीन संसारी मान रहा था। श्री गुरुके प्रसादसे, या शास्त्रके ज्ञानसे या स्वयं ही उसकी जब ज्ञानकी आंख खुली उसको यह प्रतीति हुई कि मैं तो स्वयं भगवान प्रभू परमात्मा हूं। मेरा स्वभाव सिद्ध परमात्मासे रंच मात्र कम नहीं है। मैं तो संसारके प्रपंचोंसे रहित हूं, मैं कर्मोंसे अलिप्त हूं, परम वीतरागी हूं, परमानन्दमय हूं, जितने अनन्तगुण सिद्ध परमात्मामें हैं वे सब मेरे आत्मामें हैं। मैं अमूर्तीक अखण्ड ज्ञानमूर्ति हूं, केवल आपसे आपमें आपहीके लिये आपमेंसे आपको आप ही परिणमाता हूं।

मैं ही अपनी शुद्ध परिणतिका कर्ता हूं, शुद्ध परिणाम ही मेरा कर्म है। शुद्ध परिणाम ही कारण है। यही संप्रदान है, अपादान है, यही अधिकरण है, प्रथमामें इन छहों कारकोंके विचारसे रहित एक अभेद स्वरूप हूं, मैं स्वयं रागादिक भावोंका या पुण्य पाप-कर्मका कर्ता नहीं हूं, मैं केवल अपने ही शुद्ध व अतीन्द्रिय सहज आनंदका भोगनेवाला हूं। मैं सांसारिक सुखका या दुःखका भोगनेवाला नहीं हूं।

मैं सिद्धके समान परम निश्चल हूं, भोगकी चंचलतासे रहित हूं, मन वचन कायके पंद्रह योगोंसे शून्य हूं, मैं कर्म तथा नोकर्मका आकर्षण करनेवाला नहीं। न मेरेमें अजीव तत्व है' न आस्रव तत्व है, न बन्ध तत्व है, न संवर तत्व है, न निर्जरा तत्व है, न मोक्ष तत्व है। मैं तो सदा ही शुद्ध जीवत्वका धारी एक जीव हूं। सुख, सत्ता, चैतन्य (स्वानुभूति), बोध ये चार ही मेरे निज प्राण हैं जिनसे मैं सदा जीवित हूं।

जैसे सिद्ध भगवान कृतकृत्य हैं वैसे मैं कृतकृत्य हूं। न वे जगतके चिनेवाले हैं न मैं जगतका रचनेवाला हूं, न वे किसीको सुख या दुःख देते हैं, न मैं किसीको सुख या दुःख देता हूं, वे जगतके प्रपंचसे निराले, मैं भी जगतके प्रपंचसे निराला हूं, वे असंख्यातप्रदेशी अखण्ड है, मैं भी असंख्यातप्रदेशी अखण्ड हूं। वे अन्तिम शरीरप्रमाण आकारधारी हैं, मैं अपने शरीरप्रमाण आकार-धारी हूं परंतु प्रदेशोंकी संख्यामें कम नहीं हूं। वे सिद्ध भगवान सर्व गुणस्थानकी श्रेणियोंसे बाहर हैं। मैं भी गुणस्थानोंसे दूरवर्ती हूं। सिद्ध भगवान चौदह मार्गणाओंसे परे हैं, मैं भी चौदह मार्गणाओंसे जुदा हूं।

सिद्ध भगवान तृष्णाकी दाहसे रहित हैं, मैं भी तृष्णाकी दाहसे रहित हूं। सिद्ध भगवान कामवासनासे रहित हैं, मैं भी कामविका-रसे रहित हूं। सिद्ध भगवान न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है। मैं भी न स्त्री हूं, न पुरुष हूं, न नपुंसक हूं। सिद्ध भगवान क्रोधकी कालिमासे रहित परम क्षमावान हैं, निन्दकपर रोष नहीं करते। मैं भी क्रोधके विकारसे रहित परम क्षमावान हूं, निन्दकपर समभावका धारी हूं। सिद्ध भगवान कुल, जाति, रूप, बल, धन, अधिकार, तप, विद्या इन आठ मदोंसे रहित परम कोमल परम मार्दव गुणधारी हैं।

मैं भी आठों मदोंसे रहित पूर्ण निरभिमानी व परम कोमल मार्दव भावका धनी हूं। सिद्ध भगान मायाचारकी वक्रतासे रहित परम सरल सहज आर्जव गुण धारी हैं, मैं भी कपट–जालसे शून्य परम निष्कपट सरल आर्जव स्वभाव धारी हूं।

सिद्ध भगवान् असत्यकी वक्रतासे रहित परम सत्य अमिट एक स्वभावधारी है। मैं भी सर्व असत्य कल्पनाओंसे रहित परम-पवित्र सत्य शुद्ध धर्मका धनी हूं। सिद्ध भगवान लोभके मलसे रहित परमपवित्र शौच गुणके धारी हैं; मैं भी सर्व लालसासे शून्य परम सन्तोषी व परम शुद्ध शौच स्वभावका स्वामी हूं। सिद्ध भगवान् मन व इन्द्रियोंके प्रपंचसे व अदयाभावसे रहित पूर्ण संयम धर्मके धारी हैं, मैं भी मन व इन्द्रियोंकी चञ्चलतासे रहित व परमस्वदयासे पूर्ण परम संयम गुणका धारी हूं। सिद्ध भगवान आपसे ही अपनी स्वानुभूतिकी तपस्याको निरंतर तपते हुए परम तप धर्मके धारी हैं। मैं भी स्वात्माभिमुख होकर अपनी ही स्वात्मरमणताकी अग्निमें निरन्तर आपको तपाता हुआ परम इच्छा रहित तप गुणका स्वामी हूं। सिद्ध भगवान् परम शांतभावसे पूर्ण होते हुए व परम निर्भयताको धारते हुए विश्वमें परम शांति व अभय दानको विस्तारते हुए परम त्याग धर्मके धारी हैं। मैं भी सर्व विश्वमें चन्द्रमाके समान परम शांत अमृत वर्षाता हुआ व सर्व जीवमात्रको अभय करता हूं, परम त्याग गुणका स्वामी हूं।

सिद्ध भगवान एकाकी निस्पृह निरंजन रहते हुए परम आकिंचन्य धर्मके धारी हैं, मैं भी परम एकांत स्वभावमें रहता हुआ व परके संयोगसे रहित परम आकिंचन्य गुणका स्वामी हूं। सिद्ध भगवान् परमशील स्वभावमें व अपने ही ब्रह्मभावमें रमण करते हुए परम ब्रह्मचर्य धर्मके धारी हैं। मैं भी अपने ही शुद्ध शील स्वभावमें

निर्विकारतासे स्थिर होता हुआ व ब्रह्मभावका भोग करता हुआ परम ब्रह्मचर्य गुणका स्वामी हूं। सत्ताधारी होते हुए भी स्वभावकी व गुणोंकी अपेक्षा मेरे आत्माकी व सिद्ध परमात्माकी पूर्ण एकता है। जो वह सो मैं, जो मैं सो वह, इस तरह जो योगी निरन्तर अनुभव करता है वही मोक्षका साधक होता है।

परमात्मप्रकाशमें कहा है—

जेहउ णिम्मलु णाणमउ, सिद्धिहिं णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभुपरु, देहहं मंकरि भेउ॥ २६॥

भावार्थ—जैसा निर्मल ज्ञानमय परमात्मादेव सिद्ध गतिमें निवास करते हैं, परमब्रह्म परमात्मा इस अपने शरीरमें निवास करता है, कुछ भेद न जाने। वृहद् सामायिकपाठमें कहते हैं—

गौरो रूपवरो दृढः परिदृढः स्थूलः कृशः कर्कशो।
गीर्वाणो मनुजः पशुर्नरकभूः षंढः पुमानंगना॥
मिथ्यात्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढोऽविबुध्यात्मनो।
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्वव्यपायच्युतं॥ ७०॥

भावार्थ—हे मूढ़ प्राणी! तू अपने आत्माको नित्य, ज्ञानमय स्वभावी, निर्मल व सर्व आपत्तियोंसे व नाशसे रहित नहीं जानके ऐसी मिथ्या कल्पना करता रहता है कि मैं गोरा हूं, रूपवान हूं, बलिष्ट हूं, निर्बल हूं, मोटा हूं, पतला हूं, कठोर हूं, मैं देव हूं, मनुष्य हूं, पशु हूं, नारकी हूं, नपुंसक हूं, पुरुष हूं, व स्त्री हूं।

मोक्षपाहुड़में कहा है—

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं॥ २६॥

भावार्थ—जो जीव भयानक संसार-समुद्रसे निकलना चाहता है तो वह शुद्धात्माको ध्यावे। उसीसे कर्म इंधन भस्म होगा।

आत्मा ही जिन है, यही सिद्धांतका सार है।

जो जिणु सो अप्पा मुणहु इह सिद्धंतहु सारु।
इउ जाणेविण जोयइहु छंडहु मायाचारु॥ २१॥

अन्वयार्थ—(जो जिणु सो अप्पा मुणहु) जो जिनेन्द्र है वही यह आत्मा है ऐसा मनन करो (इह सिद्धंतहु सारु) यही सिद्धांतका सार है। (इउ जाणेविण) ऐसा जानकर (जोयइहु) हे योगीजनो! (मायाचारु छंडहु) मायाचार छोड़ो।

भावार्थ—तीर्थंकरोंके द्वारा जो दिव्यध्वनि प्रगट होती है वही सिद्धांतका मूल श्रोत है। उस वाणीको गणधरादि मुनि धारणामें लेकर द्वादशांगकी रचना करते हैं, फिर उसीके अनुसार अन्य आचार्य ग्रंथ रचते हैं। उन ग्रंथोंका विभाग चार अनुयोगोंमें किया गया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग इन चारों हीके पढ़नेका सार इतना ही है जो अपने आत्माको परमात्माके समान समझ लिया जावे।

श्री रत्नकरंड श्रावकाचारमें स्वामी समन्तभद्र कहते हैं—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः॥ ४३॥

भावार्थ—प्रथमानुयोग उसको कहते हैं जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंका कथन हो, महापुरुषोंके जीवनचरित्र हों, चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, नौ बलभद्र, ऐसे त्रेसठशलाका पुरुषोंके चरित्र हों, जिसके पढ़नेसे

पुण्यका बंध हो, जो रत्नत्रयकी प्राप्ति व समाधिका भंडार हो, जो सम्यग्ज्ञानका प्रदर्शक हो। निश्चय रत्नत्रय व समाधि अपने ही शुद्धात्माको परमात्मा रूप निश्चय करनेसे होती है। प्रथमानुयोगमें दृष्टांतोंके द्वारा बताया है कि जिन्होंने अपनेको शुद्ध समझके पूर्ण वैरागी होकर आत्मध्यान किया था वे ही निर्वाणको पहुंचे हैं। इसलिये यह अनुयोग भी आत्मतत्त्वके झलकानेवाला है।

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥ ४४ ॥

भावार्थ—करणानुयोगमें लोक अलोकके विभागका, कालके गुणोंके पलटनेका व चारों गतियोंकी भिन्न भिन्न जीवोंकी अवस्थाओंका, मार्गणा व गुणस्थानोंका दर्पणके समान ठीक २ वर्णन है—जिससे सम्यग्ज्ञानका प्रकाश होता है। कर्मोंके संयोगसे सांसारिक अवस्था व विभाव परिणतियाँ किसतरह होती हैं उन सबका सूक्ष्म कथन करके यह झलकाया है कि जहांतक कर्मोंका संयोग नहीं छूटेगा भवभ्रमण नहीं हटेगा व आत्मा तो स्वभावसे कर्मरहित शुद्ध है।

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥ ४५ ॥

भावार्थ—जिसमें गृहस्थी व साधुओंके चारित्रकी प्राप्ति वृद्धि व रक्षाका उपाय बताया हो व जो सम्यग्ज्ञानको प्रगट करे वह चरणानुयोग है। इसमें भी निश्चय चारित्र स्वात्मानुभवको बताते हुए उसके लिये निमित्त साधनरूप श्रावक व मुनिके व्यवहार चारित्रके पालनका उपाय बताया है व यह समझाया है कि निश्चय आत्मतत्वके भीतर चर्याके विना व्यवहार चारित्र केवल मोक्षमार्ग नहीं है। आत्माको परमात्मा रूप अनुभव करेगा तब ही सम्यक्चारित्र होगा।

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥ ४६ ॥

भावार्थ—द्रव्यानुयोग वह है जो दीपकके समान जीव अजीव तत्वोंको, पुण्य पापको, बंध व मोक्षको तथा भाव श्रुतज्ञानके प्रकाशको प्रगट करे। इसमें व्यवहारनयसे सात तत्वोंका स्वरूप बताकर फिर निश्चयनयसे बताकर यह झलकाया है कि यह अपना आत्मा ही परमात्मा है, यही ग्रहण करनेयोग्य है। मोक्षका उपाय एक शुद्ध आत्माका ज्ञान है।

जो आत्माको ठीकर समझना चाहे व आत्माको निर्वाण पथपर ले जाना चाहे उसका कर्तव्य है कि वह चारों ही अनुयोगोंके ग्रन्थोंका मर्मी हो व चारों हीमें अपने आत्माके शुद्ध तत्वकी झांकी करे। तब पूर्ण निश्चय हो जायगा कि मोक्षमार्ग व द्वादशांग वाणीका सार एक अपने ही आत्माको शुद्ध परमात्माके समान अनुभव करना है।

समयसारमें कहा है—

जो हि सुदेणाभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ॥ ९ ॥

भावार्थ—द्वादशांग वाणीके द्वारा अपने आत्माको परके संयोग रहित केवल शुद्ध अनुभव करता है उसीको लोकके ज्ञाता महात्रृषियोंने निश्चयसे श्रुतकेवली कहा है। सर्व ग्रंथोंका सार यही है कि कपटको छोड़कर यथार्थ यह जान ले कि मैं ही परमात्मा देव हूं, आपहीके ध्यानसे शुद्धता प्राप्त होगी।

मैं ही परमात्मा हूं।

जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु।
इउ जाणेविणु जोइआ अण्णु म करहु वियप्पु ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(जोइआ) हे योगी! (जो परमप्पा सो जि हउं) जो परमात्मा है वही मैं हूं (जो हउं सो परमप्पु) तथा जो मैं हूं सो ही परमात्मा है (इउ जाणेविणु) ऐसा जानकर (अण्णु वियप्प म करहु) और कुछ भी विकल्प मत कर।

भावार्थ—यहां और भी दृढ़ किया है कि व्यवहारकी कल्पनाओंको छोड़कर केवल एक शुद्ध निश्चयनयसे अपने आत्माको पहचान। तब आप ही परमात्मा दीखेगा। अपने शरीररूपी मन्दिरमें परमात्मादेव साक्षात् दिख पड़ेगा। शास्त्रोंका ज्ञान संकेत मात्र है। शास्त्रके ज्ञानमें ही जो उलझा रहेगा उसको अपने आत्माका दर्शन नहीं होगा।

यह आत्मा तो शब्दोंसे समझमें नहीं आता, मनसे विचारमें नहीं आता। शब्द तो क्रम क्रमसे एक एक गुण व पर्यायको कहते हैं। मन भी क्रमसे एक एक गुण व पर्यायका विचार करता है। आत्मा तो अनन्तगुण व पर्यायोंका एक अखण्ड पिंड है। इसका सच्चा बोध तब ही होगा कि जब शास्त्रीय चर्चाओंको छोड़कर व सर्व गुणस्थान व मार्गणाओंके विचारको बन्द करके व सर्व कर्मबन्ध व मोक्षके उपायोंके प्रपंचको त्याग करके व सर्व कामनाओंको दूर करके व सर्व पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे परे होकरके व सर्व मनके द्वारा उठनेवाले विचारोंको रोक करके बिलकुल असंग होकरके अपने ही आत्माको अपने ही आत्माके द्वारा ग्रहण किया जायगा तब अपने आत्माका साक्षात्कार होगा। वह आत्मतत्व निर्विकल्प है अभेद है।

इसलिये निर्विकल्प होनेसे ही हाथमें आता है। जब तक रंच मात्र भी माया, मिथ्या, निदानकी शल्य भीतर रहेगी व कोई प्रकारकी कामना रहेगी व कोई मिथ्यात्वकी गंध रहेगी तब तक आत्माका दर्शन नहीं होगा। यही कारण है जो ग्यारह अंग नौ पूर्वके धारी द्रव्यलिंगी मुनि शास्त्रोंका ज्ञान रखते हुये भी व घोर तपश्चरण करते हुये भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। क्योंकि वे शुद्धात्माकी श्रद्धा पर अनुभवसे पूर्ण हो नहीं पहुंचते हैं, उनके भीतर कोई मिथ्यात्वकी शल्य व निदानकी शल्य ऐसी सूक्ष्म रहजाती है जिसको केवलज्ञानी ही जानते हैं। शास्त्रोंका ज्ञान आत्माके स्वरूपको समझनेके लिये जरूरी है। जाननेके पीछे व्यवहार नयके वर्णनको छोड़ करके शुद्ध निश्चयनयके द्वारा अपने आत्माका मनन करे, मनन करते समय भी मनका आलम्बन है। मनन करते करते जब मनन बंद होगा व उपयोग स्वयं स्थिर हो जायगा तब स्वानुभव होगा, तब ही आत्माका परमात्मा रूप दर्शन होगा व परमानंदका स्वाद आयगा। मैं ही परमात्मा हूं ऐसा विकल्प न करते हुये भी परमात्मापनेका अनुभव होगा। परदेशसे कोई फल ऐसा आया है जिसके स्वादको हम नहीं जानते हैं, हमने उसका स्वाद लिया नहीं है, तब हमारा पहले तो कर्तव्य है कि हम फलके गुण व दोष किसी जानकारसे जिसने स्वयं स्वाद लिया है पूछ कर ठीक २ समझलें कि यह फल गुणकारी है, स्वास्थ्यवर्द्धक है, मिष्ट है, इत्यादि। जाननेके पीछे हमको उस फलके संबंधकी चर्चा या विचारावली छोड़कर फलको रसनाके निकट लेजाकर व अन्य ओरसे उपयोगको रोककर उस उपयोगको फलके स्वाद लेनेमें जोड़ना होगा, तब हमको एकाग्र होनेपर ही उस फलके स्वादका यथार्थ बोध होगा। यदि हम उस फलको खाते नहीं हम कभी भी उस फलके स्वादको नहीं पहचान पाते।

लाखों आदमियोंसे फलके गुण सुननेपर भी व पुस्तकोंसे फलके गुण जाननेपर भी हम कभी फलको ठीकर नहीं जान पाते। जैसे फलका स्वाद अनुभवगम्य है वैसे ही आप परमात्मा अनुभवगम्य है।

समयसारकलशमें कहा है-

भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः॥ १२-१॥

भावार्थ—जो कोई बुद्धिमान विवेकी भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालके कर्मबंधको अपनेसे एकदम दूर करके व सर्व मोहको बलपूर्वक त्याग करके अपने ही भीतर निश्चयसे अपनेको देखता है तो उसे साक्षात् यह देखनेमें आयगा कि मैं ही सर्व कर्मकलङ्ककी कीचसे रहित अविनाशी एवं परमात्मा देव हूं जिसकी महिमा उसीको विदित होती है जो स्वयं अपने आत्माका अनुभव करता है।

तत्वानुशासनमें कहा है—

कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहं।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना॥ १६४॥

भावाथ—मैं सदा ही कर्मोंके निमित्तसे या समतासे होनेवाले सर्व ही भावोंसे जुदा हूं, ऐसा जानकर अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्माको देखे कि यह परम उदासीन एक ज्ञायक स्वभाव है।

आत्मा असंख्यातप्रदेशी लोकप्रमाण है ।

सुद्धपएसह पूरियउ लोयायासपमाणु ।

सो अप्पा अणुदिण मुणहु पावहु लहु णिव्वाणु ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(लोयायासपमाणु सुद्धपएसह पूरियउ) जो लोकाकाशप्रमाण असंख्यात शुद्ध प्रदेशोंसे पूर्ण है (सो अप्पा) यही यह अपना आत्मा है (अणुदिण मुणहु) रातदिन ऐसा ही मनन करो व अनुभव करो (णिव्वाणु लहु पावहु) व निर्वाण शीघ्र ही प्राप्त करो ।

भावार्थ—पहले बारंबार कहा है कि आत्माका दर्शन निर्वाणका मार्ग है । यहां बताया है कि आत्माका आकार लोकाकाश-प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है । कोई भी वस्तु जो अपनी सत्ता रखती है कुछ न कुछ आकार अवश्य रखती है। आकार विना वस्तु अवस्तु है । हरएक द्रव्यमें छः सामान्य गुण पाए जाते हैं—

(१) अस्तित्व—वस्तुका सदा ही बना रहना । हरएक वस्तु सदासे है, उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप सत्पनेको लिये हुए है । वे पर्यायके उपजने विनशनेकी अपेक्षा उत्पाद व्यय व बने रहनेकी अपेक्षा ध्रौव्य है ।

(२) वस्तुत्व—सामान्य विशेष स्वभावको लिये हुए हरएक वस्तु कार्यकारी है, व्यर्थ नहीं है ।

(३) द्रव्यत्व—स्वभाव या विभाव पर्यायोंमें हरएक वस्तु परि-णमनशील है तौ भी अखण्ड बनी रहती है ।

(४) प्रमेयत्व—वस्तु किसीके द्वारा जाननेयोग्य है । यदि जानी न जावे तो उसकी सत्ता कौन बतावे ।

(५) अगुरुलघुत्व—वस्तु कभी अपने भीतर पाए जानेवाले गुणोंको कम या अधिक नहीं करती है। मर्यादासे कम या अधिक नहीं होती है।

(६) प्रदेशत्व—हरएक वस्तु कुछ न कुछ आकार रखती है, प्रदेशोंको रखती है, क्षेत्रको घेरती है। जितने आकाशको एक अविभागी पुद्गल परमाणु रोकता है उतने सूक्ष्म आकाशको एक प्रदेश कहते हैं। यह एक माप है। इस मापसे लोकव्यापी छः द्रव्योंकी माप की जावे तो एक जीव द्रव्य, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश चारों समान असंख्यात प्रदेशधारी हैं। आकाश अनंत प्रदेशधारी है। कालाणु एक प्रदेशधारी है।

अनंत आकाशके मध्यमें लोकाकाश है, इसमें छहों द्रव्य सर्वत्र हैं। धर्म, अधर्म एक एक लोकव्यापी है, कालाणु असंख्यात अलग २ हैं, सब लोकमें पूर्ण हैं। पुद्गल परमाणु व स्कंधरूपमें सर्वत्र हैं। जीव सूक्ष्म शरीरधारी एकेन्द्रिय सर्वत्र हैं, बादर कहीं कहीं हैं। कोई स्थान इन छः विना नहीं है। जीवद्रव्य अखण्ड होनेपर भी मापमें लोकाकाश प्रमाण असंख्यातप्रदेशी है। जैन सिद्धांतमें अल्प या बहुत्वका ज्ञान करानेके लिये गणनाके २१ भेद बताए हैं—संख्यात तीन प्रकार—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। असंख्यात ३ प्रकार—परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात, असंख्यातासंख्यात, हरएक जघन्य, मध्यम, उत्कृष्टसे नौ प्रकार, अनंत नौ प्रकार परीतानंत, युक्तानंत, अनंतानंत, हरएक जघन्य मध्यम, उत्कृष्ट तीनों प्रकार। मनुष्यकी बुद्धि अल्प है इससे कम व अधिकका अनुमान होनेके लिये २१ भेद गणनाके बताए हैं।

हरएक आत्मा अखंड असंख्यातप्रदेशी है तथा वह परम शुद्ध है। सर्व ही प्रदेश शुद्ध हैं, स्वभावसे स्फटिकके समान निर्मल हैं।

कर्ममल, नोकर्ममल, रागादि भाव कर्ममलसे रहित हैं, रत्नके समान परम प्रकाशमान है, ज्ञानमय है, पानीके समान सर्व जाननेयोग्यको झलकानेवाले हैं, आकाशके समान निर्लेप है। अपने आत्माको शुद्ध असंख्यातप्रदेशी ध्यानमें लेकर अपने शरीरके भीतर ही देखना चाहिये। यद्यपि यह आत्मा शरीरके भीतर व्याप्त है, शरीर प्रमाण आकारधारी हैं तथापि प्रदेशोंमें असंख्यात ही है।

इस आत्मामें संकोच विस्तार शक्ति है। नामकर्मके उदयसे शरीरप्रमाण आकारको प्राप्त हो जाता है। जैसे दीपकका प्रकाश छोटे बड़े वर्तनमें रक्खा हुआ वर्तनके समान आकारका हो जाता है। साधकको अपने भीतर ऐसे आत्माके आकारको शुद्ध देखना चाहिये। अपनी ही मूर्तिके समान आत्माकी मूर्तिको तदाकार देखना चाहिये। जिस आसनसे ध्यान करें उसी आसनरूप पद्मासन या पर्यंकासन या कायोत्सर्ग अपने आत्माको शुद्ध देखना चाहिये। सिद्धका आकार भी अंतिम शरीरप्रमाण पद्मासन आदि किसी आकार रूप है। प्रदेश अमूर्तीक द्रव्योंके अमूर्तीक व मूर्तीक पुद्गलके मूर्तीक होते हैं। जीव वर्ण, गंध, रस, स्पर्शसे रहित अमूर्तीक है। उसके सर्व प्रदेश भी अमूर्तीक हैं।

गोम्मटसार जीवकांडमें कहा है—

आगासं वज्जित्ता सव्वे लोगम्मि चेव णत्थि बहिं।
वावी धम्माधम्मा अवट्ठिदा अचलिदा णिच्चा ॥ ५८२ ॥
लोगस्स असंखेज्जदिभागप्पहुदिं तु सव्वलोगोत्ति।
अप्पपदेसविसप्पणसंहारे वावडो जीवो ॥ ५८३ ॥
पोग्गलदव्वाणं पुण एयपदेसादि होंति भजणिज्जा।
एक्केको दु पदेसो कालाणूणं धुवो होदि ॥ ५८४ ॥

संखेज्जासंखेज्जाणंता वा होंति पोग्गलपदेसा।
लोगागासेव ठिदी एगपदेसो अणुस्स हवे ॥ ५८५ ॥
लोगागासपदेसा छद्दव्वेहिं फुडा सदा होंति।
सव्वमलोगागासं अण्णेहिं विवज्जियं होदि ॥ ५८६ ॥

भावार्थ—धर्म, अधर्म द्रव्य स्थिर चंचलता रहित लोक व्यापी हैं, लोकके बाहर नहीं हैं। जीव अपने प्रदेशोंको संकोच विस्तारके कारण लोकके असंख्यातवें भागसे लेकर सर्वलोकमें भरे हैं। पुद्गल द्रव्य एक प्रदेशको लेकर सर्वत्र है। स्कंधकी अपेक्षा उसके प्रदेश परमाणुकी गणनासे संख्यात असंख्यात तथा अनंत होते हैं। कालाणु एक एक प्रदेश रखते हुए ध्रुव असंख्यात है। लोकाकाशके प्रदेश छः द्रव्यसे भरे हुये सदा रहते हैं। अलोकाकाशमें अन्य पांच द्रव्य नहीं हैं। इसतरह नित्य बने रहनेवाले लोकमें अपने आत्माको शुद्ध आकारमें देखना चाहिये।

तत्वानुशासनमें कहा है—

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः ॥ १४७ ॥

भावार्थ—अपने आत्माको ऐसा ध्यावे कि यह चेतन है, असंख्यात प्रदेशी है, वर्णादि मूर्ति रहित है, शुद्ध स्वरूपी है, सिद्धके समान है व ज्ञान दर्शन लक्षणवान है।

व्यवहारसे आत्मा शरीरप्रमाण है।

णिच्छइ लोयपमाण मुणि ववहारइ सुसरीरु।
एहउ अप्पसहाउ मुणि लहु पावहु भवतीरु ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ-(णिच्छइ लोयपमाण ववहार सुसरीरु मुणि) आत्माको लोकप्रमाण व व्यवहार नयसे अपने शरीरके प्रमाण जानो (एहउ अप्पसहाउ मुणि) ऐसे अपने आत्माके स्वभावको मनन करते हुए (भवतीरु लहु पावहु) यह जीव संसारके तटको शीघ्र ही पालेता है अर्थात् शीघ्र ही संसार-सागरसे पार होजाता है।

भावार्थ—यह आत्मा देव हरएक संसारी जीवके भीतर उसके शरीरभरमें व्यापकर रहता है, उसके असंख्यात प्रदेश संकोचकर शरीरप्रमाण होजाते हैं। आत्मामें संकोच विस्तार शक्ति है जो नाम-कर्मसे उदयसे काम करती है। एक छोटा बालक जन्मके समय अपने छोटे शरीरमें उतने ही प्रमाणमें अपने आत्माको रखता है। जैसे २ उसका शरीर फैलता है आत्मा भी फैलता है। लोकमें सबसे छोटा शरीर लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म निगोद जीवका होता है। जो घनांगुलके असंख्यातवें भाग है व सबसे बड़ा महामत्स्यका होता है, जो मत्स्य अन्तिम समुद्र स्वयंभूरमणमें होता है। मध्यलोकमें असंख्यात द्वीप व समुद्र हैं। एक दूसरेसे दूने दूने चौडे हैं। पहला मध्यमें जम्बूद्वीप है जो एक लाख योजन चौड़ा है।

यह मच्छ एक हजार योजन लम्बा होता है। बीचकी अवगाहनाके अनेक शरीर होते हैं। एक सूक्ष्म निगोद शरीरधारी जीव संसारमें भ्रमण करते हुए कभी महामत्स्य होसकता है व महात्स्य भ्रमण करते हुए कभी सूक्ष्म निगोद होसकता है। तौभी आत्माके प्रदेश असंख्यातसे कम नहीं होते हैं। जैसे एक कपडेकी चादर पचास गजकी हो, उसको तह कर डाले तो एक गजके विस्तारमें होसकती है, मापमें ५० गजसे कम नहीं है। इसीतरह आत्माके प्रदेश संकोचसे कम प्रदेशके देहमें आजाते हैं। अतएव निश्चयनयसे तो यह जीव असंख्यात प्रदेश ही रखता है, व्यवहारमें शरीरप्रमाण कहते हैं।

शरीरमें रहते हुए भी सात प्रकारके समुद्घातके समय जीव शरीरके प्रदेशोंको फैलाकर शरीरके बाहर होता है, फिर शरीरप्रमाण होजाता है।

गोम्मटसार जीवकांडमें कहा है—

मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिण्डस्स।
णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु ॥ ६६७ ॥

वेयणकसायवेगुव्वियो य मरणंतियो समुग्घादो।
तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु ॥ ६६६ ॥

आहारमारणंतियदुगंपि णियमेण एगदिसिगं तु।
दसदिसि गदा हु सेसा पंच समुग्घादया होंति ॥ ६६८ ॥

भावार्थ—मूल शरीरको न छोड़कर उत्तर देह अर्थात् कार्मण, तैजस देह सहित आत्माके प्रदेशोंका शरीरसे बाहर निकलनेको समुद्घात कहते हैं। उसके सात भेद हैं:—

(१) वेदना—तीव्र रागादिके कष्टसे शरीरको न छोड़कर प्रदेशोंका बाहर होना।

(२) कषाय—तीव्र कषायके उदयसे परके घातके लिये प्रदेशोंका बाहर जाना।

(३) विक्रिया—अपने शरीरको छोटा या बड़ा करते हुए या एक शरीरके भिन्न अनेक शरीर न करते हुए आत्माके प्रदेशोंका फैलाना, जैसा देव, नारकी, भोगभूमिवासी तथा चक्रवर्तीको या ऋद्धिधारी साधुको होता है।

(४) मारणांतिक—मरणके अंतिम अंतर्मुहूर्तमें जहांपर मरके जन्म लेना हो उस क्षेत्रको स्पर्श करनेके लिये आत्माके प्रदेशोंका बाहर जाना फिर लौट आना तब मरना।

(५) तैजस—इसके दो भेद हैं–अशुभ तैजस, शुभ तैजस। किसी अनिष्ट कारणको देखकर क्रोधसे संतप्त संयमी महामुनिके मूलशरीरको न छोड़कर सिंदूरके वर्ण बारह योजन लम्बा नव योजन चौड़ा सूच्यंगुलके संख्यातवें भाग मोटा अशुभ आकृति सहित बांए कंधेसे पुरुषाकार निकलके विरुद्ध वस्तुको भस्म कर फिर उस मुनिको भी भस्म कर दे व उसे दुर्गति पहुंचाये सो अशुभ तैजस है। जगतको रोग व दुर्भिक्ष आदिसे पीड़ित देखकर जिस संयमी मुनिको करुणा उत्पन्न होजावे उसके दाहने कंधेसे पूर्वोक्त प्रमाणधारी शुभ आकार-वाला पुरुषाकार निकलकर रोगादि मेटकर फिर शरीरमें प्रवेश कर जावे सो शुभ तैजस है।

(६) आहार—ऋद्धिधारी मुनिको कोई तत्वमें संशय होनेपर व दूर न हो सकनेपर उसके मस्तकसे शुद्ध स्फटिकके रंगका एक-हाथप्रमाण पुरुपाकार निकलकर जहां कहीं केवली हों उनके दर्शन करनेसे संशयको मिटाकर अन्तर्मुहूर्तके भीतर लौट आता है।

(७) केवलि—आयुकर्मकी स्थिति कम व शेष कर्मोंकी स्थिति अधिक होनेपर केवलज्ञानीके आत्मप्रदेश लोकव्यापी होकर फिर शरीरप्रमाण हो जाते हैं, आहार व मारणांतिक समुद्घातोंमें एक दिशा ही की तरफ प्रदेशोंका फैलाव होकर गमन होता है, जब कि शेप पांचोंमें दशों दिशाओंमें गमन होता है।

इन ऊपर सात कारणोंके सिवाय जीव शरीरप्रमाण रहता है व सिद्ध भगवानका आत्मा भी अन्तिम शरीरप्रमाण रहता है। नाम-कर्मका नाश हो जानेके पीछे उसके उदयके विना प्रदेशोंका संकोच या विस्तार नहीं होता है।

इष्टोपदेशमें पूज्यपाद महाराज कहते हैं—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥ २१॥

भावार्थ—यह आत्मा लोकालोकको देखनेवाला अत्यंत सुखी नित्य द्रव्य है, स्वानुभवसे ही इसका दर्शन होता है। व अपने शरीरके प्रमाण है। अतएव परमानंदपद अपने शुद्ध आत्मादेवको शरीरके प्रमाण आकारधारी मनन करे व ध्यावे तो शीघ्र ही निर्वाण पावे।

जीव सम्यक्त विना ८४ लाख योनिमें भ्रमण करता है।

चउरासीलक्खह फिरिउ काल अणाइ अणंतु।
पर सम्मत्त ण लद्धु जिउ एहउ जाणि णिभंतु॥२५॥

अन्वयार्थ—(अणाइ काल) अनादिकालसे (चउरासी लक्खह फिरिउ) यह जीव ८४ लाख योनियोंमें फिरता आरहा है (अणंतु) व अनंतकाल तक भी सम्यक्त विना फिर सक्ता है। (पर सम्मत्त ण लद्धु) परन्तु अबतक इसने सम्यग्दर्शनको नहीं पाया (जिउ) हे जीव! (णिभंतु एहउ जाणि) निःसंदेह इस बातको जान।

भावार्थ—सत्पदार्थोंका समूह होनेसे यह लोक तथा संसार अनादि-अनंत है। संसारी जीव अनादिसे ही कर्मबन्धसे ग्रसित हैं व नए कर्म बांधते हैं, पुराने कर्मोंको छोड़ते हैं। मोहनीयकर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टी अज्ञानी, असंयमी होरहे हैं। उनको शरीरका व इंद्रियोंके सुखोंका व इंद्रियसुखके सहकारी पदार्थोंका तीव्र मोह रहता है। इसीसे वे संसारमें नाना शरीरोंको धार करके भ्रमण किया करते हैं।

सम्यग्दर्शन आत्माका स्वभाव झलका देता है। इंद्रिय सुखसे श्रद्धा हटा देता है। संसार शरीर भोगोंसे वैराग्यभाव पैदा कर देता है, स्वाधीनता या मोक्षका उत्साही बना देता है। अतीन्द्रिय आनन्दका भोक्ता कर देता है। सम्यक्तके प्रकाशसे संसारके भ्रमणसे अरुचि होजाती है। एक दफे सम्यक्त होजानेपर यह जीव संसार दशामें अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन कालसे अधिक नहीं रहता है। यद्यपि वहां भी अनंतकाल है तथापि सीमित है। सम्यक्ती शीघ्र ही निर्वाणका भागी होजाता है।

सम्यक्तके विना यह जीव नरकके भवोंमें दशहजार वर्षकी आयुसे लेकर तेतीस सागर तक, तिर्यञ्चगतिके भवोंमें एक अंतर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्यकी आयु तक, मनुष्यगतिके भवोंमें एक अंतर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्यकी आयु तक, देवगतिके भवोंमें दशहजार वर्षकी आयुसे लेकर नौमें ग्रैवेयिकके इकतीस सागरकी आयु तकके सर्व जन्म वारवार धारण कर चुका है। नौ ग्रैवेयिकसे ऊपर नौ अनुदिश व पांच अनुत्तरोंमें व मोक्षमें सम्यग्दृष्टी ही जाता है। संसार-भ्रमणकी योनियां चौरासीलाख हैं। जहां संसारी जीव उत्पन्न होते हैं उसको योनि कहते हैं, वे मूलमें नौ हैं।

श्री गोमट्टसार जीवकांडमें कहा है—

सामण्णेण य एवं णव जोणीओ हवंति वित्थारे।
लक्खाण चदुरसीदी जोणीओ होंति णियमेण ॥ ८८ ॥
णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिंदियेसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा ॥ ८९ ॥

भावार्थ—मूल भेद योनियोंके गुणोंके सामान्यसे नौ होते हैं—सचित्त, अचित्त, मिश्र तीन; शीत, उष्ण, मिश्र तीन; संवृत (ढकी),

विवृत (खुली) व मिश्र तीन। हरएक योनिमें तीनोंमेंसे एक एक गुण रहेगा। जैसे सचित्त, शीत व संवृत हो या अचित्त शीत संवृत हो इत्यादि। इसीके ८४ लाख भेद गुणोंकी तरतमताकी अपेक्षासे हैं। वे इसप्रकार हैं—

(१) नित्य निगोद साधारण वनस्पति जीवोंकी	७	लाख	योनियां
(२) चतुर्गति या इतरनिगोद साधा० वन० ,,	७	,,	,,
(३) पृथ्वीकायिक जीवोंकी	७	,,	,,
(४) जलकायिक जीवोंकी	७	,,	,,
(५) अग्निकायिक जीवोंकी	७	,,	,,
(६) वायुकायिक जीवोंकी	७	,,	,,
(७) प्रत्येक वनस्पति जीवोंकी	१०	,,	,,
(८) द्वेन्द्रिय जीवोंकी	२	,,	,,
(९) तेन्द्रिय जीवोंकी	२	,,	,,
(१०) चौन्द्रिय जीवोंकी	२	,,	,,
(११) देवोंकी	४	,,	,,
(१२) नारकियोंकी	४	,,	,,
(१३) पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंकी	४	,,	,,
(१४) मनुष्योंकी	१४	,,	,,
कुल	८४	लाख	योनियां

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें सम्यक्तकी महिमा बताई है—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ ३४ ॥
सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥ ३५ ॥

भावार्थ—तीन लोकमें व तीन कालमें सम्यग्दर्शनके समान जीवका कोई भी हितकारी नहीं है तथा मिथ्यादर्शनके समान जीवका कोई भी बुरा करनेवाला नहीं है। सम्यग्दर्शनको शुद्ध पालनेवाले जीव पांच अहिंसादि व्रतोंसे रहित होनेपर भी मरकरके नारकी, पशु व नपुंसक व स्त्री, नीच कुलवाले, अंग रहित, अल्प आयुधारी व दरिद्री नहीं होते हैं। यदि सम्यक्तके पहले नरक, तिर्यंच या अल्प आयु बांधी हो तो पहले नर्कमें, व भोगभूमिमें जायेंगे।

साधारण नियम है कि देव व नारकी सम्यक्ती मरके मनुष्य होंगे व मनुष्य व पशु सम्यक्ती मरके स्वर्गवासी देव होंगे, मनुष्यणी व देवी नहीं होंगे। आत्मदर्शन सम्यक्तीको होजाता है, यही निर्वाण पहुंचा देता है।

शुद्ध आत्माका मनन ही मोक्षमार्ग है।

सुद्धु सचेयणु बुद्धु जिणु केवलणाणसहाउ।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु जइ चाहउ सिवलाहु ॥२६॥

अन्वयार्थ—(जइ सिवलाहु चाहउ) यदि मोक्षका लाभ चाहते हो तो (अणुदिणु सो अप्पा मुणहु) रात दिन उस आत्माका मनन करो जो (सुद्धु) शुद्ध वीतराग निरंजन कर्मरहित है (सचेयणु) चेतना गुणधारी है या ज्ञान चेतनामय है (बुद्धु) जो स्वयं बुद्ध है (जिणु) जो संसार-विजयी जिनेन्द्र है (केवल-णाणसहाउ) व जो केवलज्ञान या पूर्ण निरावरण ज्ञान स्वभावका धारी है।

भावार्थ—यहां निर्वाणको शिव कहा है। क्योंकि निर्वाणपद परम कल्याणरूप व परमानन्दमय है। एक दफे आत्मा शुद्ध होजाता है, फिर अशुद्ध नहीं होता है। जैसे चना भूना हुआ फिर उगता

नहीं है। ऐसे शिवपदके लाभका उपाय रातदिन अपने आत्माके स्वभावका मनन है। आत्मा स्वयं मोक्षरूप है। आत्मा स्वयं परमात्मा है। अपने शरीररूपी मन्दिरमें अपने आत्मादेवको देखना ही चाहिये कि यह शरीरप्रमाण है तथा यह शुद्ध है। इसमें कार्मण, तैजस, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, पांचों पुद्गलरचित शरीरोंका सम्बन्ध नहीं है। न इसमें कोई संकल्प विकल्परूप मन है न पुद्गल रचित वचन है। इसमें कोई कर्मके उदयजनित भाव राग, द्वेष, मोह आदि नहीं है, यह परमवीतराग है। इसने कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण ये छःकारकके विकल्प नहीं हैं न इसमें गुण-गुणीके भेद हैं। यह एक अखण्ड अभेद सामान्य पदार्थ है। यह ज्ञान स्वभाव है, सहज सामायिक ज्ञानका भण्डार है। इसमें कोई अज्ञान नहीं है। इसका स्वभाव निर्मल दर्पणके समान स्वपर प्रकाशक है। सर्व जाननेयोग्यको झलकानेवाला, एक समयमें खण्डरहित सर्वको विषय करनेवाला यह अद्भुत ज्ञान है। विना प्रयास ही ज्ञानमें ज्ञेय झलकते हैं।

यह आत्मा निरन्तर ज्ञानचेतनामय है। अपने शुद्ध ज्ञान स्वभावका ही स्वाद लेनेवाला है, निरन्तर स्वानुभवरूप है। यह पुण्य-पापकर्म करनेके प्रपंचसे व सांसारिक सुखदुःख भोगनेके विकल्पसे दूर है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना दोनों चेतनाएं अज्ञान-चेतना हैं। आत्मा ज्ञानचेतनामय है। यही सत्य बुद्धदेव है। आपसे ही आपको जाननेवाला स्वयं बुद्ध है और कोई बौद्धोंका देवता बुद्ध नहीं है। सच्चा बुद्धदेव यह आत्मा ही है, यही सच्चा जिन है। सर्व आत्माके रागादि व कर्मादि शत्रुओंको जीतनेवाला है। और कोई समवसरणादि लक्ष्मी सहित जिन हैं सो व्यवहार जिन हैं। वहां भी निश्चय जिन जिनराजका आत्मा ही है।

इसतरह निज आत्माको परम शुद्ध एकाकी मनन करना चाहिये तब कोई लौकिक कामना नहीं रखना चाहिये कि कोई चमत्कार सिद्ध हो व कोई ऋद्धिसिद्धि हो व लोकमें मान्यता हो व प्रसिद्धि हो। केवल एक अपने आत्माके विकासकी भावना रखके आत्माको ध्याना चाहिये। ध्यानकी शक्ति बढ़नेमें स्वयं कर्मोंकी निर्जरा होती जायगी, नवीन कर्मोंका संवर होता जायगा और यह आत्मा स्वयं शुद्ध होता हुआ शिवरूप हो जायगा।

समयसार कलशामें कहा है—

चिच्छक्तिव्याससर्वस्वसारो जीव इयानयं।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥३—२॥
सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रं।
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तं ॥ ४—२ ॥

भावार्थ—यह जीव चैतन्य शक्तिसे सर्वांगपूर्ण है। इसके सिवाय सर्व ही रागादि भाव पुद्गलकी रचना है। वर्तमानमें चैतन्य-शक्तिके सिवाय सर्व ही पापोंको छोड़कर व चैतन्य शक्तिमात्र भावके भीतर भले प्रकार प्रवेश करके सर्व जगतके ऊपर भले प्रकार साक्षात् प्रकाशमान अपने ही आत्माको जो अनंत है, अनंतगुणोंका भंडार है, अपने ही भीतर आत्मारूप होकर आत्माको अनुभव करना योग्य है। आपसे ही आपको ध्याना चाहिये।

मोक्षपाहुड़में कहा है—

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा।
सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण ॥ ६४ ॥

भावार्थ—यह आत्मा दर्शनज्ञान सहित है, वीतराग चारित्रवान है, इसको गुरुके प्रसादसे जानकर सदा ध्याना चाहिये ।

निर्मल आत्माकी भावना करके ही मोक्ष होगी।

जाम ण भावहु जीव तुहुं णिम्मलअप्पसहाउ ।
ताम ण लब्भइ सिवगमणु जहिं भावहु तहिं जाउ ॥२७॥

अन्वयार्थ—(जीव ! हे जीव ! (जाम तुहुं णिम्मल अप्पसहाउ ण भावहु) जबतक तू निर्मल आत्माके स्वभावकी भावना नहीं करता (ताम सिवगमणु ण लब्भइ) तबतक तू मोक्ष नहीं पासकता (जहिं भावहु तहिं जाउ) जहां चाहे वहां तू जा ।

भावार्थ—यहां फिर भी दृढ़ किया है कि शुद्ध आत्माके स्वभावकी भावना ही एक संसार—सागरसे पार करनेवाली नौका है । वह निश्चय रत्नत्रय स्वरूप है, शुद्धात्मानुभव स्वरूप है । यही भाव संवर व निर्जरातत्व है। इस भावकी प्राप्तिके लिये जो जो साधन किये जाते हैं, उसको व्यवहार धर्म या निमित्त कारण कहते हैं। कोई अज्ञानी व्यवहार धर्म हीमें उलझ जावे, निश्चय धर्मका लक्ष्य छोड़ दे तो वह एक पग भी मोक्षपथ पर नहीं चल सक्ता ।

निश्चय धर्म तो अपने ही भीतर है बाहर नहीं है, परन्तु उसको जागृत करनेके लिये गृहस्थोंको यह उपदेश है कि श्री जिनमंदिरोंमें जाकर देवका दर्शन व पूजन करो, गुरु महाराजकी सेवामें जाकर वैयावृत्य करो। शास्त्रभवनमें जाकर स्वाध्याय करो, सम्मेदशिखर, गिरनार, पावापुर, बाहुबली, मांगीतुंगी, मुक्तागिरि आदि तीर्थस्थानोंकी यात्रा करो, सामायिक करनेके लिये एकांत स्थान उपवन, नदी, तट, पर्वत आदिमें बैठो । प्रोषधशालामें बैठकर उपवास करो। ये सब

कार्य निमित्त मात्र हैं। कोई अज्ञानी केवल निमित्त मिलानेको ही मोक्षमार्ग समझ ले तो यह उसकी भूल है। मन्दिरादि व तीर्थादि व प्रतिमादिके आलम्बनसे अपने भीतर आत्माका दर्शन व पूजन या आत्मारूपी तीर्थकी यात्रा की जावे तब ही निमित्तोंका मिलाना सफल है।

इसीतरह साधुओंको उपदेश है कि एकांत वन, पर्वत, गुफा, नदी, तट, ऊजड़ मकान, पर्वतका शिखर व अत्यन्त ही शून्य स्थलमें बैठकर व आसन लगाकर ध्यानका अभ्यास करो, कामको पुष्ट न करो, इन्द्रियदमन करो, चातुर्मासके सिवाय नगरके बाहर पांच दिन व ग्रामके बाहर एक दिनसे अधिक न ठहरो, गृहस्थके घर भिक्षा लेकर तुर्त वनमें लौट जाओ, नग्न रहकर शीत, उष्ण, डांस, मच्छर, नग्नता, स्त्री आदिकी बाईस परीषह सहन करो, मौन रहो, मन, वचन, काय गुप्तिको पालो, मार्गको निरखकर चलो। मुनियोंकी संगतिमें रहो, शास्त्रपाठ करो, तत्वोंका मनन करो, तीर्थयात्रा करो।

ये सब निमित्त हैं। इनको मिलाकर साधुको शुद्धात्माका अनुभव करना चाहिये। कोई अज्ञानी साधु इन बाहरी क्रियाओंको ही मोक्षमार्ग मानकर सन्तोषी हो जावे और अपने आत्माके शुद्ध स्वभावका दर्शन मनन व अनुभव न करे तो वह मोक्षमार्गी नहीं है, वह संसारवर्द्धक है, पुण्य बांधकर भवमें भ्रमण करनेवाला है।

वास्तवमें अपने आत्माकी निर्मल भूमिमें चलना ही चारित्र है, यही मोक्षमार्ग है, ऐसा दृढ़निश्चय रखके साधकको इसी तत्वके लाभका उपाय करना योग्य है। समाधिशतकमें कहा है—

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥ ७३ ॥

भावार्थ—जो आत्माको न देखनेवाले बहिरात्मा हैं उनको यह दो प्रकारका विकल्प होता है कि ग्राममें न रहो वनमें ही रहो, वनमें रहनेसे ही हित होगा। वे वननिवाससे ही सन्तोषी होजाते हैं। परंतु आत्माके देखनेवालोंका निवास परभावोंसे भिन्न निश्चल एक अपना शुद्धात्मा ही है, वे निमित्त कारण मात्रसे संतुष्ट नहीं होते हैं। आत्मामें निवासको ही अपना सच्चा आसन जानते हैं।

मोक्षपाहुड़में कहा है—

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ।

कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं॥ २६॥

भावार्थ—जो कोई इस भयानक संसार सागरसे पार होना चाहे व कर्म-ईंधनको जलाना चाहे तो उसे अपने शुद्ध आत्माका ध्यान करना चाहिये। आत्माका ध्यान ही मोक्षमार्ग है। जो आत्मरसिक हैं वही मोक्षमार्गी हैं।

त्रिलोकपूज्य जिन आत्मा ही है।

जो तइलोयहं झेउ जिणु सो अप्पा णिरु वुत्तु।

णिच्छयणइ एमइ भणिउ एहउ जाणि णिभंतु॥ २८॥

अन्वयार्थ—(जो तइलोयहं झेउ जिणु) जो तीनलोकके प्राणियोंके द्वारा ध्यान करने योग्य जिन है (सो अप्पा णिरु वुत्तु) वह यह आत्मा ही निश्चयसे कहा गया है (णिच्छयणइ एमइ भणिउ) निश्चयनय ऐसा ही कहती है (एहउ णिभंतु जाणि) इस बातको संदेह रहित जान।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि यह आत्मा ही वास्तवमें श्री जिनेन्द्र परमात्मा है जिसको तीनलोकके भक्तजन ध्याते हैं, पूजते

हैं, मानते हैं सो इन्द्र प्रसिद्ध हैं जैसा इस गाथामें कहा है। ये सब अरहंत परमात्माको नमन करते हैं।

भवणालय चालीसा विंतर देवाण होंति बत्तीसा।

कप्पामर चौवीसा चन्दो सूरो णरो तिरिओ ॥

भावार्थ—भवनवासी देव, असुर कुमार, नागकु०, विद्युतकु०, सुवर्णकु०, अग्निकु०, वातकु०, स्तनितकु०, उदधिकु०, द्वीपकु०, दिक्कुमार ऐसे दश जातिके होते हैं। हरएकमें दो दो इंद्र, दो दो प्रत्येन्द्र होते हैं। इसतरह चालीस इन्द्र हुए। व्यंतर देव आठ प्रकारके होते हैं-किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच। इनमें भी दो दो इन्द्र, दो दो प्रत्येन्द्र इसतरह बत्तीस इन्द्र हुए। सोलह स्वर्गमें प्रथम चारमें चार, मध्य आठमें चार, अन्त चारमें चार ऐसे बारह इन्द्र, बारह प्रत्येन्द्र इसतरह २४ हुए। ज्योतिषी देवोंमें चन्द्रमा इन्द्र, सूर्य प्रत्येन्द्र, मनुष्योंमें इन्द्र चक्रवर्ती, पशुओंमें इन्द्र अष्टापद, सब १०० इन्द्र नमस्कार करते हैं।

नमस्कार दो प्रकारका होता है-व्यवहार नमस्कार, निश्चय नमस्कार। जहां शरीरादि बाहरी पदार्थोंकी प्रशंसाके द्वारा स्तुति हो, वह व्यवहार नमस्कार है। जहां आत्माके गुणोंकी स्तुति हो वह निश्चय नमस्कार है। जैसे अरहन्तके शरीरकी शोभा कहना कि वे परम देदीप्यमान हैं, १००८ लक्षणोंके धारी हैं, निरक्षरी वाणी प्रगट करते हैं, समवसरण सहित हैं, बारह सभामें बैठे प्राणियोंको उपदेश देते हैं। यह सब व्यवहार स्तुति है।

भगवान् अरहन्त अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्यके धारी हैं, परम वीतराग हैं, परमानन्दमय है, असंख्यात प्रदेशी हैं, अमूर्तीक हैं, इत्यादि। आत्माश्रित स्तुति सो

निश्चय स्तुति या नमस्कार है। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु पांच परमेष्टीकी आत्माकी स्तुति सो हरएक आत्माकी स्तुति है। क्योंकि निश्चयसे हरएक आत्मा आत्मीक गुणोंका भण्डार है। जगतकी सब आत्माएं निश्चयनयसे समान शुद्ध हैं अतएव तीन लोकके प्राणी जिसको ध्याते हैं, पूजते हैं व वंदते हैं वही परमात्मा या आत्मा है, वही मैं हूं। मैं ही त्रिलोकपूज्य परमात्मा जिनेन्द्र हूं ऐसा भ्रान्ति रहित निश्चयसे जानना चाहिये। तब और किसी दूसरे परमात्माकी ओर दृष्टि न रखकर दो भिन्न २ व्यक्तियोंमें ध्याता व ध्येयकी कल्पना न करके आपहीको ध्याता व ध्येय मानके अद्वैत एक ही भावमें तल्लीन हो यही मोक्षमार्ग है। समयसारमें कहा है—

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥ ३२ ॥
इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥ ३३ ॥
तं णिच्छयेण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥ ३४ ॥
जो मोहं तु जिणित्ता, णाण सहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिद मोहं साहुं, परमट्ठवियाणया वेंति ॥ ३७ ॥

भावार्थ—व्यवहारनयसे ऐसा कहते हैं कि शरीर और आत्मा एक है परंतु निश्चयनयसे आत्मा व शरीर एक पदार्थ नहीं है। मुनिगण केवली भगवानके पुद्गलमय शरीरकी स्तुति व्यवहारनयसे करके मानते यही हैं कि हमने केवली भगवानकी ही स्तुति या वंदना की। परंतु निश्चयनयसे यह स्तुति ठीक नहीं है। क्योंकि शरीरके गुण केवली भगवानकी आत्माके गुण नहीं हैं, निश्चयसे जो

केवली भगवानकी आत्माकी स्तुति है वही केवलीकी यथार्थ स्तुति है। जैसे कहना कि जो मोहको जानकर ज्ञानस्वभावसे पूर्ण आत्माका अनुभव करता है वह जितमोह है ऐसा परमार्थके ज्ञाता कहते हैं। निश्चय स्तुति आत्मापर लक्ष्य दिलाती है इसलिये यथार्थ है।

मिथ्यादृष्टीके व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं।

वयतवसंजममूलगुण मूढह मोक्ख णिवुत्तु।
जाम ण जाणइ इक्क परु सुद्धउभाउपवित्तु ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(जाम इक्क परु सुद्धउपवित्तु भाउ ण जाणइ) जबतक एक परम शुद्ध व पवित्र भावका अनुभव नहीं होता (मूढह वयतवसंजम मूलगुण मोक्ख णिवुत्तु) तबतक मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीवोंके द्वारा किये गये व्रत, तप, संयम व मूलगुण पालनको मोक्षका उपाय नहीं कहा जासक्ता।

भावार्थ—निश्चयसे शुद्ध आत्माका भाव ही मोक्षका मार्ग है। शुद्धोपयोगकी भावनाको न भाकर या शुद्ध तत्वका अनुभव न करते हुये जो कुछ व्यवहारचारित्र है वह मोक्षमार्ग नहीं है संसारमार्ग है, पुण्यबंधका कारक है। मिथ्यादृष्टी आत्मज्ञानशून्य बहिरात्मा बाहरमें मुनिभेष धरकरके यदि पांच महाव्रत पाले, बारह तप तपे, इंद्रिय व प्राणिसंयमको साधे, नीचे लिखे प्रमाण अट्ठाईस मूलगुण पाले तौभी वह संवर व निर्जरा तत्वको न पाकर कर्मोंसे मुक्ति नहीं पासक्ता। ऐसा द्रव्यलिंगी साधु पुण्य बांधकर नौवें ग्रैवेयिक तक जाकर अहमिंद्र होसक्ता है परन्तु संसारसे पार करनेवाले सम्यग्दर्शनके विना अनन्त संसारमें ही भ्रमण करता है। व्यवहार चारित्रको निमित्त मात्र व बाहरी आलम्बन मात्र मानके व निश्चय चारित्रको उपादान कारण मानके जो

स्वानुभवका अभ्यास करे-तो निर्वाणका मार्ग तय कर सके।

प्रवचनसारमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य अट्ठाईस मूलगुण कहते हैं—

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयण मे गभत्तं च ॥ ८ ॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदो वट्ठावगो होदि ॥ ९ ॥

भावार्थ—पांच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग।

पांच समिति—ईर्या (देखकर चलना), भाषा, एषणा (शुद्ध आहार), आदाननिक्षेपण, व्युत्सर्ग (मल मूत्र देखकर करना)।

पांच इंद्रिय विषय निरोध-छः आवश्यक नित्यकर्म—सामायिक, प्रतिक्रमण (पिछले दोषका निराकरण), प्रत्याख्यान (त्यागकी भावना), स्तुति, वन्दना, कायोत्सर्ग। सात अन्य—१ केशोंका लोंच, २ नग्नपना, ३ स्नान न करना, ४ भूमिपर शयन, ५ दन्तवन न करना, ६ खड़े होकर हाथमें भोजन लेना, ७ दिन-रातमें एक दफे दिनमें भिक्षा लेना ये २८ मूलगुण साधुओंके हैं ऐसा जिनेन्द्रने कहा है उनमें प्रमाद हो जानेपर छेदोपस्थापन या प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना चाहिये। समयसारमें कहा है—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतोवि अभविओ अण्णाणी मिच्छदिट्ठीय ॥ २९१ ॥
मोक्खं असद्दहन्तो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहन्तस्स णाणं तु ॥ २९२ ॥

भावार्थ—जिनेन्द्रोंने कहा है कि अभव्य जीव व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तपको पालते हुए भी आत्मज्ञानके विना अज्ञानी व

मिथ्यादृष्टी ही रहता है। मोक्षके स्वरूपकी श्रद्धा न रखता हुआ अभव्य जीव कितना भी शास्त्र पढ़े, उसका पाठ गुणकारी नहीं होता है, क्योंकि उसको आत्माके सम्यग्ज्ञानकी तरफ विश्वास नहीं आता है।

भावपाहुडमें कहा है कि भावमें आत्मज्ञानी ही सच्चा साधु है—

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥ ५६ ॥

भावार्थ—जो शरीरादिकी ममतारहित हो व मानकषायसे विलकुल अलग हो व आत्माको आत्मामें लीन रक्खे वही भावलिंगी साधु होता है।

व्रतीको निर्मल आत्माका अनुभवकरना योग्य है।

जो णिम्मल अप्पा मुणइ वयसंजमुसंजुत्तु ।
तो लहु पावइ सिद्ध सुहु इउ जिणणाहह उत्तु ॥३०॥

अन्वयार्थ—(जो वयसंजमुसंजुत्तु णिम्मल मुणइ) जो व्रत, संयम सहित निर्मल आत्माका अनुभव करे (तो सिद्ध सुहु लहु पावइ) तो सिद्धि या मुक्तिका सुख शीघ्र ही पावे (इउ जिणणाहह उत्तु) ऐसा जिनेन्द्रका कथन है।

भावार्थ—हरएक कार्यकी सिद्धि उपादान व निमित्त कारणसे होती है। उपादान कारण तो अवस्थाको पलटकर अवस्थांतर हो जाता है। मूल द्रव्य बना रहता है। निमित्त कारण दूर ही रह जाते हैं। मिट्टीका घड़ा बना है। घड़े रूपी कार्यका उपादान कारण मिट्टी है। मिट्टीका पिंड ही घड़ेकी दशामें पलटा है। निमित्त कारण चाक व कुम्हारादि घड़े बनने तक सहायक हैं। घड़ा बन जानेपर वे सब दूर रह जाते हैं।

इसी तरह निर्वाण रूपी कार्यके लिये उपादान कारण अपने ही शुद्ध आत्माका ध्यान है। निमित्त कारण व्यवहार व्रत संयम तप आदि है। व्रत संयम तप आदिके निमित्तसे व आलम्बनसे जब आत्माका ध्यान होगा व भावोंमें शुद्धता बढ़ेगी तब ही संवर व निर्जरा तत्व होगा। इसलिये यहां कहा है कि व्रत संयम सहित होकर निर्मल आत्माका ध्यान सिद्ध सुखका साधन है। व्यवहार चारित्रकी इसलिये आवश्यक्ता है कि मन, वचन, कायको वश रखनेकी जरूरत है। जबतक ये तीनों चञ्चल रहेंगे तबतक आत्माका ध्यान नहीं होसकता।

आत्माके ध्यानके लिये एकांत स्थानमें ठहरकर शरीरको निश्चल रखना होगा, वचनोंका त्याग करना होगा, जगतके प्राणियोंसे वार्तालाप छोड़ना होगा. पाठ पढ़ना छोड़ना होगा, जप करना छोड़ना होगा, बिलकुल मौनमें रहना होगा, मनका चिन्तवन छोड़ना होगा, यहांतक कि आत्माके गुणोंका विचार भी छोड़ना होगा। जब उपयोग मन, वचन, कायसे हट करके केवल अपने ही शुद्धात्माके भीतर श्रुतज्ञानके बलसे या शुद्ध निश्चयनयके प्रतापसे जमेगा तब ही मोक्षका साधन बनेगा, तब ही स्वानुभव होगा, तब ही वीतरागता होगी, तब ही आत्मा कर्ममलसे रहित होगा। ध्यानके समय मनके भीतर बहुतसे विचार आजाते हैं।

उनमें जो गृहस्थ सम्बंधी बातोंके विचार हैं वे महान् बाधक हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रहकी चिन्ता, ध्यानमें हानिकारक है। इसलिये साधुजन पांचों पापोंको पूर्णपने त्याग देते हैं, गृहस्थका व्यापारादि कुछ नहीं करते हैं। साधु केवल धार्मिक व्यवहार करते हैं। जैसे—शास्त्र पठन, उपदेश, विहार, शिष्योंको शिक्षा, सन्तोषपूर्वक आहार। ध्यानके समय ये शुभ कामोंके विचार आ

सकते हैं। ये विचार ध्यानके जमानेके लिये कभी २ निमित्त साधक होजाते हैं परन्तु इन विचारोंके भी बंद हुए विना ध्यान नहीं होगा।

यदि कोई व्यवहार चारित्रको नहीं पाले, लौकिक व्यवहारमें लगा रहे तो आत्माके भीतर उपयोग स्थिर नहीं हो सकेगा। इसी कारण परिग्रह त्यागी निर्ग्रंथ मुनि ही उत्तम धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान कर सक्ते हैं। गृहस्थको भी मन वचन कायकी क्रियाको स्थिर करनेके लिये वारह व्रतोंका संयम जरूरी होता है। जितना परिग्रह कम होगा उतनी मनमें चिन्ता कम होगी। केवल व्यवहार चारित्रसे, मुनि व श्रावकके भेपसे, मोक्षका कुछ भी साधन नहीं होगा। मोक्ष तो आत्माका पूर्ण स्वभाव है। तव उसका साधन उसी स्वभावकी भावना है, आत्मदर्शन है, निश्चय रत्नत्रय है, स्वानुभव है। स्वानुभवके लाभके लिये निमित्त व्यवहार चारित्र है।

समयसारमें कहा है—

णवि एस मोक्खमग्गो पाखंडी गिहमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥ ४३२ ॥
जह्मा जहित्तु लिंगे सागारणगारि एहिं वा गहिदे।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥ ४३३ ॥

भावार्थ—साधुके व गृहस्थके भेप व व्यवहार चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्षमार्ग है ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं। इसलिये गृहस्थके व साधुके भेपमें या व्यवहार चारित्रमें ममता त्यागकर अपनेको निश्चय रत्नत्रयमई मोक्षमार्गमें जोड़ दे।

समयसार कलशमें कहा है—

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तन्दुलम् ॥ ४८–१० ॥

भावार्थ—जो मानव व्यवहार चारित्रमें ही मूढ़ हैं इसहीसे मोक्ष मानते हैं और परमार्थ या निश्चय रत्नत्रय या स्वानुभवको मोक्षमार्ग नहीं समझते हैं वे पुरुष वैसे ही मूढ़ हैं जैसे जो तुषको तंदुल समझकर तुषको चावलोंके लिये कूटें। वे कभी चावलका लाभ नहीं कर सकेंगे। व्यवहार चारित्र तुष है निश्चय चारित्र तंदुल है। तंदुल विना तुष वृथा है, निश्चय चारित्रविना व्यवहारचारित्र वृथा है।

अकेला व्यवहारचारित्र वृथा है।

वयतवसंजमुसीलु जिय ए सव्वे अकइत्थु।
जाम ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु॥ ३१॥

अन्वयार्थ—(जिय) हे जीव! (जाणइ इक्क परु सुद्धउ पवित्तु भाउ ण जाणइ) जबतक एक उत्कृष्ट शुद्ध वीतराग भावका अनुभव न करे (वयतव संजमु सीलु ए सव्वे अकइत्थु) तब-तक व्रत, तप, संयम, शील ये सर्व पालना वृथा है, मोक्षके लिये नहीं है। पुण्य बांधकर संसार बढ़ानेवाले हैं।

भावार्थ—व्यवहारचारित्र निश्चयचारित्रके विना निर्वाणके लिये व्यर्थ है। निर्वाण कर्मोंके क्षयसे होता है इसका उपाय वीतराग-भाव है जो शुद्धात्मानुभवमें प्राप्त होता है। निश्चयचारित्र स्वसमयरूप है, आत्माहीका एक निर्मल भाव है। जहां इस भावपर लक्ष्य नहीं है वह मोक्षमार्ग नहीं है।

व्यवहार व्रतादि पालनमें मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्ति होती है। शुभोपयोग या मन्द कषाय है। सम्यग्दर्शनके विना मन्द कषायको भी वास्तवमें शुभोपयोग नहीं कह सक्ते हैं तौ भी जहाँ

मन्द कषायसे शुभ प्रवृत्ति है, स्वाभावमें वर्तन है, परोपकार भाव है, शास्त्रोंका विचार है, जीवादि तत्वोंका मनन है, वहां अशुभ भाव न होकर शुभभाव है जो पुण्यबन्धका कारक है।

द्रव्यसंग्रहमें कहा है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिण भणियं ॥ ४५ ॥

भावार्थ—अशुभसे छूटकर शुभमें प्रवृत्ति करना व्यवहारनयसे जिनेन्द्रने चारित्र कहा है—वह पांच महाव्रत, पांच समिति तीन गुप्तिरूप है। व्यवहार पराश्रित है। मन, वचन, कायके आश्रित है इसलिये वहां उपयोगपर मुखाकार है, अपने आत्मासे दूर है इसलिये बन्धका कारक है, निश्चय स्वाश्रय है। आत्मा ही पर उपयोग सन्मुख है वहीं शुद्ध भावना है जो निर्वाणका कारण है। यदि कोई सम्यग्दृष्टी नहीं है और वह केवल व्यवहारचारित्रमें मोक्षमार्ग मान ले तो यह उसकी भूल है, यह संसारका ही मार्ग है।

बाहरी आलम्बनको या निमित्तको उपादान मानना मिथ्यात्व है। करोड़ों जन्मोंमें यदि कोई व्यवहार चारित्र पाले तब भी वह मोक्षके मार्गपर नहीं है। शुद्धात्मानुभवके प्रतापसे अनादिका मिथ्या-दृष्टी जीव सम्यक्ती व संयमी होकर उसी भवसे निर्वाणका भागी होसकता है। समयसार कलशमें कहा है—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥ ७ ॥
वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥ ८—४ ॥

भावार्थ—आत्माका ज्ञान स्वभावसे वर्तना, सदा आत्मीक

ज्ञानमें रहना है, यही मोक्षका साधन है। क्योंकि यहाँ उपयोग एक ही आत्मा द्रव्यके स्वभावमें तन्मय है। शुभ क्रियाकांडमें वर्तना आत्माके ज्ञानमें परिणमन नहीं है, यह मोक्षका कारण नहीं है। क्योंकि अन्य द्रव्यके स्वभावपर यहां लक्ष्य है, आत्मापर ध्यान नहीं है। मोक्षपाहुडमें कहा है—

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू।
मिच्छत्तपरिणदो उण वज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो कोई आत्माको छोडकर परद्रव्यमें रति करता है वह मिथ्यादृष्टी है। मिथ्या श्रद्धानसे परिणमता हुआ दुष्ट आठों कर्मोंको बांधता रहता है।

पुण्य पाप दोनों संसार है।

पुण्णि पावइ सग्ग जिउ पावइ णरयणिवासु।
वे छंडिवि अप्पा मुणइ तउ लब्भइ सिववासु ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ—(जिउ पुण्णिं सग्ग पावइ) यह जीव पुण्यसे स्वर्ग पाता है (पावइ णरयाणिवासु) पापसे नर्कमें जाता है (वे छंडिवि अप्पा मुणइ) पुण्य पाप दोनोंसे ममता छोड़कर जो अपने आत्माका मनन करे (तउ सिववासु लब्भइ) तो शिव महलमें वास पाजावे।

भावार्थ—पुण्य व पाप दोनों ही कर्म संसार-भ्रमणके कारण हैं। दोनों ही प्रकारके कर्मोंके वन्धके कारण कषायभाव है। मन्द-कषायसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है, तीव्र कषायसे पापका वंध होता है। पुण्य कर्म सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र है। इनका वंध प्राणी मात्रपर दयाभाव, आहार, औषधि, अभय व विद्या

चार प्रकार दान, श्रावक व मुनिका व्यवहार चारित्र, क्षमाभाव, सन्तोष, सन्तोषपूर्वक आरम्भ, अल्प ममत्व, कोमलता, समभावसे कष्ट सहन, मन, वचन, कायका सरल कपट रहित वर्तन, परगुण प्रशंसा, आत्मदोष निन्दा, निरभिमानता आदि शुभ भावोंसे होता है। असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीचगोत्र व ज्ञाना-वरणादि चार घातीय कर्म पापकर्म हैं। उनका बन्ध ज्ञानके साधनमें विघ्न करनेसे, दुःखित, शोकित होनेसे, रुदन करनेसे, परको कष्ट देनेसे, परका घात करनेसे, सच्चे देव गुरु धर्मकी निन्दा करनेसे, तीव्र कषाय करनेसे, अन्यायपूर्वक आरम्भ करनेसे, बहुत मूर्च्छा रखनेसे, कपटसे वर्तन करनेसे, मन वचन कायको वक्र रखनेसे, झगड़ा करनेसे, परनिन्दा व आत्म प्रशंसासे, अभिमान करनेसे, दानादिमें विघ्न करनेसे, अन्यका बुरा चिंतवनसे, कठोर व असत्य वचनसे, पांच पापोंमें वर्तनसे होता है।

दोनोंके फलसे देव, मनुष्य, तिर्यंच, नरक गतियोंमें जाकर सांसारिक सुख व दुःखका भोग करना पड़ता है। व्रत, तप, शील, संयमके पालनमें शुभ राग होता है, पुण्यका बन्ध होता है। उससे कर्मका क्षय नहीं हो सक्ता है। इसलिये यहां कहा है कि पुण्य व पाप दोनों ही प्रकारके कर्मोंको बेड़ी समझकर दोनोंहीके कारण भावोंसे राग छोड़कर एक शुद्ध आत्मीक भावका अनुभव करना योग्य है।

मोक्षका कारण एक शुद्धोपयोग है। पाप व पुण्य दोनोंके बन्धका कारण एक कषायभाव है। दोनोंका स्वभाव पुद्गलकर्म है। दोनोंका फल सुखदुःख है जो आत्मीक सुखका विरोधी है। दोनों ही बंध मार्ग हैं। ऐसा समझकर ज्ञानीको सर्व ही पुण्यपापसे पूर्ण वैराग्य रखना चाहिये। केवल एक अपने शुद्ध आत्माका ही दर्शन

करना चाहिये। परिणामोंकी थिरता न होनेसे यदि कदाचित् व्यवहारचारित्र पालना पड़े तो उससे मोक्ष होगी ऐसा मानना नहीं चाहिये।

व्यवहार चारित्रको बन्धका कारण जानकर उसको त्यागने योग्य समझना चाहिये। जैसे कोई सीढ़ीपर चढ़ता है उसे त्यागने योग्य समझकर छोड़ता ही जाता है। निश्चय चारित्रपर पहुंचकर व्यवहारका स्मरण भी नहीं रहता है। जैसे कोठेके ऊपर पहुंचकर फिर सीढ़ीको कौन याद करता है? सीढ़ी तो ऊपर आनेके निमित्त थी। इसी तरह व्यवहार चारित्रका निमित्त निश्चयका साधक है। निश्चय प्राप्त होनेपर वह स्वयं भावोंसे छूट जाता है, व्यवहार चारित्रका राग नहीं रहता है। **समयसारमें** कहा है—

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाण सुहसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि॥ १५२॥
सोवण्णियह्मि णियलं बंधदि कालायसं च जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं॥ १५३॥
तह्मादु कुसीलेहिय रायं माकाहि माव संसग्गं।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेहिं॥ १५४॥

भावार्थ—अशुभ कर्म कुशील है, शुभ कर्म सुशील है, अच्छा है ऐसा व्यवहारी लोग कहते हैं। आचार्य कहते हैं कि शुभ कर्मको सुशील हम नहीं कह सकते। क्योंकि यह संसारमें भ्रमण कराता है। जैसे लोहेकी वेड़ी पुरुषको बांधती है वैसे ही सोनेकी वेड़ी बांधती है। उसीतरह शुभ व अशुभ दोनों ही किये गये काम जीवको बांधते ही हैं।

इसलिये पुण्य पाप दोनोंको कुशील व खोटे समझकर उनसे राग व उनकी संगति करना योग्य नहीं है। क्योंकि कुशीलोंकी

संगनिसे व रागसे आत्माकी स्वाधीनताका नाश होता है।

समयसार कलशमें कहा है—

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः।

तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः॥ ३–४॥

भावार्थ—पुण्य व पाप दोनोंका हेतु स्वभाव फल व आस्रव एक रूप ही है, कुछ भेद नहीं है। दोनों ही बंधके मार्ग हैं, दोनोंको सर्वको बंधका कारण जानना चाहिये।

निश्चय चारित्र ही मोक्षका कारण है।

वउतउसंजमुसील जिय इय सव्वइ ववहारु।

मोक्खह कारण एक्कु मुणि जो तइलोयहु सारु॥३३॥

अन्वयार्थ—(जिय) हे जीव! (वउतउसंजमुसील इय सव्वइ ववहारु) व्रत, तप, संयम, शील ये सब व्यवहार चारित्र हैं (मोक्खह कारण एक्कु मुणि) मोक्षका कारण एक निश्चय चारित्रको जानो (जो तइलोयहु सारु) वही तीन लोकमें सार वस्तु है।

भावार्थ—तीनलोकमें सार वस्तु मोक्ष है, जहां आत्मा अपना स्वभाव पूर्णपने प्रगट कर लेता है, कर्मबन्धसे मुक्त होजाता है। परमानन्दका नित्य भोग करता है। क्या मोक्षका उपाय भी तीन लोकमें सार है। यह उपाय भी अपने ही शुद्धात्माका सम्यक्त श्रद्धान, ज्ञान व उसीमें आचरण है। निश्चय रत्नत्रयरूप स्वसमय, स्वरूप-संवेदन या आत्मानुभव है। यही एक ऐसा नियमरूप उपाय है। जैसा कार्य या साध्य होता है वैसा ही उसका कारण या साधन

होता है। इस आत्मानुभवके लिये जो बाहरी साधन व्रत, तप आदि व्यवहारचारित्र किया जाता है वह मात्र व्यवहार है, निमित्त है। यदि कोई व्यवहार ही चारित्र पाले तो भ्रम है, वह निर्वाणका साधन नहीं करता है।

आचार्य वारवार इसी बातकी प्रेरणा करते हैं कि हे योगी! तू मन, वचन, कायकी क्रियाको मोक्षका उपाय मत जान। जहां किंचित् भी विकल्प है या कुछ भी परपदार्थपर दृष्टि है वहां शुभ राग है, वह बन्धका कारण है, कर्मकी निर्जराका कारण नहीं है। इसलिये तू सर्व प्रपंचजाल व चिंता छोड़कर निश्चिंत होकर एक अपने ही आत्माकी तरफ लौ लगा, उसीको ध्याव, उसीका मनन कर, उसीमें सन्तोष मान, एक शुद्ध आत्माके अनुभवसे उत्पन्न आनन्दामृतका पान कर।

व्यवहारचारित्रको व्यवहार मात्र समझ। विना निश्चयचारित्रके उसका कोई लाभ मोक्षमार्गमें नहीं है। व्यवहार मुनिका या श्रावकका संयम ठीक २ शास्त्रानुसार पालकर भी यह अहंकार मत कर कि मैं मुनी हूं, मैं क्षुल्लक श्रावक हूं, मैं ब्रह्मचारी हूं, मैं धर्मात्मा गृहस्थ हूं। ऐसा करनेसे उसके भेषमें व व्यवहारमें ही मुनिपना या गृहस्थपना मान लिया सो ठीक नहीं है। शुद्धात्मानुभव ही मुनिपना है। वही श्रावकपना है, वही जिनधर्म है, ऐसा समझकर ज्ञानीको शरीराश्रित क्रियामें अहंकार न करना चाहिये। जो निश्चयनयकी प्रधानतासे अपनेको सिद्ध भगवानके समान शुद्ध तीन कालके सर्व कर्म रहित, विभाव रहित, विकल्प रहित, मतिज्ञानादि भेद रहित, एक सहज ज्ञान या आनंदका समूह मानकर सर्व अन्य भावोंसे उदास होजायगा वही निर्वाणमार्गपर आरूढ़ समझा जायगा।

भावपाहुडमें कहा है—

जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।
सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥ १४३ ॥
जह तारयण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं ॥ १४४ ॥

भावार्थ—जीव रहित मुर्दा होता है। आत्मदर्शनरूप सम्यक्तके विना प्राणी चलता हुआ मुर्दा है। मुर्दा लोकमें माननीय नहीं होता, जला दिया जाता है। चलनेवाला व्यवहार चारित्रवान मुर्दा परमार्थमें अपूज्य है। जैसे नक्षत्रोंमें चन्द्रमा शोभता है, पशुओंमें सिंह शोभता है वैसे मुनि व श्रावक दोनोंके धर्ममें सम्यग्दर्शन शोभता है। इस आत्मानुभवके विना सर्व व्यवहार मलीन ही है।

सारसमुच्चयमें कहा है—

ज्ञानभावनया जीवो लभते हितमात्मनः।
विनयाचारसम्पन्नो विषयेषु पराङ्मुखः ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो जीव पांचों इंद्रियोंके विषयोंसे उदास होकर धर्मकी विनय व धर्मके आचारसे युक्त होकर आत्मज्ञानकी भावना करता है वही अपने आत्माका हित कर सकता है।

आपसे आपको ध्याओ।

अप्पा अप्पइ जो मुणइ जो परभाव चएइ।
सो पावइ सिवपुरिगमणु जिणवर एउ भणेइ ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(जो परभाव चएइ) जो परभावको छोड देता है (जो अप्पइ अप्पा मुणइ) व जो अपनेसे ही अपने आत्माका अनुभव करता है (सो सिवपुरिगमणु पावइ) वही मोक्षनगरमें पहुंच जाता है (जिणवर एउ भणेइ) श्री जिनेन्द्रने यह कहा है।

भावार्थ—आत्माको आत्माके द्वारा ग्रहण कर जो निश्चल होकर आत्माका अनुभव करता है वही आत्माका दर्शन करता हुआ कर्मकी निर्जरा करता है व मोक्षनगरमें शीघ्र ही पहुंच जाता है। जब आत्मा अपने मूल स्वभावको लक्ष्यमें लेकर ग्रहण करता है तब सर्व ही पर भावोंका सर्व त्याग होजाता है। जैसे कोई स्त्री परके घरोंमें जाया करती थी, जब वह अपने ही घरमें बैठ गई तब पर घरोंका गमन स्वयं बंद होगया।

जितना कुछ प्रपंच या विकल्प परद्रव्योंके सम्बंधसे होता है यह सब पर भाव हैं। कर्मोंके उदयसे जो भावकर्म रागादि शुभ या अशुभ होता है व नोकर्म शरीरादि होते हैं वे सब परभाव हैं। चौदह गुणस्थान व चौदह मार्गणाओंके भेद तब ही संभव है जब कर्म सहित आत्माको देखा जावे। अकेले कर्म रहित आत्मामें इन सबका दर्शन नहीं होता है। अपने आत्माके सिवाय अन्य आत्माएं संसारी व सिद्ध तथा सर्व ही पुद्गल परमाणु या स्कंध, तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणु व आकाश ये सब परभाव हैं। मनके भीतर होनेवाले मानसिक विकल्प भी परभाव हैं। आत्मा निर्विकल्प है, अभेद है, असंग है, निर्लेप है, निर्विकल्प भावमें ही ग्रहण होता है।

भूत, भविष्य, वर्तमान तीन काल सम्बंधी सर्व कर्मोंसे व विकल्पोंसे आत्माको न्यारा देखना चाहिये। यद्यपि आत्मा अनंतगुण व पर्यायोंका समुदाय है तौभी ध्यानके समय उसके गुण गुणी भेदोंका विचार भी बंद करदेना चाहिये। आत्माके स्वाद लेनेमें एकाग्र होजाना चाहिये। बाहरी निमित्त इसीलिये मिलाए जाते हैं कि मनकी चंचलता मिटे, मन क्षोभित न हो। मनमें चिंताएं घर न करें। निर्ग्रंथ साधुको ही शुद्धोपयोगकी भलेप्रकार प्राप्ति होती है, क्योंकि उसका मन परिग्रहकी चिन्तासे व आरंभके झंझटसे अलग है। बिलकुल एकांत

सेवन, निरोग शरीर, शीत, उष्ण, दंशमशककी बाधाका सहन, ये सब निमित्त कारण ध्यानमें उपयोगी हैं। अभ्यास प्रारंभ करनेवालोंको परीषह न आवे इस सम्हालके साथ ध्यान करना होता है। जब अभ्यास बढ़ जाता है तब परीषहोंके होनेपर निश्चल रह सक्ता है। साधकको पूर्णपने अपने ही भीतर रमण करना चाहिये, यही निर्वाणका मार्ग है। समाधिशतकमें कहा है—

यद्ग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ २० ॥
येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥२३॥
यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ २४ ॥
क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो न ग्रहण करने योग्य परभाव हैं या परद्रव्य हैं उनको ग्रहण नहीं करता है व जो अपने गुणका स्वभाव है जिनको सदा ग्रहण किये हुये हैं उनका कभी त्याग नहीं करता है, किंतु जो सर्व प्रकारसे सर्वको जानता है वही मैं अपनेसे आप अनुभव करने योग्य हूं। जिस आत्मीक स्वरूपसे मैं अपने आत्माको आत्माके भीतर आत्माके द्वारा आत्मारूप ही अनुभव करता हूं वही मैं हूं। न मैं पुरुष हूं, न स्त्री हूं, न नपुंसक हूं, न एक हूं, न दो हूं, न बहुत हूं।

जिस स्वरूपको न जानकर मैं अनादिसे सोरहा था व जिसको जानकर मैं अब जाग उठा वह मैं अतीन्द्रिय, नाम रहित, केवल स्वसंवेदन योग्य हूं। जब मैं यथार्थ तत्वदृष्टिसे अपनेको ज्ञान स्वरूप

देखता हूं तो वहीं सर्व रागादि क्षय होजाते हैं, तब मेरा कोई शत्रु या मित्र नहीं होता है, समभाव छा जाता है।

व्यवहारमें नौ पदार्थोंका ज्ञान आवश्यक है।

छहदव्वह जे जिण कहिआ णव पयत्थ जे तत्त।
ववहारे जिणउत्तिया ते जाणियहि पयत्त॥ ३५॥

अन्वयार्थ—(जिण जे छहदव्वह णव पयत्थ जे तत्त कहिआ) जिनेन्द्रने जो छः द्रव्य, नौ पदार्थ और सात तत्व कहे हैं (ववहारे जिणउत्तिया) वे सब व्यवहारनयसे कहे हैं (पयत्त ते जाणियहि) प्रयत्न करके उनको जानना योग्य है।

भावार्थ—निर्वाणका उपाय निश्चयसे एक आत्माके दर्शन या आत्मानुभवको बताया है। परन्तु उपाय तब ही किया जाता है जब यह निश्चय हो कि उपाय करनेकी क्या आवश्यक्ता है? इसलिये साधकको यह भलेप्रकार जानना चाहिये कि वह निश्चयनयसे शुद्ध है तथापि वह अनादिसे कर्मबन्धके कारण अशुद्ध होरहा है।

यह अशुद्धता कैसे होती है व कैसे मिट सकती है इस बातका विस्तारसे कथन व्यवहारनयसे जिनेन्द्रने बताया है। क्योंकि परके आश्रयको लेकर आत्माका कथन व्यवहारनयसे ही किया जाता है तब छः द्रव्योंको, सात तत्वोंको व नौ पदार्थोंको भलेप्रकार जानना चाहिये। इसलिये साधकको अध्यात्म शास्त्रमें प्रवेश करनेके पहले श्री तत्वार्थसूत्र व उनकी टीकाएं सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, गोमट्टसार आदि व्यवहार-प्रधान ग्रंथोंको जानना जरूरी है। इनके श्रद्धानको ही व्यवहार सम्यक्त कहा गया है, जो आत्म प्रतीतिरूप निश्चय सम्यक्तके लिये निमित्त कारण है।

गोम्मटसार जीवकांडमें कहा है—

छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं ।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ ५६० ॥

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवानके उपदेशके अनुसार छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, नव पदार्थोंका श्रद्धान आज्ञा मात्रसे या शास्त्रोंके पठन पाठन व न्यायकी युक्तिसे समझकर करना व्यवहारनयसे सम्यक्त है।

उवजोगो वण्णचऊ लक्खणमिह जीवपोग्गलाणं तु ।
गदिठाणोग्गहवत्तणकिरियुवयारो दु धम्मचऊ ॥ ५६४ ॥

भावार्थ—उपयोग ज्ञान दर्शन लक्षणका धारी जीव द्रव्य है। स्पर्श रस गंध वर्ण लक्षणधारी पुद्गल द्रव्य है। जीव पुद्गलके गमनमें उदासीन रूपसे सहकारी धर्मद्रव्य है। जीव द्रव्यको ठहरनेमें सहकारी अधर्म द्रव्य है। सर्व द्रव्योंको स्थान देनेवाला अवकाश द्रव्य है। द्रव्योंके पलटनेमें निमित्त कारण काल द्रव्य है। इसतरह छः द्रव्योंका भरा यह लोक है। जो सत् हो, सदा ही रहे उसको द्रव्य कहते हैं। जीव द्रव्य उपयोग सहित है, ज्ञाता दृष्टा है, यह बात प्रगट है—

शरीरादि पुद्गल रचित हैं उनकी सत्ता भी प्रत्यक्ष प्रगट है। शेष चार द्रव्य अमूर्तीक हैं, इनकी सत्ता अनुमानसे प्रगट है। जीव पुद्गल चार कार्य करते हैं उनमें उपादान कारण वे स्वयं हैं, निमित्त कारण शेष चार द्रव्य हैं। गमन सहकारी लोकाकाश व्यापी धर्मद्रव्य है, ठहरनेमें सहकारी लोकाकाशव्यापी अधर्म द्रव्य है। अवकाश देनेवाला आकाश है, परिवर्तन करानेवाला कालाणु द्रव्य है जो असंख्यात हैं। एक एक आकाशके प्रदेश पर एक एक कालाणु है। जीव अनंत हैं, पुद्गल अनंत हैं, अनंत आकाशके मध्य लोक है। लोकमें सर्वत्र शेष पांच द्रव्य हैं। सूक्ष्म पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति सर्वत्र

है। वादर एकेन्द्रियादि कहीं कहीं हैं। परमाणु व स्कंध रूप पुद्गल सर्वत्र है।

इन छः द्रव्योंका अस्तित्व कभी मिट नहीं सकता है। उनके भीतर संसारी जीव कर्मवंध सहित अशुद्ध हैं। उनको भी जब शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे देखा जावे तो वे शुद्ध ही झलकते हैं। इस दृष्टिसे पुद्गल द्रव्य भी परमाणुरूप शुद्ध दिखता है। समताभाव लानेके लिये इन छहों द्रव्योंको मूल स्वभावसे शुद्ध अलग२ देखना चाहिये। तव राग द्वेप नहीं रहेंगे।

समाधिशतकमें कहाहै—

यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः॥ ६७॥

भावार्थ—यह चलता फिरता जगत भी जिसकी दृष्टिमें शुद्ध निश्चयनयके वलसे चलन रहित थिर, विकल्प रहित निर्विकल्प क्रिया व भोगरहित निर्विकल्प दिखता है वह समभावको प्राप्त करता है। मोक्षमार्ग पर चलनेवालेके छः द्रव्योंकी सत्ताका पक्का निश्चय होना चाहिये, तव भ्रम रहित ज्ञान होगा, तव परद्रव्य व परभावोंसे उदास होकर स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति हो सकेगी।

सात तत्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। जीव तत्वमें सर्व अनन्त जीव आगए। अजीव तत्वमें शेष पांच द्रव्य आगए। कालाणु एक एक प्रदेशपर होनेसे कायरहित हैं। शेप पांच द्रव्य वहुप्रदेशी हैं। परमाणुमें मिलनेकी शक्ति है इसलिये कालको छोड़कर शेप पांच द्रव्योंको अस्तिकाय कहते हैं।

कर्मवर्गणाओंके आनेको आस्रव व कार्मण शरीरके साथ वन्धनेको वन्ध कहते हैं। ये दोनों आस्रव व वन्ध एक साथ एक समयमें होते हैं। इसलिये दोनोंके कारण भाव एक ही हैं। मिथ्या-

दर्शन पांच प्रकार, अविरति हिंसादि पांच प्रकार या पांच इन्द्रिय व मनको वश न रखना तथा छः कायकी दया न पालना, इस-तरह बारह प्रकार, कषाय पच्चीस प्रकार, योग पंद्रह प्रकार सब सत्तावन आस्रव व बन्धके कारणभाव हैं।

संक्षेपमें योग व कषायसे आस्रव व बन्ध होते हैं। मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे जब आत्माके प्रदेश सकम्प होते हैं तब योगशक्तिसे कर्मवर्गणाएं खिंचकर आती हैं व बन्ध जाती हैं। ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप बन्धन प्रकृतिबन्ध है। कितनी संख्या बन्धी सो प्रदेशबन्ध है। इन दो प्रकार बन्धका हेतु योग है। कर्मोंमें स्थिति पड़ना स्थितिबन्ध है। फलदान शक्ति पड़ना अनुभाग बन्ध है। ये दोनों बन्ध कषायसे होते हैं।

कर्मोंके आस्रवके रोकनेको संवर कहते हैं। उनका उपाय आस्रव विरोधी भावोंका लाभ है। सम्यग्दर्शन, अहिंसादि पांच व्रत, कषायरहित वीतरागभाव व योगोंका स्थिर होना संवरभाव है।

पूर्व बांधे हुये कर्मोंका एकदेश गिरना निर्जरा है। फल देकर गिरना सविपाक निर्जरा है। विना फल दिये समयसे पूर्व झड़ना अविपाक निर्जरा है। उसका उपाय तप या ध्यान है। संवर व निर्जराके द्वारा सर्व कर्मोंसे रहित होजाना मोक्ष है। इन सात तत्वोंमें पुण्य पाप मिलानेसे नौ पदार्थ होजाते हैं। पुण्य पाप आस्रव व बंध तत्वोंमें गर्भित हैं। व्यवहार नयसे इन नौ पदार्थोंमें जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये चार ही ग्रहण करने योग्य हैं, शेष पांच त्यागने योग्य हैं। निश्चयनयसे एक अपना शुद्ध जीव ही ग्रहण करने योग्य है।

समयसारमें कहा है—

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्यपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबन्धो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १५ ॥

भावार्थ—निश्चयनयसे जाने हुये ये नौ पदार्थ सम्यक्त होते हैं अर्थात् ये नौ पदार्थ जीव अजीवके संयोगसे हैं। अस्रावादि सात पदार्थ जीव व कर्मवर्गणाके संयोगसे होते हैं। इनमें एक जीव कर्मरहित ग्रहण करने योग्य है ऐसा श्रद्धान निश्चयसे सम्यक्त है।

सब पदार्थोंमें चेतनेवाला एक जीव ही है।

सव्व अचेयण जाणि जिय एक्क सचेयण सारु।
जो जाणेविण परममुणि लहु पावइ भवपारु॥ ३६॥

अन्वयार्थ—(सव्व अचेयण जाणि) पुद्गलादि सर्व पांचों द्रव्योंको व उनसे बने पदार्थोंको अचेतन या जड़ जानो (एक्क जिय सचेयण सारु) एक अकेला जीव ही सचेतन है व सारभूत परम पदार्थ है (परम मुणि जो जाणेविण लहु भवपारु पावइ) परम मुनि जिस जीव तत्वको अनुभव करके शीघ्र ही संसारसे पार होजाते हैं।

भावार्थ—छः द्रव्योंमें एक आत्मा ही सचेतन है जो अपनेको भी जानता है व सर्व जाननेयोग्य ज्ञेय पदार्थोंको भी जानता है। पांच पुद्गलादि द्रव्य चेतना रहित जड़ हैं। नौ पदार्थोंमें भी यदि शुद्ध निश्चयनयसे देखा जावे तो एक आत्मा भिन्न ही दीख पड़ता है। जैसे शक्करको अन्नके साथ मिलाकर नौ मिठाइयां बनाई जावें तौभी उनमें शक्करको देखनेवाला शक्करको जुदा देखता है।

ज्ञानीको उचित है कि वह अपने आत्माको सर्व परद्रव्योंसे भिन्न देखे। आठ कर्म भी जड़ हैं, शरीर भी जड़ है, कर्मके निमित्तसे होनेवाले औपाधिक विकारीभाव भी आत्माका स्वभाव नहीं। मति-ज्ञानादि खण्ड व क्रमवर्ती ज्ञान भी कर्मके संयोगसे होते हैं, ये भी

आत्माका स्वभाव नहीं। आत्मा द्रव्यको मात्र द्रव्यरूप अखण्ड सिद्ध भगवानके समान शुद्ध देखना चाहिये । व ऐसा ही अनुभव करना चाहिये । परम मुनि ही शुद्धात्माके ध्यानसे शीघ्र ही भव-सागरसे पार होजाते हैं ।

मोक्षके कारणकलापमें वज्रवृपभनाराच संहननका होना जरूरी है। विना इसके ऐसा वीर्य नहीं प्रगट होता कि क्षपकश्रेणीपर चढ़ सके व घातीयकर्मका क्षय करके केवलज्ञानी होसके । परिग्रहत्यागी निर्ग्रंथ मुनि ही मोक्षके योग्य ध्यान करसक्ते हैं। इसलिये २४प्रकारके परिग्रह-का होना निपेधा है । क्षेत्र, घर, धन, धान्य, चांदी, सुवर्ण, दासी, दास, कपडे, वर्तन ये दश प्रकार बाहरी परिग्रह हैं। ये विलकुल पर हैं इनको त्यागा जासक्ता है, तव वाहरी परिग्रहकी चिंता मनको नहीं सताएगी । अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार हैं। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद । इनकी ममता वुद्धिपूर्वक छोड़ी जाती है ।

कर्मोदयसे यदि कोई विकार होता है तो उसको ग्रहण योग्य मानके ज्ञानी साधु स्वागत नहीं करते हैं, यही परिग्रहका त्याग है। बालकके समान नग्न रहकर जो साधु अप्रमत्त गुणस्थानके साति-शय भावको प्राप्त होकर व क्षायिक सम्यक्तसे विभूपित होकर क्षपक-श्रेणी चढ़कर शुक्लध्यान ध्याते हैं वे ही उसी भवसे निर्वाण लाभ कर लेते हैं । बाहरी चारित्र निमित्त है, शुद्ध अनुभव रूप परम सामा-यिक या यथाख्यातचारित्र उपादान कारण है । निमित्तके होनेपर उपादान उन्नति करता है । परंतु साधककी दृष्टि अपने ही उपादान-रूप आत्मीक भाव ही पर रहती है । तात्पर्य यह है कि व्यवहार सम्यक्तके कारणोंमें भी एक सारभूत अपने ही शुद्धात्माका ग्रहण कार्यकारी है । समयसारकलशामें कहा है—

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं ।
कनकमिव निमग्नं वर्णमालकलापे ॥
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं ।
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥ ८-१ ॥

भावार्थ—जैसे सोनेकी मालामें सोना भिन्न झलकता है वैसे ही जीवोंको उचित है कि वह अनादिकालसे पदार्थोंके भीतर छिपी हुई अपनी आत्मज्योतिको अलग निकाल कर सदा ही परसे भिन्न व एकरूप प्रकाशमान हरएक पदमें देखे—शुद्धात्माका ही अपने भीतर दर्शन करे ।

मोक्षपाहुड़में कहा है—

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥ ४९ ॥
चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥ ५० ॥

भावार्थ—योगी चारित्रमें पक्का होकर पक्के निर्मल सम्यग्दर्शनकी भावना करता हुआ जब अपने आत्माको ध्याता है तो परमपद मोक्ष पाता है । आत्माका धर्म या स्वभाव ही चारित्र है आत्माका धर्म आत्माका समभाव है। वह समभाव राग द्वेष रहित जीवका अपना ही भाव है। इस भावसे ही मोक्ष होता है ।

व्यवहारका मोह त्यागना जरूरी है।

जइ णिम्मलु अप्पा मुणहि छंडिवि सहु ववहारु ।
जिण-सामिउ एमइ भणइ लहु पावहु भवपारु ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थ—(जिणसामी एहउ भणइ) जिनेन्द्र भगवान ऐसा कहते हैं (जइ सहुववहारु छंडवि णिम्मलु अप्पा मुणहि) यदि तू सर्व व्यवहार छोड़कर निर्मल आत्माका अनुभव करेगा (लहु भवपारु पावहु) तो शीघ्र भवसे पार होगा।

भावार्थ—यहां जिनेन्द्र भगवानकी यही आज्ञा है व यही उपदेश बताया है कि निर्मल आत्माका अनुभव करो। यह अनुभव तब ही होगा जब सर्व परके आश्रव व्यवहारका मोह त्यागा जायगा, पर पदार्थका परमाणु मात्र भी हितकारी नहीं है। व्यवहार धर्म, व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका जितना विषय है वह सब त्यागनेयोग्य है। सम्यग्दृष्टी चाहे गृहस्थ हो या साधु, केवल अपने शुद्ध आत्माको ही अपना हितकारी जानता है। शेष सर्वको त्यागनेयोग्य परिग्रह जानता है।

यद्यपि वह मनके लगानेको व ज्ञानकी निर्मलताके लिये सात तत्वोंका विचार करता है, जिनवाणीका पठनपाठन मनन उपदेश करता है, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग पांच व्रतोंको एकदेश या सर्वदेश पालता है, मन्त्रोंका जप करता है, उपवास करता है, रसत्याग करता है तौ भी इन सब कार्योंको व्यवहार धर्म जानके छोड़नेयोग्य समझता है, क्योंकि व्यवहारके साथ राग करना कर्मबंधका कारण है। केवल अपनी आत्माकी विभूति-ज्ञानानन्द सम्पदाको अपनी मानके ग्रहण किये रहता है। सर्व चेतन, अचेतन व मिश्र परिग्रहको त्यागनेयोग्य समझता है। सिद्धोंका ध्यान करता है तौ भी सिद्धोंको पर मानके उनके ध्यानको भी त्यागनेयोग्य जानता है, क्योंकि वहां भी शुभ रागका अंश है। और तो क्या, गुणगुणी भेदका विचार भी परिग्रह है, व्यवहार है, त्यागनेयोग्य है, क्योंकि इस विचारमें विकल्प है। विकल्प है वहां

शुद्धभाव नहीं। यद्यपि इस विचारका आलम्बन दूसरे शुक्ल ध्यान तक है तथापि सम्यग्दृष्टी इस आलम्बनको भी त्यागने योग्य जानता है।

सम्यक्तीका देव, गुरु, शास्त्र, घर, उपवन सब कुछ एक अपना ही शुद्धात्मा है, वही आसन है, वही शिला है, वही पर्वतकी गुफा है, वही सिंहासन है, वही शय्या है। ऐसा असंग भाव व शुद्ध श्रद्धान जिसको होता है वही सम्यग्दृष्टी ज्ञानी है, वही उस नौका पर आरूढ़ है जो संसारसागरसे पार करनेवाली है। व्यवहारके मोहसे कर्मका क्षय नहीं होगा। जो अहंकार करे कि मैं मुनि, मैं तपस्वी वह व्यवहारका मोही मोक्षमार्गी नहीं है। यद्यपि मुनिका नग्न भेष व श्रावकका सवस्त्र भेष निमित्त कारण है तथापि मोक्षका मार्ग तो एक रत्नत्रय धर्म ही है। समयसारमें कहा है—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे ण विदुसा पवट्ठन्ति।
परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि॥ १६३॥

भावार्थ—ज्ञानीजन निश्चय पदार्थको छोड़ कर व्यवहारके भीतर नहीं प्रवर्तते हैं। व्यवहारसे मोह नहीं रखते हैं। क्योंकि जो साधु परमार्थका या अपने शुद्धात्माका आश्रव करते हैं उन्हींके कर्मोंका क्षय होता है।

पांखंडियलिंगेसु व गिहलिंगेसु व वहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं॥ ४३५॥

भावार्थ—जो कोई साधुके भेषमें या व्यवहार चारित्रमें या नाना प्रकारके श्रावकके भेषमें या व्यवहार चारित्रमें ममताभाव करते हैं उन्होंने समयसार जो शुद्धात्मा उसको नहीं जाना है।

मोक्षपाहुडमें कहा है—

वाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्मो।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ॥ ६१ ॥

भावार्थ—जो बाहरी भेष व चारित्र सहित है परन्तु भीतरी आत्मानुभवरूप चारित्रसे रहित है, वह स्वचारित्रसे भ्रष्ट होता हुआ मोक्षमार्गका विनाशक है।

जीव अजीवका भेद जानो।

सोरठा—जीवाजीवहँ भेउ जो जाणइ तिं जाणियउ।
मोक्खहँ कारण एउ भणइ जोइ जोइहिं भणिउ ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(जोइ) हे योगी! (जोइहिं भणिउ) योगियोंने कहा है (जीवाजीवहँ भेउ जो जाणइ) जो कोई जीव तथा अजीवका भेद जानता है (तिं मोक्खहँ कारण जाणियउ) उसीने मोक्षका मार्ग जाना है (एउ भणइ) ऐसा कहा गया है।

भावार्थ—बन्ध व मोक्षका व्यवहार तब ही सम्भव है जब दो भिन्न २ वस्तुएं हों, वे बन्धती व खुलती हों। गाय रस्सीसे बंधी है; रस्सी छूट जानेपर गाय छूट गई। यदि अकेली गाय हो या अकेली रस्सी हो तो गायका बन्धना व छूटना हो नहीं सकता, उसी तरह यदि लोकमें जीव ही अकेला होता, अजीव न होता तो जीव कभी बन्धता व खुलता नहीं।

संसारदशामें जीव अजीवका बंध है तब मोक्षदशामें जीवका अजीवसे छूटना होता है। दो प्रकारके भिन्न२ द्रव्य यदि लोकमें नहीं होते तो संसार व मोक्षका होना संभव नहीं था। यह लोक छः द्रव्योंका समुदाय है, उनमें जीव सचेतन है। शेष पांच अचेतन या अजीव हैं। इनमें चार द्रव्य तो बंध रहित शुद्ध दशामें सदा मिलते हैं।

धर्म द्रव्य, अधर्मद्रव्य, काल व आकाश इनके सदा स्वभाव परिणमन होता है। जीव व पुद्गलमें ही विभाव परिणमनकी शक्ति है। जीव पुद्गलके बंधमें जीवमें विभाव होते हैं। जीवके विभावके निमित्तसे पुद्गलमें विभाव परिणमन होता है। पुद्गल स्वयं भी स्कंध बनकर विभाव परिणमन करते हैं। हरएक संसारी जीव पुद्गलसे गाढ़ बंधन रूप होरहा है। तैजस व कार्मणका सूक्ष्म शरीर अनादिसे सदा ही साथ रहता है। इनके सिवाय औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर व आहारक शरीर व भाषा व मनके पुद्गलोंका संयोग होता रहता है।

यह जीव पुद्गलकी संगतिमें ऐसा एकमेक होरहा है कि यह अपनेको भूल ही गया है। कर्मोंके उदयके निमित्तसे जो रागादि भावकर्म व शरीरादि नोकर्म होते हैं उन रूप ही अपनेको मानता रहता है। पुद्गलके मोहमें उन्मत्त होरहा है इसीसे कर्मका बंध करके बंधनको बढ़ाता है व कर्मोंके उदयसे नानाप्रकार फल भोगता है। सुख तो रंचमात्र है, दुःख बहुत है।

जन्म, मरण, जरा, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोगका अपार कष्ट है, तृष्णाकी दाहका अपार दुःख है। जब श्रीगुरुके प्रसादसे या शास्त्रके प्रवचनसे इसको यह भेदविज्ञान हो कि मैं तो द्रव्य हूं, मेरा स्वभाव परम शुद्ध निरंजन निर्विकार, अमूर्तीक, पूर्ण ज्ञान दर्शनमई व आनंदमई है, मेरे साथ पुद्गलका संयोग मेरा रूप नहीं है, मैं निश्चयसे पुद्गलसे व पुद्गल कृत सर्व रागादि विकारोंसे बाहर हूं, पुद्गलका सम्बन्ध दूर करना योग्य है, मोक्ष प्राप्त करना योग्य है, इस तरह जब भेदविज्ञान हो व पुद्गलसे पक्का वैराग्य हो तब मोक्षका उपाय हो सक्ता है। तब यह दृढ़ बुद्धि हो कि कर्मोंके आस्रव बंध दुःखके मूल हैं। इनको छोड़ना चाहिये व मोक्षके कारण, संवर व निर्जरा हैं, इनका उपाय करना चाहिये। ऐसी प्रतीति होनेपर ही

मोक्षका उपाय हो सकेगा। जो यह पका जानेगा कि मैं रोगी हूं, रोगका कारण यह है, वही रोगके कारणोंसे बचेगा व विद्यमान रोगके निवारणके लिये औषधका सेवन करेगा। इसलिये मूलसूत्रमें कहा है कि जीव व अजीवके भेदका ज्ञान मोक्षका कारण है।

तत्वानुशासनमें कहा है—

तापत्रयोपतप्तेभ्यो भव्येभ्यः शिवशर्मणे।
तत्त्वं हेयमुपादेयमिति द्वेधाभ्यधादसौ ॥ ३ ॥
बंधो निबंधनं चास्य हेयमित्युपदर्शितं।
हेयं स्याद्दुःखसुखयोर्यस्माद्बीजमिदं द्वयं ॥ ४ ॥
मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतं।
उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ॥ ५ ॥

भावार्थ—जन्म, जरा, मरण तीन प्रकारके संतापसे दुःखी होकर भव्य जीवोंको परमानन्दमय मोक्ष सुखका लाभ हो इसलिये सर्वज्ञ देवने हेय या उपादेय दो प्रकार तत्व कहा है। बन्ध व उसके कारण मिथ्यात्वादि आस्रव भाव त्यागनेयोग्य हैं, क्योंकि ये ही त्यागनेयोग्य सांसारिक दुःख सुखके बीज हैं। मोक्ष व उसके कारण संवर व निर्जराभाव ग्रहणयोग्य हैं, क्योंकि इनके द्वारा सच्चा सुख जो ग्रहणयोग्य है सो प्रगट होगा। समयसार कलशमें कहा है—

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं,
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तं।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं,
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥ ११-२॥

भावार्थ—जीवसे अजीव लक्षणसे ही भिन्न है इसलिये ज्ञानी

जीव अपनेको सर्व रागादिसे व शरीरादिसे भिन्न ज्ञानमय प्रकाशमान एकरूप अनुभव करता है। आश्चर्य व खेद है कि अज्ञानी जीवमें अनादिकालसे यह मोहभाव क्यों नाच रहा है जिससे यह अजीवको अपना तत्व मान रहा है। दो द्रव्योंको न्यारे न्यारे नहीं देखता है इसीसे संसार है।

आत्मा केवलज्ञानस्वभावधारी है।

केवल-णाण-सहाउ सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ।
जइ चाहहि सिव-लाहु भणइ जोइ जोइहिं भणिउँ ॥३९॥

अन्वयार्थ—(जोइ) हे योगी! (जोइहिं भणिउं) योगियोंने कहा है (तुहुं केवल-णाण-सहाउ सो अप्पा जीव मुणि) तू केवलज्ञान स्वभावी जो आत्मा है उसे ही जीव जान (जइ सिव-लाहु चाहहि) यदि तू मोक्षका लाभ चाहता है (भणइ) ऐसा कहा गया है।

भावार्थ—हरएक आत्माको जब निश्चयनयसे या पुद्गलके स्वभावसे देखा जावे तब देखनेवालेके सामने अकेला एक आत्मा सर्व परके संयोग रहित खड़ा होजायगा। तब वहां न तो आठों कर्म दीखेंगे न शरीरादि नो कर्म दीखेंगे, न रागद्वेषादि भावकर्म दीखेंगे। सिद्ध परमात्माके समान हरएक आत्मा दीखेगा। यह आत्मा वास्तवमें अनुभवसे पर है। तथापि समझनेके लिये कुछ विशेष गुणोंके द्वारा अचेतन द्रव्योंसे जुदा करके बताया गया है। छः विशेष गुण ध्यान देनेयोग्य हैं।

(१) ज्ञान—जिस गुणके द्वारा यह आत्मदीपकके समान आपको व सर्व जाननेयोग्य द्रव्योंकी गुणपर्यायोंको एकसाथ क्रम-

रहित जानता है, इसीको केवलज्ञान–स्वभाव कहते हैं। इन्द्रियोंकी व मनकी सहायता विना सकल प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान आवरण रहित सूर्यकी भांति प्रकाशता है। उसके द्वारा अन्य गुणोंका प्रतिभास होता है। इसीको सर्वज्ञपना कहते हैं। हरएक आत्मा स्वभावसे सर्वज्ञ है।

(२) दर्शन—जिस गुणके द्वारा सर्व पदार्थोंके सामान्य स्वभावको एकसाथ देखा जासके वह केवलदर्शन स्वभाव है। वस्तु सामान्य विशेषरूप है, सामान्य अंशको ग्रहण करनेवाला दर्शन है, विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है।

(३) सुख—जिस गुणके द्वारा परम निराकुल अद्वितीय आनंदामृतका निरन्तर स्वाद लिया जावे। हरएक आत्मा अनन्त सुखका सागर है, वहां कोई सांसारिक नाशवंत परके द्वारा होनेवाला सुख व ज्ञान नहीं है। जैसे लवणकी डली खाररससे व मिश्रीकी डली मिष्टरससे पूर्ण है वैसे ही हरएक आत्मा परमानंदसे पूर्ण है।

(४) वीर्य—जिस शक्तिसे अपने गुणोंका अनंत कालतक भोग या उपभोग करते हुए खेद व थकावट न हो, निरंतर सहज ही शांतरसमें परिणमन हो, अपने भीतर किसी बाधकका प्रवेश न हो। हरएक आत्मा अनंतवीर्यका धनी है। पुद्गलमें भी वीर्य है, अशुद्ध आत्माका घात करता है तथापि आत्माका वीर्य उससे अनंतगुणा है, क्योंकि कर्मोंका क्षय करके परमात्मा पद आत्म वीर्यसे ही होता है।

(५) चैतनत्व—चेतनपना, अनुभवपना "चैतन्यं अनुभवनं" (आलाप पद्धति) अपने ज्ञान स्वभावका निरंतर अनुभव करना, कर्मका व कर्मफलका अनुभव नहीं करना। संसारी आत्मा रागी द्वेषी होते हैं अतएव राग द्वेषपूर्वक शुभ व अशुभ काम करनेमें तन्मय रहते हैं या कर्मके फलको भोगते हुए सुख दुःखमें तनमय होजाते हैं।

कर्म रहित शुद्ध आत्मामें मात्र एक ज्ञानचेतना है ज्ञानानन्दका ही अनुभव है।

(६) अमूर्तत्व—यह आत्मा यद्यपि असंख्यात प्रदेशी एक अखंड द्रव्य है तथापि यह स्पर्श, रस, गंध, वर्णसे रहित अमूर्तीक है। इन्द्रियोंके द्वारा देखा नहीं जासक्ता है। आकाशके समय निर्मल आकारधारी ज्ञानाकार है। इन छः विशेप गुणोंसे यह आत्मा पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणु व आकाश इन पांच अचेतन द्रव्योंसे भिन्न झलकता है। हरएक आत्मा स्वभावसे परम वीतराग शांत निर्विकार है, अपनी ही परिणतिका कर्ता व भोक्ता है, परका कर्ता व भोक्ता नहीं। हरएक आत्मा परम शुद्ध परमात्मा परम समदर्शी है।

इस तरह जो अपने आत्माको व परकी आत्माओंको अर्थात् विश्वकी सर्व आत्माओंको देखता है वहां पूर्ण स्वाभाविक या समभाव झलकता है। यही समभाव चारित्र है, ध्यान है, भावसंवर है भाव निर्जरा है, यही कर्म क्षयकारी भाव है, यही निर्जराका उपाय है। योगियोंने, परम ऋपियोंने व अरहंतोंने स्वयं अनुभव करके यही बताया है। मुमुक्षुको सदा ही अपने आत्माका ऐसा शुद्ध ज्ञान रखना चाहिये। समयसार कलशामें कहा है—

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमवाधितम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥ ९-२ ॥

भावार्थ—यह जीव अनादिसे अनंतकाल तक रहनेवाला है, चंचलता रहित निश्चल है, स्वयं चेतनामई है, स्वानुभवगोचर है, सदा ही चमकनेवाला है। तत्वानुशासनमें कहा है—

स्वरूपं सर्वजीवानां स्वपरस्य प्रकाशनं।
भानुमंडलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनं ॥ २३५ ॥

न मुह्यति संशेते न स्वार्थानध्यवस्यति ।
न रज्यते न च द्वेष्टि किंतु स्वस्थः प्रतिक्षणं ॥२३७॥

भावार्थ—सर्व जीवोंका स्वभाव आत्माका व परपदार्थोंका सूर्यमण्डलकी तरह विना दूसरेकी सहायतासे प्रकाश करता है। हर-एक आत्मा स्वभावसे संशयवान नहीं होता है, अनध्यवसाय या ज्ञानके आलस्य भावको नहीं रखता है न मोह या विपरीत भावको रखता है, संशय विमोह अनध्यवसाय रहित है, न तो राग करता है न द्वेष करता है। किंतु प्रति समय अपने ही भीतर मगन रहताहै।

ज्ञानीको हरजगह आत्मा ही दिखता है।

को सुसमाहि करउ को अंचउ, छोपु-अछोपु करिवि को वंचउ।
हल सहि कलहु केण समाणउ, जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ ॥४०

अन्वयार्थ—(को सुसमाहि करउ) कौन तो समाधि करे (को अंचउ) कौन अर्चा या पूजन करे (छोपु-अछोपु करिवि) कौन स्पर्श अस्पर्श करके (को वंचउ) कौन वंचना या मायाचार करे (केण सहि हल कलहु समाणउ) कौन किसके साथ मैत्री व कलह करे (जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ) जहां कहीं देखो वहां आत्मा ही आत्मा दृष्टिगोचर होता है।

भावार्थ—इस चौपाईमें बताया है कि निश्चयनयसे ज्ञानी जब देखता है तब उसे अपना आत्मा परम शुद्ध दीखता है, वैसे ही विश्वभरमें भरे सूक्ष्म व बादर शरीरधारी आत्माएं भी सब परम शुद्ध दीखती हैं। इस दृष्टिमें नर नारक देव पशुके नाना प्रकारके भेद नहीं दिखते हैं, एक आत्मा ही आत्मा दिखता है। ऐसा उस ज्ञानीके

भावोंमें समभाव झलक गया है। एक अद्वैत आत्माका ही अनुभव आरहा है। अनुभवके समय तो आपमें ही लीन है।

अनुभवकी माता भावना हैं। भावनाके समय उसे शुद्ध दृष्टिसे शुद्धात्मा ही दिखता है। इसका अभिप्राय यह नहीं लेना कि पुद्गलादि पांच द्रव्योंका अभाव होजाता है। जगत छः द्रव्योंका समुदाय है। वे द्रव्य सत्त सत् पदार्थ हैं, उनका कभी लोप नहीं होसकता। तथापि आत्मदर्शकका लक्ष्यविन्दु एक आत्मा ही आत्मा है। इसलिये आत्मा ही आत्मा दिखता है। जैसे कोई खेतमें जावे और दृष्टि देखनेवालेकी चनेके दानेकी तरफ हो तो वह चनेके खेतमें चनोंको ही देखता है, वृक्षके पत्ते, शाखा, मूलादिको नहीं देखता है और कहता है कि इस खेतमें पांच मन चना निकलेगा।

वहुतसे सुवर्णके गहने मणिजडित हैं, जौंहरीके पास विकनेको लेजाओ तव वह केवल मणियोंको देखता है, सुवर्णको नहीं ध्यानमें लेता, मणियोंकी ही कीमत करता है। उसी ही गहनेको सर्राफके पास लेजाओ तो वह मात्र सुवर्णको ही देखकर सुवर्णकी कीमत लगाता है। इसी तरह आत्मज्ञानीको हरजगह आत्मा ही आत्मा दीखता है, यही भाव सामायिक चारित्र है, यही श्रावकका सामायिक शिक्षाव्रत है।

जब आप परम शांत समभावी होगए तव साक्षात् कर्मके क्षयका कारण उपाय बन गया। फिर वहां और कल्पनाओंका स्थान नहीं रहा, न यह चिंता रही कि समाधिभाव प्राप्त करना है न यह चिन्ता रही कि पूजन पाठ करना है, न वह विचार ही कि शुद्ध भोजन करना है अशुद्ध नहीं करना है, अमुकके हाथका स्पर्शित करना है, अमुकके हाथका स्पर्शित नहीं करना है। राग द्वेष रूप भाव व्यवहारसे करना पडता है यह व्यवहार निश्चयकी अपेक्षा असत्य है, माया रूप है, मिथ्याभिमान है।

जब सर्व जीवोंको समान देख लिया तब किसके साथ मैत्री करे व किसके साथ कलह करे। रागद्वेष तो नाना भेद रूप दृष्टिमें ही होसक्ते हैं। सर्वको शुद्ध एकाकार देख लिया तब शत्रु व मित्रकी कल्पना ही न रही। सर्व व्यवहार धर्म कर्मसे दूर होगया। व्यवहार निमित्त साधनके द्वारा जो भाव प्राप्त करना था सो प्राप्त कर लिया। समभाव ही चारित्र है, समभाव ही धर्म है, समभाव ही परम तत्व है सो मिल गया। वह भव्यजीव कृतार्थ होगया, बंधकी परिपाटीसे छूट गया, निर्जराके मार्गमें आरूढ़ होगया। सर्वार्थसिद्धिमें कहा है—

एकत्वेन प्रथमं गमनं समयः, समय एव सामयिकं, समयः प्रयोजन-मस्येति वाविगृह्य सामायिकं॥ अ० ७ सू० २१॥

भावार्थ—आत्माके साथ एकमेक होजाना आत्मामई होजाना सामायिक है। सारसमुच्चयमें कहा है—

समता सर्वभूतेषु यः करोति सुमानसः।
ममत्वभावनिर्मुक्तो यात्यसौ पदमव्ययम्॥ २१३॥

भावार्थ—जो सुबुद्धी सर्व प्राणी मात्रसे समभाव रखता है व ममतासे छूट जाता है वही अविनाशी पदको पाता है।

समाधिशतकमें कहा है—

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम्॥ ४४॥

भावार्थ—मूर्ख अज्ञानी इस दिखनेवाले जगतको, स्त्री, पुरुष, नपुंसक रूप तीन लिंगमय देखता है। ज्ञानी इस जगतको शब्द रहित परम शांत देखता है।

अनात्मज्ञानी कुतीर्थोंमें भ्रमता है।

ताम कुतित्थिइं परिभमइ धुत्तिम ताम करेइ।
गुरुहु पसाएं जाम णवि अप्पा-देउ मुणेइ ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(गुरुहु पसाएं जाम अप्पादेउ णवि मुणेइ) गुरु महाराजके प्रसादसे जब एक अपने आत्मारूपी देवको नहीं पहचानता है (ताम कुतित्थिइ परिभमइ) तबतक मिथ्या तीर्थोंमें घूमता है (ताम धुत्तिम करेइ) तब ही तक धूर्तता करता है।

भावार्थ—जबतक यह जीव अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टी है, संसारासक्त है तबतक इसको इष्ट इन्द्रियोंकी प्राप्तिकी कामना रहती है व बाधक कारणोंके मिटानेकी लालसा रहती है। मिथ्यामार्गके उपदेशकोंके द्वारा जिस किसीकी भक्ति व पूजासे व जहां कहीं जानेसे विषयोंके लाभमें मदद होनी जानता है उसकी भक्ति व पूजा करता है व उन स्थानोंमें जाता है। मिथ्या देवोंकी, मिथ्या गुरुओंकी मिथ्या धर्मोंकी, मिथ्या तीर्थोंकी खूब भक्ति करता है। नदी व सागरमें स्नानसे पाप नाश कर इष्टलाभ मान लेता है। खेल तमाशोंमें विषय पोखते हुए धर्म मान लेता है। तीव्र प्रकारकी मूढ़तामें फंसा रहता है, जैसा श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें कहा है—

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ २२ ॥

भावार्थ—नदी व सागरमें स्नान करनेसे, बालू व पत्थरोंके ढेर लगानेसे, पर्वतसे गिरनेसे, आगमें जलकर मरनेसे भला होगा मानना, पाप क्षय, पुण्य लाभ या मुक्ति मानना लोकमूढता है।

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥

भावार्थ—लौकिक फलकी इच्छासे आशावान होकर जो राग द्वेषसे मलीन देवताओंको पूजना सो देवमूढ़ता है।

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम् ॥ २४ ॥

भावार्थ—परिग्रहधारी, आरंभ व हिंसा करने वाले, संसार-रूपी चक्रमें वर्तने व वर्ताने वाले साधुओंका आदर सत्कार करना सो पाखण्ड मूढ़ता है।

लौकिक जन इन तीन प्रकारकी मूढताओंसे ठगे गए संसारासक्त बने रहते हैं। इनके लिये तन, मन, धन अर्पण करके बड़ी भक्ति करते हैं। धन, स्त्री, निरोगता आदि लाभके लोभसे पशुबलि तक देवी देवताओंके नामपर करते हैं। धूर्तता व खोटे पापबन्धक नदी सागरादि तीर्थोंमें भ्रमण तबतक यह अज्ञानी करता रहता है जबतक इसको सम्यग्दर्शनका प्रकाश नहीं है।

अपने ही आत्माको परमात्मा देव मानना व परमानंदका प्रेमी होना, संसारके विषयोंसे वैराग्य होना, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि लौकिक पदोंको अपर समझकर इनसे उदास होना, आत्मानुभवको ही निश्चय धर्म मानना सम्यग्दर्शन है। सम्यक्ती मुख्यतासे अपने आत्मादेवकी आराधना करता है। जब रागके उदयसे आत्मशक्ति नहीं हो सक्ती है तब वीतरागताके ही उद्देश्यसे अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पांच परमेष्टियोंकी भक्ति करता है, शास्त्रोंका मनन करता है, वैराग्य दायक व आत्मज्ञान जागृत करनेवाले उत्तम तीर्थोंकी यात्रा करता है।

संसारसे पार होनेवाले मार्गको तीर्थ व पार होनेका मार्ग बतानेवालोंको तीर्थंकर कहते हैं। ये तीर्थंकर या उनहीके समान अन्य मोक्षगामी महात्मा जहां जन्मते हैं, तप करते हैं, केवलज्ञान उपजाते

हैं व निर्वाण जाते हैं वे सब पवित्र स्थान आत्मधर्म रूपी तीर्थको स्मरण करानेके निमित्त होनेसे तीर्थ कहलाते हैं। जैसे अयोध्या, हस्तिनापुर, कांपिल्या, वनारस, सम्मेदशिखर, गिरनार, राजगृह, पावापुर इत्यादि। जहां कहीं विशेप ध्यानाकार प्राचीन प्रतिमा होती है वह भी वैराग्यके निमित्त होनेसे तीर्थ माना जाता है जैसे श्रवणबेलगोलाके श्री गोम्मटस्वामी, चांदनगांवके महावीरजी, सजोतके श्री शीतलनाथजी आदि।

आत्मज्ञानी ऐसे तीर्थोंका निमित्त मिलाकर आत्मानुभवकी शक्ति वढ़ाता है। निश्चय तीर्थ अपना आत्मा ही है, व्यवहार तीर्थ पवित्र क्षेत्र है।

निज शरीर ही निश्चयसे तीर्थ व मंदिर है।

तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि वुत्तु।
देहादेवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु ॥४२॥

अन्वयार्थ—(सुइकेवलि इम वुत्तु) श्रुतकेवलीने ऐसा कहा है कि (तित्थहिं देवलि देउ णवि) तीर्थक्षेत्रोंमें व देव मंदिरमें परमात्मा देव नहीं हैं (णिरुत्तु एहउ जाणि) निश्चयसे ऐसा जान कि (देहादेवलि जिणु देउ) शरीररूपी देवालयमें जिनदेव हैं।

भावार्थ—निश्चयसे या वास्तवमें यदि कोई परमात्मा श्री जिनेन्द्रका दर्शन या साक्षात्कार करना चाहे तो उसको अपने शरीरके भीतर ही अपने ही आत्माको शुद्ध ज्ञान दृष्टिसे शुद्ध स्वभावी सर्व भावकर्म, द्रव्य कर्म, नोकर्म रहित देखना होगा। कोई भी इस जगतमें परमात्माको अपनी चर्मचक्षुसे कहीं भी नहीं देख सक्ता है। न मंदिरमें न तीर्थक्षेत्रमें न गुफामें न पर्वतपर न नदी तीरपर न

किसी गुरुके पास न किसी शास्त्रके वाक्योंमें। अबतक जिसने परमात्माको देखा है अपने ही भीतर देखा है। वर्तमानमें परमात्माका दर्शन करनेवाले भी अपनी देहके भीतर ही देखते हैं, भविष्यमें भी जो कोई परमात्माको देखेगा वह अपने शरीररूपी मंदिरमें ही देखेंगे।

जब ऐसा निश्चय सिद्धांत है तब फिर मंदिरमें जाकर प्रतिमाका दर्शन क्यों करते हैं व तीर्थक्षेत्रोंपर जाकर पवित्र स्थान पर क्यों मस्तक नमाते हैं ? इसका समाधान यह है कि ये सब निमित्त कारण हैं, जिनकी भक्ति करके अपने ही भीतर आत्मा देवको स्मरण किया जाता है। जो उच्च स्थिति पर पहुंच गए हों कि हर समय आत्माका साक्षात्कार हो वे तो सातवेंसे आगे आठवें नौमें दशवें आदि गुणस्थानोंमें अन्तर्मुहूर्तमें चढ़कर केवलज्ञानी होजाते हैं। जो सविकल्प नीची अवस्थामें हैं, जिनके भीतर प्रमाद जनक कषायका तीव्र उदय सम्भव है, ऐसे देशसंयम गुणस्थान तक श्रावक गृहस्थ तथा प्रमत्तविरत गुणस्थानधारी साधु–इन सबका मन चञ्चल हो जाता है, तब बाहरी निमित्तोंके मिलनेपर फिर स्वरूपकी भावनाएँ दृढ़ हो जाती हैं। इनके लिये श्री जिन मन्दिरमें प्रतिमाका दर्शन व तीर्थक्षेत्रोंकी वन्दना आत्मानुभव या आत्मीक भावनाके लिये निमित्त हो जाते हैं।

यहांपर यह बताया है कि कोई मूढ़ ऐसा समझ ले कि प्रतिमामें ही परमात्मा है या तीर्थक्षेत्रमें परमात्मा बिराजमान है, उनके लिये यहां खुलासा किया है कि प्रतिमामें परमात्माकी स्थापना है या क्षेत्रोंपर निर्वाणादिके पदोंकी स्थापना है। स्थापना साक्षात् पदार्थको नहीं बताती है किंतु उसका स्मरण कराती है व उसके गुणोंका भाव चित्रसे झलकाती है जिसकी वह मूर्ति है। बुद्धिमान कोई यह नहीं मान सक्ता कि ऋषभदेवकी प्रतिमामें ऋषभदेव हैं या

महावीरकी प्रतिमामें महावीर हैं। वह यही मानेगा कि वे प्रतिमाएं ऋषभ या महावीरके ध्यानमय स्वरूपको झलकाती हैं, उनके वैराग्यकी मूर्ति हैं।

इन मूर्तियोंके द्वारा उनहीका स्मरण होता है व मूर्तिको वन्दना करनेसे, व पूजन करनेसे जिसकी मूर्ति है उसीकी वन्दना या पूजा समझी जाती है। क्योंकि भक्तिका लक्ष्य उनपर रहता है, जिनकी वह मूर्ति है। लौकिकमें भी बड़े पुरुषोंके चित्रका आदर उनहीका आदर व उन चित्रोंका अनादर उनहीका अपमान समझा जाता है जिनका वह चित्र है। दर्शकके परिणाम भी मूर्तिके निमित्तसे बदल जाते हैं। वीतराग, तपदर्शक मूर्ति वैराग्य व रागवर्द्धक मूर्ति रागभाव उत्पन्न कर देती है। छठे गुणस्थानतकके भव्यजीव प्रतिमाओंकी व तीर्थक्षेत्रकी भक्ति करते हैं। उनकी भक्तिके बहाने व सहारेसे अपने ही आत्माकी भक्तिपर पहुंच जाते हैं।

जो सम्यग्दृष्टी हैं-आत्मज्ञानी हैं, जो अपनी देहमें अपने ही आत्माको परमात्मारूप देख सकते हैं उनके लिये मंदिर, प्रतिमा, तीर्थक्षेत्र आत्माराधनमें प्रेरक होजाते हैं। जैसे ज्ञानकी वृद्धिमें शास्त्रोंके वाक्य प्रेरक होजाते हैं। ये सब बुद्धिपूर्वक प्रेरक नहीं हैं, किन्तु उदासीन प्रेरक निमित्त हैं।

तत्वार्थसारमें स्थापनाका स्वरूप है—

सोऽयमित्यक्षकाष्ठादेः सम्बन्धेनान्यवस्तुनि।

यद्व्यवस्थापनामात्रं स्थापना साभिधीयते ॥ ११-१ ॥

भावार्थ—लकड़ीकी गोठमें या अन्य वस्तुमें किसीको मान लेना कि यह अमुक है सो स्थापना निक्षेप है। जिसकी स्थापना करनी हो उसके उस भावको वैसी ही दिखानेवाली मूर्ति बनाना तदाकार स्थापना है। किसी भी चिह्नमें किसीको मान लेना अतदाकार

स्थापना है। जैसे चित्रपटमें किसी लकीरको नदी, किसी विन्दुको पर्वत, किसी घेरेको नगर आदि मान लेते हैं। स्थापना केवल संकेत करती है। कोई मूढ़ स्थापनाको साक्षात् मानकर नदीकी स्थापनारूप लकीरसे पानी लेना चाहे तो पानी नहीं मिलेगा। क्योंकि लकीरमें साक्षात् नदी नहीं है।

कोई साधुकी मूर्तिको देखकर प्रश्न करना चाहे तो उत्तर नहीं मिल सकता। क्योंकि वहां साक्षात् साधु नहीं है, साधुका आकार-प्रदर्शक चित्र है। तात्पर्य यह है कि मंदिर व तीर्थमें साक्षात् परमात्माका दर्शन नहीं होगा। परमात्मा जिनदेवका दर्शन तो अपने ही आत्माको आत्मारूप यथार्थ देखनेसे होगा।

परमात्मप्रकाशमें भी कहा है—

देहा देउलि जो वसइ, देव अणाइ अणंतु।

केवलणाण फुरंत तणु सो परमप्पु भणंतु ॥ ३३ ॥

भावार्थ—देहरूपी देवालयमें जो अनादिसे अनंतकाल रहनेवाला केवलज्ञानमई प्रकाशमान शरीरधारी अपना आत्मा है वही निःसंदेह परमात्मा है।

अण्णुजि तित्थ म जाहि जिय, अण्णुजि गुरउ म सेवि।

अण्णुजि देव म चिंत तुहुं अप्पा विमल मुएवि ॥ ९५ ॥

भावार्थ—और तीर्थमें मत जा, और गुरुकी सेवा न कर, अन्य देवकी चिंता न कर, एक अपने निर्मल आत्माका ही अनुभव कर, यही तीर्थ है, यही गुरु है, यही देव है, अन्य तीर्थ, गुरु व देव केवल व्यवहार निमित्त है।

———

देवालयमें साक्षात् देव नहीं है।

देहा-देवलि देउ ज़िणु जणु देवलिहिं णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ—(जिणु देउ देहा देवालि) श्री जिनेन्द्रदेव देहरूपी देवालयमें हैं (जणु देवलिहिं णिएइ) अज्ञानी मानव मंदिरोंमें देखता फिरता है (महु हासउ पडिहाइ) मुझे हंसी आती है (इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ) जैसे इसलोकमें धनादिकी सिद्धि होने पर भी कोई भीख मांगता फिरे।

भावार्थ—यहां इस बात पर लक्ष्य दिलाया है कि जो लोग केवल जिनमंदिरोंकी वाहरी भक्तिसे ही संतुष्ट होते हैं व अपनेको धर्मात्मा समझते हैं, इस बातका विलकुल विचार नहीं करते हैं कि यह मूर्ति क्या सिखाती है व हमारे दर्शन करनेका व पूजन करनेका क्या हेतु है, वे केवल कुछ शुभ भावसे पुण्य बांध लेते हैं, परन्तु उनको निर्वाणका मार्ग नहीं दीख सक्ता है। वाहरी चारित्र विना अंतरंग चारित्रके, वालूसे तैल निकालनेके समान प्रयोग है। सम्यग्दर्शन विना सर्व ही शास्त्रका ज्ञान व सर्व ही चारित्र मिथ्याज्ञान व मिथ्या चारित्र है।

अपने आत्माके सच्चे स्वभावका विश्वास ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनके प्रकाशसे अपने आत्माको कर्मकृत विकारवश रागी, द्वेषी, संसारी माननेका अज्ञान अंधकार मिट जाता है तब ज्ञानी सम्यग्दृष्टीको अपने शरीरमें व्यापक आत्माका परमात्मारूप ही श्रद्धान जम जाता है। वह सदा अपने शरीर रूपी मंदिरमें अपने आत्मारूपी देवका निवास मानता है तथा अपने आत्माके द्वारा धनको ही सच्चा धर्म मानता है। वह सम्यक्ती कभी भ्रममें नहीं

पड़ता है। वस्तुओंका यथार्थ स्वरूप जानता है। वह जिनमंदिरमें जिन प्रतिमाका दर्शन, पूजन अपने आत्मीक गुणों पर लक्ष्य जानेके लिये व अपने भीतर आत्मदर्शन करनेके लिये ही करता है। वह जानता है कि मूर्ति जड़ है, केवल स्थापना रूप है। ध्यानका चित्र है उसमें साक्षात् जिनेन्द्र नहीं हैं। जो भूतकालमें तीर्थंकर या अन्य अरहंत होगए हैं वे अब सिद्धक्षेत्रमें हैं। वर्तमानमें इस भरतक्षेत्रमें इस पंचमकालमें नहीं हैं। यदि होते भी व समवशरण या गंधकुटीमें उनका दर्शन होता भी जो आंखोंसे तो केवल उनका शरीर ही दिखता, आत्मा नहीं दिखता। उनका आत्मा कैसा है इस बातके जाननेके लिये तब भी अपने शरीरमें ही विराजित अपने आत्मा देवको ध्यानमें लाना पड़ता। वास्तवमें जो अपने आत्माके स्वभावको पहचानता है वही जिनेश्वरकी आत्माको पहचानता है।

अपने आत्माका आराधन ही उनका सच्चा आराधन है। जो अपने आत्माको नहीं समझते व बाहर आत्मा देवको ढूंढ़ते हैं उनके लिये हास्यका भाव ग्रंथकारने बताया है व यह मूर्खता प्रगट की है कि धनका स्वामी होकर भी कोई भीख मांगता फिरे।

एक मानव बहुत लोभी था, धनको गाड़ कर रखता था, बाहरसे दीन दिखता था। अपने पुत्रको भी धनका पता नहीं बताया। केवल उसका एक पुराना मित्र ही इस भेदको जानता था कि इसने प्रचुर धन अमुक स्थानमें रक्खा है। कुछ काल पीछे वह मर जाता है। पुत्र अपनेको निर्धन समझकर दीनहीन वृत्ति करके पेट भरता है। एक दिन पुराने मित्रने बता दिया कि क्यों दुःखी होते हो ? तेरे पास अटूट-धन है। वह अमुक स्थानमें गड़ा है। सुनकर प्रसन्न होता है। उस स्थान पर खोदकर धनका स्वामी हो

जाता है। फिर भी यदि वह दीन वृत्ति करे तो हास्यका स्थान है। इसी तरह जिसने आत्मा देवको शरीरके भीतर पा लिया उसको फिर बाहरी क्रियामें मोह नहीं हो सकता। कारणवश अशुभसे बचनेके लिये बाहरी क्रिया करता है तौ भी उसे निर्वाण मार्ग नहीं मानता। निर्वाण मार्ग तो आत्माके दर्शनको ही मानता है।

समयसारमें कहा है—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं विमोक्खहेदुं अयाणंता ॥ १६१ ॥

भावार्थ—जो परमार्थसे बाहर हैं, निश्चयधर्मको नहीं समझते व मोक्षके मार्गको नहीं जानते हुए अज्ञानसे संसार-भ्रमणके कारण पुण्यको ही चाहते हैं, पुण्यकर्म बंधकारक क्रियाको निर्वाणका कारण मान लेता है। समयसार कलशमें कहा है—

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरं।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१०—७॥

भावार्थ—कोई बहुत कठिन मोक्षमार्गसे विरुद्ध असत्य व्यवहाररूप क्रियाओंको करके कष्ट भोगो तो भोगो अथवा कोई चिरकाल जैनोंके महाव्रत व तपके भारसे पीड़ित होते हुए कष्ट भोगो तो भोगो, परन्तु मोक्ष नहीं होगा। क्योंकि मोक्ष एक निराकुल पद है, ज्ञानमय है, स्वयं अनुभवगोचर है, ऐसा मोक्ष विना आत्मज्ञानके और किसी भी तरह प्राप्त नहीं किया जासक्ता।

समभावरूप चित्तसे अपने देहमें जिनदेवको देख।

मूढा देवलि देउ णवि णवि सिलि लिप्पइ चित्ति ।
देहा-देवलि देउ जिणु सो बुज्झहि समिचित्ति ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—(मूढा) हे मूर्ख ! (देउ देवालि णवि) देव किसी मन्दिरमें नहीं है (सिलि लिप्पइ चित्ति णावि) न देव किसी पाषाण, लेप या चित्रमें है (जिणु देउ देहा-देवलि) जिनेन्द्रदेव परमात्मा शरीररूपी देवालयमें हैं (समचित्ति सो बुज्झहि) उस देवको समभावसे पहचान या उसका साक्षात्कार कर।

भावार्थ—यहां फिर भी दृढ़ किया है कि परमात्मा देव ईंट व पाषाणके बने हुए मंदिरमें नहीं मिलेंगे, न परमात्माका दर्शन किसी पाषाण या धातुकी या मिट्टीकी मूर्तिमें होगा न किसी चित्रमें होगा । अपना आत्मा ही स्वभावसे परमात्मा जिनदेव है । उसका दर्शन यह ज्ञानी प्रायः अपने भीतर कर सक्ता है । यदि यह राग-द्वेषको छोड दे, शुभ या अशुभ राग त्याग दे, वीतरागी होकर अपनेको आठ कर्म रहित, शरीर रहित, रागादि विकार रहित देखे ।

मंदिरोंका निर्माण निराकुल स्थानमें इसलिये किया जाता है कि गृहस्थी या अभ्यासी साधु वहां बैठकर सांसारिक निमित्तोंसे बचें, चित्तको बुरी वासनाओंसे रोक सकें व मंदिरमें निराकुल हो आत्माका ही दर्शन सामायिक द्वारा, आध्यात्मिक शास्त्र पठन या मनन द्वारा, ध्यानमय मूर्तिके दर्शन द्वारा किया जासके । इसी तरह पाषाण या धातुकी प्रतिमाका निर्माण ध्यानमय व वैराग्यपूर्ण भावका स्मरण करानेके लिये किया जाता है । आत्माका दर्शक अपना शरीर है ।

शरीरमें आत्मदेव विराजमान है जिसको इस बातका पक्का

श्रद्धान है कि उसकी धारणाको जगानेके लिये ध्यानमय मूर्तिका दर्शन व उसके सामने गुणानुवाद रूप पूजन निमित्त कारण है। निमित्त उपादानको जगानेमें प्रबल कारण होते हैं। रागकारी निमित्त राग-भाव व वीतरागी निमित्त वीतरागभाव जागृत कर देते हैं। अभ्यासी साधकको सदा ही भावोंकी निर्मलताके लिये निर्मल निमित्त मिलाने चाहिये, बाधक निमित्तोंसे बचना चाहिये।

तत्वानुशासनमें कहा है—

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने॥ ७५॥

भावार्थ—परिग्रहका त्याग, कषायोंका निरोध, अहिंसादि व्रतोंका धारण, मन व इंद्रियोंका विजय, ये चार बातें ध्यानकी उत्पत्तिके लिये सामग्री हैं।

स्वाध्यायाद्ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥ ८१॥

भावार्थ—शास्त्रका मनन करते करते ध्यानमें चढ़ जाओ। ध्यानमें मन न लगे तो स्वाध्यायमें आजाओ। ध्यान और स्वाध्यायके लाभके द्वारा परमात्माका प्रकाश होता है।

शून्यागारे गुहायां वा दिवा वा यदि वा निशि।
स्त्रीपशुक्लीबजीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे॥ ९०॥
अन्यत्र वा क्वचिद्देशे प्रशस्ते प्रासुके समे।
चेतनाचेतनाशेषध्यानविघ्नविवर्जिते॥ ९१॥
भूतले वा शिलापट्टे सुखासीनः स्थितोऽथवा।
सममृज्वायतं गात्रं निःकंपावयवं दधत्॥ ९२॥

नासाग्रन्यस्तनिःस्पंदलोचनो मंदमुच्छ्वसन् ।
द्वात्रिंशद्दोपनिर्मुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थितः ॥ ९३ ॥
प्रत्याहृत्याक्षलुंटाकांस्तदर्थेभ्यः प्रयत्नतः ।
चिंतां चाकृष्य सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येयवस्तुनि ॥ ९४ ॥
निरस्तनिद्रो निर्भीतिर्निरालस्यो निरन्तरं ।
स्वरूपं पररूपं वा ध्यायेदंतर्विशुद्धये ॥ ९५ ॥

भावार्थ—दिन हो या रात, सूने स्थानमें, गुफामें, स्त्री, पशु, नपुंसक जीवोंके व क्षुद्र जंतुओंके अगोचर स्थानमें या किसी शुभ जीवरहित, समतल स्थानमें, जहां चेतन व अचेतन सर्व प्रकारके विघ्नोंका नाश हो, भूमिमें या शिला पर सुखासनसे वैठकर या खड़े होकर सीधा निष्कम्प समतौल रूप शरीरको धारण करके निश्चल बने, नासाग्र दृष्टि, मंद मंद श्वास लेता हुआ वत्तीस कायोत्सर्गके दोषोंसे रहित होकर व प्रयत्न करके इंद्रिय रूपी लुटेरोंको विषयोंसे रोककर व चित्तको सब भावोंमे रोककर ध्येय वस्तुको जोड़कर, निद्राको जीतता हुआ, भय रहित हो, आलस्य रहित हो, निरंतर अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपको या पर सिद्धोंके स्वरूपको अंतरंगकी शुद्धिके लिये ध्यावे । समाधिशतकमें कहा है—

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जिस ध्यानीका अनुराग द्वेषादिकी लहरोंसे चञ्चल नहीं होता है वही आत्माके स्वभावको अनुभव करता है, रागी द्वेषी अनुभव नहीं कर सकता है ।

ज्ञानी ही शरीर मंदिरमें परमात्माको देखता है।

तित्थइ देउलि देउ जिणु सव्वु वि कोइ भणेइ।
देहा-देउलि जो मुणइ सो वुहु को वि हवेइ ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ—(सव्वु वि कोइ भणेइ) सब कोई कहते हैं (तित्थइ देउलि देउ जिणु) कि तीर्थमें या मंदिरमें जिनदेव है (जो देहा-देउलि मुणइ) जो कोई देहरूपी मन्दिरमें जिनदेवको देखता है या मानता है (सो को वि वुहु हवेइ) सो कोई ज्ञानी ही होता है।

भावार्थ—जगतमें व्यवहारको ही सत्य माननेवाले बहुत हैं। सब कोई यही कहते हैं कि घड़ेको कुम्हारने बनाया। घड़ा मिट्टीका बना है, ऐसा कोई नहीं कहता है। असलमें घड़ेमें मिट्टीकी ही शकल है, मिट्टीका डेला ही घड़ेके रूपमें बदला है। कुम्हारके योग व उपयोग मात्र निमित्त हैं। इसी तरह तीर्थ स्वरूप जिन प्रतिमाएं केवल निमित्त हैं, उनके द्वारा अपने शुद्ध आत्माके सदृश परमात्मा अरहंत या सिद्धका स्मरण हो जाता है। वास्तवमें वे क्षेत्र व प्रतिमा व मन्दिर सब अचेतन जड़ हैं। तौभी चेतनके स्मरण करानेके लिये प्रबल निमित्त हैं, इसीलिये उनकी भक्तिके द्वारा परमात्माकी भक्ति की जाती है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी विचार नहीं करता है कि असली बात क्या है। वह मंदिर व मूर्तिको ही देव मानके पूजता है। इससे आगे विचार नहीं करता है कि प्रतिमा तो अरहन्त व सिद्धपदके ध्यानमय भावका चित्र है। उस भावकी स्थापना है। साक्षात् देव यह नहीं है।

तथा भक्ति करते हुए भी वह भक्त उन्हींके गुणानुवाद करता है जिनकी वह मूर्ति है। वह कभी भी पाषाणकी या धातुकी प्रशंसा

नहीं करता है तौभी अन्तरंगमें विचार यही करता है कि जिसकी स्तुति कर रहा हूं वह देव कहां है। यह इस रहस्यको नहीं पहुंचता है कि उसीका आत्मा ही स्वभावसे परमात्मा है। तीन शरीरोंके भीतर यही साक्षात् देव बिराजमान हैं। मैं ही परमात्मा हूं। यह ज्ञान यह श्रद्धान व ऐसा ही परिणमन विचारे मिथ्यादृष्टी जीवको नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टी सदा ही जानता है व सदा ही अनुभव करता है कि जब मैं अपने भीतर शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे देखता हूं तो मुझे मेरा आत्मा ही परमात्मा जिनदेव दीखता है। मुझे अपने ही भीतर आपको आपसे ही देखना चाहिये। यही आत्मदर्शन निर्वाणका उपाय है। कोई सिंहकी मूर्तिको साक्षात् सिंह मानके पूजन करे कि यह सिंह मुझे खाजायगा तो उसको अज्ञानी ही कहा जायगा। ज्ञानी जानता है कि सिंहकी मूर्ति सिंहका आकार व उसकी क्रूरता व भयंकरता दिखानेके लिये एकमात्र साधन है, साक्षात् सिंह नहीं है। इससे भय करनेकी जरूरत नहीं है। जहां साक्षात् सिंहका लाभ नहीं है वहां सिंहका स्वरूप दिखानेको सिंहकी मूर्ति परम सहायक है। शिष्योंको जो सिंहके आकारसे व उसकी भयंकरतासे अनभिज्ञ हैं, सिंहकी मूर्ति सिंहका ज्ञान करानेके लिये प्रयोजनवान है।

इसी तरह जबतक व जिस समय अपने भीतर परमात्माका दर्शन न हो तबतक यह जिन मूर्ति परमात्माका दर्शन करानेके लिये निमित्त कारण है। मूर्तिको मूर्ति मानना, परमात्मा न मानना ही यथार्थ ज्ञान है। व्यवहारके भीतर जो मगन रहते हैं वे मूल तत्वको नहीं पहचानते हैं। यहां पर आचार्यने मूल तत्व पर ध्यान दिलाया है कि—हे योगी! भीतर देख, निश्चिंत होकर भीतर ध्यान लगा। तुझे राग द्वेषके अभाव होने पर व समभावकी स्थिति प्राप्त होने पर

परमात्माका लाभ होगा। व्यवहार वास्तवमें अभूतार्थ व असत्यार्थ है, जैसा मूल पदार्थ है वैसा इसे नहीं कहता है।

व्यवहारमें जीव नारकी पशु मनुष्य देव कहलाता है। निश्चयसे यह कहना असत्य है। आत्मा न तो नारकी है न पशु है न मनुष्य है न देव है। शरीरके संयोगसे व्यवहारनयके व्यवहार चलानेको भेद कर दिये हैं। जैसे तलवार लोहेकी होती है। सोनेकी म्यानमें हो तो सोनेकी तलवार, चांदीके म्यानमें चांदीकी तलवार, पीतलकी म्यानमें पीतलकी तलवार कहलाती है। यह कहना सत्य नहीं है। सब तलवारें एक ही हैं। उनमें भेद करनेके लिये सोना, चांदी व पीतलकी तलवार ऐसा कहना पड़ता है जो भेदरूप कथन सुन करके भी तलवारको एकरूप ही देखता है। सोना, चांदी व पीतलको नहीं देखता है। सोना चांदी पीतलकी म्यान देखता है वही ज्ञानी है। इसी तरह जो अपने देह मन्दिरमें विराजित परमात्मा देवको ही आप देखता है, आपको मानवरूप नहीं देखता है। मानव तो शरीर है आत्मा नहीं हैं वही ज्ञानी है।

पुरुषार्थसिद्धयुपायमें कहा है—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥ ५ ॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥ ७ ॥

भावार्थ—निश्चयनय यथार्थ वस्तुको कहता है, व्यवहारनय वस्तुको यथार्थ नहीं कहता है, इसलिये सर्वज्ञ देव निश्चयको भूतार्थ व व्यवहारको अभूतार्थ कहते हैं। बहुधा सर्व ही संसारी इस भूतार्थ निश्चयके ज्ञानसे दूर हैं। जिस बालकने सिंह नहीं जाना है वह बिलावको ही सिंह जान लेता है, क्योंकि बिलाव दिखाकर उसे

सिंह कहा गया था, उसीतरह जो निश्चयतत्वको नहीं जानता है वह व्यवहार हीको निश्चय मान लेता है। वह कभी भी सत्यको नहीं पाता है।

धर्म रसायनको पीनेसे अमर होता है।

जइ जर-मरण-करालियउ तो जिय धम्मं करेहि।
धम्म-रसायणु पियहि तुहुँ जिम अजरामर होहि ॥४६॥

अन्वयार्थ—(जिय) हे जीव! (जइ जरमरणकरालियउ) यदि जरा व मरणके दुःखोंसे भयभीत है (तो धम्म करेहि) तो धर्म कर (तुहुँ धम्मरसायणु पियहि) तू धर्मरसायनको पी (जिम अजरामर होहि) जिससे तू अजर अमर होजावे।

भावार्थ—मनुष्यगतिको लक्ष्यमें लेकर कहा है कि यहां जरा व मरणके भयानक दुःख हैं। जब जरा आजाती है, शरीर शिथिल होजाता है, अपने शरीरकी सेवा स्वयं करनेको असमर्थ होजाता है, इंद्रियोंमें शक्ति घट जाती है, आंखकी ज्योति कम पड़जाती है, कानोंमें सुननेकी शक्ति कम होजाती है, दांत गिर जाते हैं, कमर टेढ़ी होजाती है, हाथ पांव हिलने लगते हैं, खाने पीनेमें कष्ट पाता है, चलने बैठनेमें पीड़ा पाता है।

इच्छानुसार समय पर भोजनपान नहीं मिलता है। अपने कुटुम्बीजन भी आज्ञा उल्लंघन करने लग जाते हैं। शरीरमें विषयोंके भोग करनेकी शक्ति घट जाती है, परन्तु भोगकी तृष्णा बढ़ जाती है। तब चाहकी दाहसे जलता है, गमन नहीं कर पाता है, रातदिन मरणकी भावना भाता है। जरा महान दुःखदायी मरणकी दूती है, शरीरकी दशा क्षणभंगुर है, युवावय थोड़ा काल रहती है फिर यकायक बुढ़ापा

आ घेरता है तब एक एक दिन वर्षके बराबर वीतता है।

मरणका दुःख भी भयानक होता है। मरनके पहले महान कष्ट-दाई रोग होजाता है तब महान वेदना भोगता है। असमर्थ होकर कुछ भी कह सुन नहीं सक्ता है। जब तक शरीरका ग्रहण है तब-तक जन्म जरा मरणके भयानक दुःखोंको सहना पड़ेगा। मानव जन्मके दुःखोंसे पशुगतिके महान् दुःख हैं जहां सबलोंके द्वारा निर्बल वध किये जाते हैं। पराधीनपने एकेन्द्रियादि जन्तुओंको महान शारीरिक पीड़ा सहनी पड़ती है।

आगमके द्वारा नरकके असहनीय कष्ट तो विदित ही हैं। देव गतिमें मानसिक कष्ट महान् है, ईर्पाभाव बहुत है, देवियोंकी आयु बहुत अल्प होती है तब देवोंको वियोगका घोर कष्ट सहना पड़ता है। विषयभोग करते हुए तृष्णाकी दाह बढ़ाकर रातदिन आकुलित रहते हैं, चारों ही गतियोंमें कर्मका उदय है। इन गतियोंके भ्रमणसे रहित होनेके लिये कर्मके क्षय करनेकी जरूरत है। विवेकी मानवको भलेप्रकार निश्चय कर लेना चाहिये कि संसार-सागर भयानक दुख-रूपी खारे पानीसे भरा है, उससे पार होना ही उचित है। कर्मोंका क्षय करना ही उचित है, आत्माका भ्रमण रोकना ही उचित है। पंचमगति मोक्ष प्राप्त करना ही उचित है, अजर-अमर होना ही उचित है, इस श्रद्धानके होनेपर ही मुमुक्षु जीव संसारके क्षयके लिये धर्मका साधन करता है।

धर्म उसे ही कहते हैं जो संसारके दुःखोंसे उगारकर मोक्षके परमपदमें धारण करे। वह धर्म रत्नत्रय स्वरूप है। रत्नत्रयके भावसे ही नवीन कर्मोंका संवर होता है व पुरातन कर्मोंकी अविपाक निर्जरा होती है। यह रत्नत्रय निश्चयसे एक आत्मीक शुद्धभाव है, आत्मतल्लीनता है, स्वसंवेदन है, स्वानुभव है, जहां अपने ही आत्माके शुद्ध स्वभा-

वका श्रद्धान है, ज्ञान है व उसीमें थिरता है। इसीको आत्मदर्शन कहते हैं, यही एक धर्म रसायन है, अमृतरसका पान है, जिसके पीनेसे स्वाधीनपने परमानन्दका लाभ होता है, कर्म कटते हैं, और यह शीघ्र ही कर्मसे मुक्त हो, शुद्ध व पवित्र व निर्मल व पूर्ण, निज स्वभावमय होकर सदा ही वीतरागभावमें मगन रहता है, फिर रागद्वेषमोहके न होनेसे पापपुण्यका बन्ध नहीं होता है, इससे फिर चार गतिमेंसे किसी भी गतिमें नहीं जाता है, सदाके लिये अजर अमर हो जाता है।

शुद्धोपयोग धर्म है। कषायके उदय सहित शुभोपयोग धर्म नहीं है। अशुभसे वचनेके लिये शुभोपयोग करना पड़ता है तथापि उसे बन्धका कारण मानना चाहिये। मोक्षका उपाय एक मात्र स्वानुभवरूप शुद्धोपयोग है। कषायकी कणिका मात्र भी बन्धकी कारक है। बृहत् सामायिकपाठमें कहा है—

पापाऽनोकुहसंकुले भववने दुःखादिभिर्दुर्गमे
यैरज्ञानवशः कषायविषयैस्त्वं पीडितोऽनेकधा।
रे तान् ज्ञानमुपेत्य पूतमधुना विध्वंसयाऽशेषतो
विद्वांसो न परित्यजंति समये शत्रूनऽहत्वा स्फुटं॥ ६५॥

भावार्थ—यह संसार वन दुःखोंसे भरा है, उनका पार पाना कठिन है। पापके वृक्षोंसे पूर्ण है। यहां कषाय विषयोंसे तू अज्ञानी अनेक प्रकारसे पीड़ित किया जा रहा है, अब तू शुद्ध आत्मज्ञान पाकर उन कषाय विषयोंको पूर्णपने नाश कर डाल। विद्वान्‌ लोग अवसर पाकर शत्रुओंको विना मारे नहीं छोड़ते हैं।

श्री पद्मनंदि धम्मरसायणमें कहते हैं—

वुहजणमणोहिरामं जाइजरामरणदुक्खणासयरं।
इहपरलोयहिज (द)त्थं तं धम्मरसायणं वोच्छं॥ २॥

भावार्थ—मैं उस धर्मरसायणको बताऊँगा जिसके पीनेसे ज्ञानी जीवोंके मनमें आनन्द होगा व जन्म, जरा, मरणके दुःखोंका क्षय होगा व इस लोकमें और परलोकमें दोनोंमें हित होगा। यह जबतक जीवेगा परमानन्द भोगेगा, परलोकमें शीघ्र ही सिद्ध होकर सदा सुखी रहेगा।

बाहरी क्रियामें धर्म नहीं है।

धम्मु ण पढियइँ होइ धम्मु ण पोत्था-पिच्छियइँ।
धम्मु ण मढिय-पएसि धम्मु ण मत्था-लुचियइँ ॥४७॥

अन्वयार्थ—(पढियइँ धम्मु ण होइ) शास्त्रोंके पढ़ने मात्रसे धर्म नहीं होजाता (पोत्था-पिच्छियइँ धम्मु ण) पुस्तक व पीछी रखने मात्रसे धर्म नहीं होता (मढिय-पएसि धम्मु ण) किसी मठमें रहनेसे धर्म नहीं होता (मत्था-लुचियइँ धम्मु ण) केशलोंच करनेसे भी धर्म नहीं होता।

भावार्थ—जिस धर्मसे जन्म, जरा, मरणके दुःख मिटें, कर्मोंका क्षय हो यह जीव स्वाभाविक दशाको पाकर अजर-अमर होजावे वह धर्म आत्माका निज स्वभाव है। जो सर्व परपदार्थोंसे वैराग्यवान होकर अपने आत्माके शुद्ध स्वभावकी श्रद्धा व उसका ज्ञान रखकर उसीके ध्यानमें एकाग्र होगा वही निश्चय रत्नत्रयमई धर्मको या स्वानुभवको या शुद्धोपयोगकी भूमिकाको प्राप्त करेगा।

जो कोई उस तत्वको ठीक ठीक न समझ करके बाहरी क्रिया मात्र व्यवहारको ही करे व माने कि मैं धर्मका साधन कर रहा हूं उसको समझानेके लिये यहां कहा है कि ग्रंथोंके पढ़नेसे ही धर्म न होगा। ग्रंथोंका पठन पाठन इसीलिये उपयोगी है कि जगतके पदा-

र्थोंका, जीव च अजीव तत्वका ठीक ठीक ज्ञान होजावे तथा भेदविज्ञानकी प्राप्तिसे अपने भीतर शुद्ध तत्वकी पहचान होजावे ।

इस कार्यके लिये शब्दोंका मनन आवश्यक है। यदि शुद्धात्माका लाभ न करे केवल शास्त्रोंका पाठी महान विद्वान व वक्ता होकर धर्मात्मा होनेका अभिमान करे तो यह सब मिथ्या है। इसीतरह कोई बहुत पुस्तकोंका संग्रह करे या पीछी रखकर साधु या क्षुल्लक श्रावक होजावे या केशोंका लोंच करे या एकांत मठमें या गुफामें बैठे परंतु शुद्धात्माकी भावना न करे, बाहरी मुनि या श्रावकके भेषको ही धर्म मानले तो यह मानना मिथ्या है। शरीरके आश्रय भेष केवल निमित्त है, व्यवहार है, धर्म नहीं है।

व्यवहार क्रियाकांडसे या चारित्रसे रागभाव शुभ भाव होनेसे पुण्यबंधका हेतु है। परंतु कर्मकी निर्जरा व संवरका हेतु नहीं है। जहांतक भावोंमें शुद्ध परिणमन नहीं होता है वहांतक धर्मका लाभ नहीं है। मुमुक्षु जीवको यह बात दृढ़तासे श्रद्धानमें रखनी चाहिये कि भावकी शुद्धि ही मुनि या श्रावक धर्म हैं। बाहरी त्याग या वर्तन अशुभ भावोंसे व हिंसादि पांच पापोंसे बचनेके लिये है व मनको चितासे रहित निराकुल करनेके लिये है।

अतएव कितना भी ऊँचा बाहरी चारित्र कोई पाले व कितना भी अधिक शास्त्रका ज्ञान किसीको हो तौ भी वह निश्चय धर्मके बिना साररहित है, चावलरहित तुषमात्र है, पुण्यबन्ध कराकर संसारका भ्रमण बढ़ानेवाला है। जितना अंश वीतराग विज्ञानमई भावका लाभ हो उतना ही धर्म हुआ तथा यथार्थ समझना चाहिये। बाहरी मन, वचन, कायकी क्रियासे सन्तोष मानके धर्मात्मापनेका अहंकार न करना चाहिये। समयसार कलशमें कहा है—

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम् ॥ ४५-१० ॥
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ ४६-१० ॥

भावार्थ—शुद्ध ज्ञान आत्माका है, उसके यह पुद्गलमय देह नहीं है, इसलिये ज्ञाता पुरुषका देहके आश्रय भेष या व्यवहारचारित्र मोक्षका कारण नहीं है। इसलिये मोक्षके अर्थीको सदा ही एक-स्वरूप मोक्षमार्गका सेवन करना चाहिये जो मोक्षमार्ग निश्चय रत्नत्रयमई आत्माका तत्व है।

बृहत् सामायिकपाठमें कहते हैं—

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाऽधिकश्रीरहं
मान्योऽहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहमग्रणीः ।
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनां
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्त्वममलं नैःश्रेयसी श्रीर्यतः ॥ ६२ ॥

भावार्थ—हे आत्मन्! तू इस पाप बंधकारक कल्पनाको छोड़, यह अहंकार न कर कि मैं शूर हूं, बुद्धिमान् हूं, चतुर हूं, सर्वसे अधिक लक्ष्मीवान हूं, माननीय हूं, गुणवान हूं, समर्थ हूं या सर्व मानवोंमें अग्र हूं, मुनिराज हूं, निरन्तर निर्मल आत्मतत्वका ही ध्यानकर इसीसे अनुपम मोक्षलक्ष्मीका लाभ होगा।

रागद्वेष त्याग आत्मस्थ होना धर्म है।

राय-रोस वे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ ।
सो धम्मु वि जिण-उत्तियउ जो पंचम-गइ णेइ ॥४८॥

अन्वयार्थ—(राय-रोस वे परिहरिवि) रागद्वेष दोनोंको

छोड़कर, वीतराग होकर (जो अप्पाणि वसेइ) जो अपने भीतर आत्मामें वास करता है, आत्मामें विश्राम करता है (सो धम्मु जिण वि उत्तियउ) उसीको जिनेन्द्रने धर्म कहा है (जो पंचम-गइ णेइ) यही धर्म पंचमगति मोक्षमें लेजाता है।

भावार्थ—धर्म आत्माका निज स्वभाव है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमय आत्माका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान तथा उसीमें थिरता अर्थात् एक स्वात्मानुभव धर्म है। राग द्वेषकी पवनोंसे जब उपयोग चंचल होता है तब स्वभाव विकारी होजाता है।

इसलिये यहां यह उपदेश है कि राग द्वेषको त्यागकर अपने ही आत्माके भीतर विश्राम करो, आत्माहीमें मगन रहो, आत्माके ही उपवनमें रमण करो तब वहां बंध नाशक, परमानंद दायक, मोक्ष-कारक धर्म स्वयं मिल जायगा। धर्म अपने ही पास है, कहीं वाहर नहीं है जहांसे इसे ग्रहण किया जावे। अतएव परसे उदासीन होकर, वीतराग होकर, समभावी होकर आपकी आत्मामें ही इसे देखना चाहिये।

राग द्वेषके मिटानेका एक उपाय तो यह है कि जगतको व्यव-हार दृष्टिसे देखना वंद कर निश्चय दृष्टिसे जगतको देखना चाहिये तब जीवादि छहों द्रव्य सब अपने २ स्वभावमें दीखेंगे, निश्चल दीखेंगे, सर्व ही जीव एक समान शुद्ध दीखेंगे तब किसी जीवमें राग व किसीमें द्वेष करनेका कारण ही मिट जायगा। व्यवहार दृष्टिमें शरीर सहित अशुद्ध आत्माएं विचित्र प्रकारकी दीखती हैं तब मोही जीव जिनसे अपने विषय कषाय पुष्ट होते हैं उनको राग भावसे व जिनसे विषयकषायोंके पोषनेमें वाधा होती है उनको द्वेषभावसे देखता है परंतु जब आप भी वीतरागी व सर्व पर आत्माएं भी वीतरागी दीखती हों तब समभाव स्वयं आजाता है।

पुद्गलकीरचनाको जब व्यवहारसे देखा जावे तब नगर, ग्राम, मकान, वस्त्र, आभूषण, आदि नाना प्रकारके दीख पड़ेंगे परन्तु जब निश्चयनयसे पुद्गलको देखा जावे तो वे सब परमाणुरूप एकाकार दीखेंगे, तब वीतरागी देखनेवालेके भीतर रागद्वेषके हेतु नहीं हो सक्ते। शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि रागद्वेषके विकार मेटनेकी परम सहायक है। इससे रागद्वेष मेटनेका यह उपाय है कि व्यवहाररूप विचित्र जगतको साक्षीभूत होकर ज्ञातादृष्टा होकर देखा जावे।

सर्व ही द्रव्य अपने २ स्वभावमें परिणमन करते हैं। अशुद्ध आत्माएं आठ कर्मोंके उदयको भोगते हुए नानाप्रकार सुख या दुःखमय या नानाप्रकार रागद्वेषमय परिणमन करते हैं, कर्मचेतना व कर्मफल-चेतनामें उलझे दीखते हैं. तब उनको कर्मके उदयके आधीन देखकर रागद्वेष नहीं करना चाहिये। कर्मोंके संयोगसे अपनी भी विभाव दशाको देखकर विपाकविचय धर्मध्यान करना चाहिये व अन्य संसारी जीवोंकी दशा देखकर वैसा ही कर्मका नाटक विचारना चाहिये। सुख व दुःख अपनेमें व दूसरोंमें देखकर हर्ष व विषाद न करना चाहिये। समभावसे कर्मके विचित्र नाटकरूप जगतको देखनेका अभ्यास करना चाहिये।

तीसरा उपाय यह है कि सम्यग्दर्शनके प्रतापसे विषयभोगोंकी कांक्षा या उनमें उपादेय बुद्धि मिटा देनी चाहिये। आत्मानन्दका प्रेमी होकर उसीके लिये अपने स्वरूपकी भावनामें लगे रहना चाहिये। कर्मके उदयसे सुखदुःख आ जानेपर समभावसे या हेय बुद्धिसे, अनासक्तिसे भोग लेना चाहिये। सम्यग्ज्ञान ही रागद्वेषके विकारके मिटानेका उपाय है।

रागद्वेष कषायके उदयसे होते हैं तब सत्तामें बन्ध प्राप्त कषायकी वर्गणाओंका अनुभाग सुखानेके लिये निरन्तर आत्मानुभवका

व वैराग्यभावका मनन करते रहना चाहिये तब उदय मन्द होता जायगा, रागद्वेषकी कालिमा घट ही जायगी । इसतरह ज्ञानीको उचित है कि जिसतरह हो वीतराग होनेका व समभाव पानेका उपाय करना चाहिये । तत्वसारमें देवसेनाचार्य कहते हैं—

रागादिया विभावा बहिरंतरदुहवियप्प मुत्तूणं ।
एयग्गमणो झायहि णिरंजणं णियअप्पाणं ॥ १८ ॥

भावार्थ—रागादिक विभावोंको व बाहरी व भीतरी दोनों प्रकारके विकल्पोंको त्यागकर एकाग्र मन हो, तब कर्ममल रहित निरञ्जन अपने ही आत्माको ध्यावे ।

आत्मानुशासनमें कहा है—

मुहुः प्रसार्य्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान् ।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥ १७७ ॥
मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान् मूलाङ्कुराविव ।
तस्मात् ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥ १८२ ॥

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानका बारबार विचार कर, पदार्थोंको जैसे वे हैं वैसा ही उनको देखकर प्रीति व अप्रीति मिटाकर आत्मज्ञानी मुनि आत्माको ध्यावै। जैसे बीजसे मूल व अंकुर होते हैं वैसे मोहके बीजसे रागद्वेष होते हैं । इसलिये जो रागद्वेषको जलाना चाहे उसे ज्ञानकी अग्निसे इस मोहको जलाना चाहिये ।

आशा तृष्णा ही संसार-भ्रमणका कारण है ।

आउ गलइ णवि मणु गलइ णवि आसा हु गलेइ ।
मोहु फुरइ णवि अप्प-हिउ इम संसार भमेइ ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ—(आउ गलइ) आयु गलती जाती है (मणु

णवि गलइ) परन्तु मन नहीं गलता है (आसा णवि गलेइ) और न आशा तृष्णा ही गलती है (मोहु फुरइ) मोहभाव फैलता रहता है (अप्प-हिउ णवि) किन्तु अपने आत्माका हित करनेका भाव नहीं होता है (इम संसार भमेइ) इसतरह यह जीव संसारमें भ्रमण किया करता है।

भावार्थ—यहां आचार्यने संसार-भ्रमणका कारण बताया है। यह मानव शरीर आयुकर्मके आधीन रहता है। जबसे यह जीव इस मनुष्य गतिमें आता है तबसे पूर्व बांधा मनुष्य-आयुकर्म समय समय झड़ता जाता है। सो जब सब झड़ जाता है तब जीवको मानव देह छोड़ना पड़ता है।

चारों गतियोंमें मानव गति बहुत उपयोगी है क्योंकि निर्वाणके योग्य संयम, तप, ध्यानादि इसी मानवगतिसे ही होसक्ते हैं तौ भी अज्ञानी मोही जीव आत्माका भला नहीं करता है। यह प्राणी रातदिन शरीरके मोहमें फंसा रहता है। सांसारिक सुखकी चिंतामें मन विचार करता रहता है। मैंने ऐसे २ भोग भोगे थे, ऐसा भोग भोग रहा हूं, ऐसे भोग भोगने हैं, इन्द्रियोंके विषयोंको इकट्ठा करनेकी, रक्षा करनेकी चिंता मनमें सदा रहती है। इष्ट विषयोंके वियोगसे शोक होता है। जो स्त्री, पुत्र, मित्र, विषयोंके भोग हैं, सहायक हैं उनके बने रहनेकी व अपनी आज्ञामें चलानेकी भावना भाता है। जो कोई विषयोंके भोगके बाधक हैं उनके बिगाड़नेकी मनमें चिंता रहती है। रात दिन मन इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा, निदानजनित आर्त ध्यानमें या हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी, परिग्रहानन्दी रौद्रध्यानमें मगन रहता है।

मनको थिर करके मोही मलीन विचार नहीं करता है कि मेरा सच्चा हित क्या है। आशा तृष्णाका रोग विषयोंके भोग करते रहने-

पर भी दिनपर दिन बढ़ता जाता है। बहुतसे प्राणियोंके पापके उदयमें इच्छित भोगोंका लाभ नहीं होता है। इससे तृष्णा कभी नहीं मिटती। जिनको पुण्यके उदयसे इच्छित भोगोंका लाभ व भोग हो जाता है उनके भीतर कुछ देर सन्तोष मालूम होता है। शीघ्र ही चाहकी मात्रा और अधिक हो जाती है।

चक्रवर्तीके समान संपदाधारी मानव भी नित्य इच्छित भोग भोगते हुए भी कभी सन्तोषी व तृप्त नहीं होता है। जैसे २ शरीर पुराना पड़ता जाता है वैसे वैसे तृष्णा बढ़ती जाती है। संसारका मोह सदा बना रहता है। परलोकमें सुन्दर भोग मिलें, स्वर्गमें जाऊँ, मनोज्ञ देवियोंके साथ कल्लोल करूँ ऐसी तृष्णाको धरके मोही मानव दान, पूजा, जप, तप, साधुका या श्रावकका चारित्र पालता है। मिथ्यात्वके विषको न त्यागता हुआ संसारका प्रेमी जीव मरकर पुण्यके उदयसे देव, मानव पापके उदयसे तिर्यंच या नारकी होजाता है। वहां फिर तृष्णाका प्रेरा हुआ राग, द्वेष, मोह करता है। आयु पूरी कर नवीन आयु बांधी थी, उसके अनुसार फिर दूसरी गतिको चला जाता है।

इस तरह अज्ञान व तृष्णाके कारण यह अनादिसे चार गतिरूप संसारमें भ्रमण करता आया है व जबतक आत्महितको नहीं पहचानेगा, जबतक सम्यग्दर्शनका लाभ नहीं करेगा, तबतक भ्रमण ही करता रहेगा। इसलिये बुद्धिमान मानवको अपने आत्माके ऊपर करुणाभाव लाकर इसको जन्म, जरा, मरणादि दुःखोंसे बचानेके लिये धर्मका शरण धारण करना चाहिये। धर्म ही उद्धार करनेवाला है, परम सुखको देनेवाला है। स्वयंभूस्तोत्रमें कहा है—

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा—
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव।

स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्त-

मित्यात्मवान्विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ॥८२॥

भावार्थ—तृष्णाकी ज्वालाएं जलती रहती हैं, इच्छित इंद्रियोंके भोगोंके भोगनेपर भी उनकी शांति नहीं होती है, किंतु ज्वालाएं बढ़ती ही जाती हैं। कुछ शरीरका ताप भोगनेसे उस समय मिटता है, परन्तु शीघ्र ही बढ़ जाता है। यों समझकर आत्मज्ञानी स्वामी कुन्थुनाथ भगवान् इंद्रियोंके विषयसुखसे विरक्त होगये।

आत्मानुशासनमें कहा है—

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि।

नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छन्ति जीवितम् ॥१९६॥

भावार्थ—मनुष्य सदा ही शरीरको पोषते हैं व विषयभोगोंको भोगते रहते हैं। इससे बढ़कर और खोटा कृत्य क्या होगा। वे विष पीकर जीवन चाहते हैं। भवभवमें कष्ट पाएंगे।

आत्मप्रेमी ही निर्वाणका पात्र है।

जेहउ मणु विसयहँ रमइ तिसु जइ अप्प मुणेइ।

जोइउ भणइ हे जोइयहु लहु णिव्वाणु लहेइ ॥५०॥

अन्वयार्थ—(जोइउ भणु) योगी महात्मा कहते हैं (हो जोइयहु) हे योगीजनो! (मणु जेहउ विसयहँ रमइ) मन जैसा विषयोंमें रमण करता है (जइ तिसु अप्प मुणेइ) यदि वैसा यह मन आत्माके ज्ञानमें रमण करे तो (लहु णिव्वाणु लहेइ) शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त करले।

भावार्थ—योगेन्द्राचार्य योगीगणोंको कहते हैं कि मनको गाढ़ भावसे अपने आत्माके भीतर रमाना चाहिये। तब वीतरागताके

प्रकाशसे शीघ्र ही निर्वाणका लाभ होगा। आत्मवीर्यके प्रयोगसे ही हरएक कामका पुरुषार्थ होता है। अज्ञानी जीव पांचों इंद्रियोंके विषयोंके भीतर जिस आसक्तिसे रमण करता है वैसी आसक्ति ज्ञानी जीव अपने आत्माके रमणमें करता है, विषयोंके रमणसे मनको बिलकुल फेर लेता है।

स्पर्शनेन्द्रियके वशीभूत हो हाथी उन्मत्त होता जाता है, पकड़ा जाता है, तौभी विषयकी आसक्तिको नहीं छोड़ता है। रसनाइन्द्रियके वश हो एक मत्स्य जालमें पकड़ लिया जाता है। घ्राणइंद्रियके वश हो एक भ्रमर कमलमें बंद होकर प्राण देदेता है। चक्षुइंद्रियके वशीभूत होकर पतंग दीपककी ज्योतिमें भस्म होजाता है। कर्णइन्द्रियके वश हो मृग जंगलमें पकड़ लिया जाता है। जैसी आसक्ति इन जीवोंकी इन्द्रियोंके भोगोमें होती है वैसी आसक्ति ज्ञानीको आत्माके रमणमें रखनी चाहिये। दिन रात आत्माका ही स्मरण करना चाहिये। आत्माका ही स्वाद लेना चाहिये। विषय कषायका स्वाद नहीं लेना चाहिये।

आत्माके रसमें ऐसा रसिक हो जाना चाहिये कि मान, अपमान, लाभ, अलाभ, कांच कंचन, स्त्री पुरुष, जीवन मरण, दुःखसुखमें समान भाव रखना चाहिये। जैसे धतूरा खानेवाला हर स्थानमें पीत रंग देखता है वैसे आत्मप्रेमी हर स्थानमें आत्माको ही देखता है। शुद्ध निश्चयनयसे उसे जैसे अपना आत्मा परमात्मारूप शुद्ध दीखता है वैसे हरएक आत्मा परमात्मारूप शुद्ध दीखता है उसकी तीक्ष्ण दृष्टिसे भेदज्ञानके प्रयत्नसे पुद्गलादि पांच द्रव्योंका दर्शन छिप जाता है, केवल आत्मा ही आत्मा लोकभरमें दिखता है तब यह लोक एक शुद्ध आत्मीक सागर बन जाता है। उसी आत्मसागरका वह आत्मज्ञानी एक महामत्स्य हो जाता है। उसी आत्मसागरमें वास

करता है, उसीमें कल्लोल करता है, उसी आत्मीक जलका पान करता है, उसीके आनन्दमें मगन रहता है।

ज्ञानी जीव ऐसा आत्मरसिक हो जाता है कि तीन लोककी विषय–सम्पदा इसको जीर्ण तृणके समान दीखती है। यही कारण है जो बड़े २ सम्राट् राज्यविभूति, व स्त्रीपुत्रादि सब कुटुम्बका त्यागकर, परिग्रहके संयोगसे रहित हो, एकाकी वनमें निवास करते हैं और निर्मोही हो, बड़े प्रेम व उत्साहसे आत्मीक रसके स्वादमें तन्मय हो जाते हैं, विषयोंकी तरफसे परम उदासीन हो जाते हैं। मनको सर्व ओरसे रोककर आत्माके रसमें ऐसा मगन कर देते हैं कि वह मन उसीतरह लोप हो जाता है जैसे पानीमें डूबकर लवणकी डली लोप हो जाती है, मन मर जाता है, केवल आत्मा ही आत्मा रह जाता है। ऐसा आत्मस्थ योगी परीषहोंके पड़नेपर भी विचलित नहीं होता है। शीघ्र ही क्षायिक सम्यग्दृष्टी होकर क्षपक-श्रेणीपर चढ़कर घातीय कर्मोंका एक अन्तर्मुहूर्तमें क्षय करके केवल-ज्ञानी होजाता है। उसी शरीरसे शरीर रहित होकर सिद्धपदका लाभ कर लेता है।

इष्टोपदेशमें पूज्यपाद महाराज कहते हैं—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः॥ ४९॥
संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मनमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितं॥ २२॥
परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा॥ २४॥

भावार्थ—अज्ञानसे रहित श्रेष्ठ ज्ञानमई महल ज्योति भीतर

प्रकाशमान है। मोक्षके अर्थीको उचित है कि उसी आत्म-ज्योतिके सम्बंधमें प्रश्न करे, उसीकी चाह करे व उसीका दर्शन करे। पांच इंद्रियोंके ग्रामोंको संयममें लाकर चित्तको एकाग्र करके आत्म-ज्ञानीको उचित है कि वह आत्मामें ही स्थित होकर आत्माहीके द्वारा अपने आत्माका ध्यान करे। जब अभ्यास करते २ आत्मीक योग इतना बढ़ जाय कि क्षुधा, तृषा, दंशमशकादि परीषहोंकी तरफ लक्ष्य ही न रहे तब आस्रवका निरोध होकर शीघ्र ही कर्मोंकी निर्जरा होने लगती है और वह योगी कर्मरहित परमपुरुष होजाता है।

शरीरको नाटक घर जानो।

जेहउ जज्जरु णरय-घरु तेहउ बुज्झि सरीरु।
अप्पा भावहि णिम्मलउ लहु पावहि भवतीरु॥५१॥

अन्वयार्थ—(जेहउ णरय-घरु जज्जरु) जैसा नरकका वास आपत्तियोंसे जर्जरित है-पूर्ण है (तेहउ सरीरु बुज्झि) तैसे ही शरीरके वासको समझ (णिम्मलउ अप्पा भावहि) निर्मल आत्माकी भावना कर (लहु भवतीरु पावहि) शीघ्र ही संसारसे पार हो।

भावार्थ—शरीरको नरककी उपमा दी है। जैसे नर्कमें सर्व अवस्था खराब व ग्लानिकारक होती है, मूत्र दुर्गंध मय, पानी खारी, हवा अंगछेदक, वृक्ष तलवारकी धारके समान, वन विकराल, नारकी परस्पर दुःखदाई। नरकवासमें क्षण मात्र भी साता नहीं। भूख प्यासकी बाधा मिटती नहीं। आकुलताका प्रवाह सदा बहता है। नरकका वास किसी भी तरह सुखकारी नहीं है। नारकी हरसमय नरकवाससे निकलना चाहते हैं परंतु वे असमर्थ हैं। कर्माधीनपने

नरकवासमें आयु पर्यंत रहना पड़ता है, छेदन, मारन, पीड़न सहना पड़ता है।

मानवका यह शरीर भी नरकके बराबर है। भीतर मांस, चरबी, खून, हड्डी, वीर्य, मलमूत्रसे भरा है, अनेक कीड़े विलविला रहे हैं। शरीरके ऊपरसे त्वचाको हटा दिया जावे तो स्वयंको ही इस शरीरसे घृणा होजावे, मक्खियोंसे व मांसाहारी जन्तुओंसे यह वेष्ठित होजावे। इस शरीरके भीतरसे नवद्वारोंके द्वारा मल ही निकलता है। करोड़ों रोमके छेदोंसे भी मल ही निकलता है। करोड़ों रोगोंका स्थान है। निरन्तर भूख प्याससे पीड़ित रहता है। भोजन पानी मिलते हुए भी भूख प्यासका रोग शमन नहीं होता है। शरीर ऐसा गंदा व अशुचि है कि सुन्दर व पवित्र पुष्पमाला, वस्त्राभूषण, जलादि शरीरकी संगति पाते ही अशुचि हो जाते हैं। शरीरमें पांच इन्द्रियां होती हैं उनको अपने अपने विषय भोगनेकी भी वड़ी भारी तृष्णा होती है।

इच्छाके अनुसार भोग मिलते नहीं। यदि मिलते हैं तो बराबर बने नहीं रहते हैं। उनके वियोग होनेपर कष्ट होता है व नए नए विषयोंकी चाहना पैदा होती रहती है। तृष्णाकी ज्वाला बढ़ती ही रहती है। उनकी दाहसे यह प्राणी निरन्तर कष्ट पाता है। कुटुम्बी-जन व स्वार्थी मित्रगण सब अपना अपना ही मतलब साधना चाहते हैं। मतलब कि बिना मातापिता, भाई, पुत्र, पुत्री, वहन, भानजे आदि कुटुम्बीजनोंका स्नेह नहीं होता है। सब एक दूसरेसे सुख पानेकी आशा रखते हैं। विषयोंके भोगमें परस्पर सहायता चाहते हैं। यदि उनका स्वार्थ सिद्ध नहीं होता है तो वे ही बाधक व घातक हो जाते हैं।

शरीरमें बालकपन पराधीनपने बड़े ही कष्टसे वीतता है। युवापनमें घोर तृष्णाको मिटानेके लिये धर्मकी भी परवाह न करके

उद्यम किया करता है। वृद्धावस्थामें असमर्थ होकर घोर शारीरिक व मानसिक वेदना सहता है। इष्टवियोग व अनिष्ट संयोगके घोर कष्ट सहने पड़ते हैं। रातदिन चिंताओंकी चितामें जला करता है। नारकीके समान यह मानव इस शरीरमें सदा क्षोभित व दुःखी रहता है।

नरकमें विषयभोगकी सामग्री नहीं है। मानव गतिमें विषयोंकी सामग्री मिल जाती है। उनके भोगके क्षणिक सुखके लोभमें यह अज्ञानी मानव नरकके समान इस शरीरमें रहना पसन्द करता है तथा ऐसा उद्यम नहीं करता है जो फिर यह शरीर ही प्राप्त न हो। परोपकारी आचार्य शिक्षा देते हैं कि इन नरकवासके समान शरीर-निवासमें मोह करना मूर्खता है।

इस नरदेहसे ऐसा साधन होसकता है जो फिर कहीं भी देहका धारण न हो। निर्वाणरूपी पदका लाभ जिस संयम व ध्यानसे होता है वह संयम व ध्यान नरदेहहीमें होसकता है। नारकी जीव संयमका पालन नहीं कर सकते। इसलिये उचित है कि इस शरीरका मोह त्यागा जावे।

इस शरीरको चाकरकी भांति योग्य भोजनपान देकर अपने काममें सहायक होनेयोग्य बनाए रखना चाहिये और इसके द्वारा धर्मका साधन करना चाहिये। निज आत्माको पहचानना चाहिये। उसके मूल स्वभावका श्रद्धान करके उसीका निरन्तर मनन करना चाहिये, तब यह कुछ ही कालमें उसी भवमें या कई भवोंमें मुक्त होजायगा, शरीर रहित शुद्ध होजायगा। फिर कभी शरीरका संयोग नहीं होगा। स्वयंभूस्तोत्रमें कहा है—

अजङ्गमं जंगमनेययन्त्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरम्।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः॥३२

भावार्थ—हे सुपार्श्वनाथस्वामी! आपने यह हितकारी शिक्षा दी है कि यह शरीर जीवका चलाया चलता है, जैसे एक थिर यंत्र किसी मानवके द्वारा चलानेसे चलता है। यह घृणाका स्थान भयप्रद है, अशुचि है, नाशवन्त है, दुःखोंके तापको देनेवाला है। इस शरीरसे स्नेह करना निरर्थक है, स्वयं आपत्तियोंका सामना करना है। आत्मानुशासनमें कहा है—

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि-
श्चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः।
कर्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्नं शरीरालयं
कारागारमवेहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥ ५९॥

भावार्थ—हे मूर्ख! यह तेरा शरीररूपी घर दुष्ट कर्म-शत्रुओंसे बनाया हुआ एक कैदखाना है, इन्द्रियोंके मोटे पिंजरोंसे घड़ा गया है, नसोंके जालसे वेढ़ा है, रुधिर व मांससे लिप्त है, चर्मसे ढका हुआ गुप्त है, आयुकर्मकी बेड़ीसे तू जकड़ा पड़ा है। ऐसे शरीरको कारागार जान वृथा ही प्रीति करके पराधीनताके कष्ट न उठा—इससे निकलनेका यत्न कर।

जगतके धंधोंमें उलझा प्राणी आत्माको नहीं पहचानता।

धंधइ पडियउ सयल जगि णवि अप्पा हु मुणंति।
तहिं कारणि ए जीव फुडु ण हु णिव्वाणु लहंति ॥ ५२॥

अन्वयार्थ—(सयल जगि धंधइ पडियउ) सब जगके प्राणी अपने अपने धन्धोंमें, कार व्यवहारमें फंसे हुए हैं, तल्लीन हैं

(अप्पा हु णवि मुणंति) इसलिये निश्चयसे आत्माको नहीं मानते है (तहि कारणि ए जीव णिव्वाणु ण हु लहंति फुडु) यही कारण है जिससे ये जीव निर्वाणको नहीं पाते, यह बात स्पष्ट है।

भावार्थ—सकल संसार, शरीरमें प्राप्त इंद्रियोंके विषयोंके तथा भूख प्यास रोगके शमनके आधीन होकर दिनरात वर्तन किया करता है। अपनेर शरीरकी रक्षाके धंधेमें सब मगन होरहे हैं। एकेन्द्रियसे चार इन्द्रिय प्राणी तक मनरहित होते हैं तो भी दिनरात आहारकी खोजमें रहते हैं, दूसरोंसे भयभीत रहते हैं, मैथुनभावमें वर्तते हैं, परिग्रह या मूर्छा अपने शरीरमें रहती है। चार संज्ञाएं आहार, भय, मैथुन, परिग्रह सर्व प्राणियोंमें पाई जाती हैं।

मनरहित पंचेन्द्रियके हित अहितके विचार करनेकी शक्ति नहीं है। इन्द्रियोंकी तृष्णाके प्रेरे हुए वे निरन्तर वर्तते रहते हैं। मन सहित पंचेन्द्रियोंके भीतर आत्मा व अनात्माके विवेक होनेकी शक्ति है परंतु ये सैनी प्राणी भी सांसारिक धन्धोंमें इतने फंसे रहते हैं कि मैं कौन हूं, मेरा क्या कर्तव्य है इस प्रश्नपर ध्यान ही नहीं देते हैं।

नारकी जीवोंका यही धन्धा है कि मार खाना व दूसरोंको मारना। वे परस्पर पीड़ा देनेमें ही लगे रहते हैं। देवगतिवाले राग-भावमें ऐसे फंसे रहते हैं कि उन्हें नाच, गाना, बजाना, देवीके साथ रमण, इन रागवर्द्धक धन्धोंमें फंसे रहनेके कारण विचारका अवकाश नहीं मिलता है। पंचेन्द्रिय सैनी तिर्यंच भी असैनीकी समान चार संज्ञाओंके भीतर लगे रहते हैं। पेटकी ज्वाला शांत करनेका उद्यम किया करते हैं। मनुष्योंकी दशा प्रत्यक्ष प्रगट है। वे असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प या विद्याकर्म, सेवाकर्म, पशुपालन आदि अनेक धन्धोंमें लगकर अपने व अपने कुटुम्बके लिये पैसा कमाते हैं। भोजनपानका प्रबन्ध करते हैं। स्त्रीके साथ रमण करके सन्तानोंको

जन्म देते हैं फिर उनके पालनमें, उनके पढ़ानेमें, उनके विवाहोंमें, उनके रोगादि निवारणमें लगे रहते हैं।

मानकषायकी तीव्रतासे मनुष्योंको अपनी नामवरी करनेकी तीव्र चाह होती है। इसलिये धनादिको संग्रह करके नाना प्रकारके व्यवहारसे अपना यश फैलाना चाहते हैं। मानवोंमें पांचो इंद्रियोंके भोगकी तृष्णा वहुत प्रवल होती है। उनकी तृप्तिके लिये नित्य नये नये भोग चाहते हैं। उनके लिये अनेक कपट करके भी धन संग्रह करते हैं। धनकी व परिग्रहकी रक्षामें चिंतित रहते हैं। स्त्रीके सम्बन्ध होनेसे कुटुम्बके सम्बन्ध वहुत बढ़ जाते हैं। सम्बन्धियोंके जीवन मरणमें व विवाहादि कार्योंमें लगे रहते हैं। इतने अधिक कार्योंकी चिंता मनुष्योंको रहती है कि एक दिनके चौवीस घण्टे पूरे नहीं पड़ते हैं। दिनरात मोहके जालमें फंसे हुए व्याकुल रहते हैं। कभी भी मनको शांत करके मैं कौन हूं इस बात पर गम्भीरतासे नहीं विचार करते हैं।

कोई परोपकारी गुरु आत्माके हितकी वात सुनाना चाहते हैं तो उनकी तरफ ध्यान नहीं देता है। त्यागकी व वैराग्यकी बात कटु भासती है। अर्थ व काम पुरुपार्थमें व इन्हींके लिये पुण्यके लोभसे व्यवहार धर्मके करनेमें इतना तन्मय रहता है कि निश्चय धर्मकी तरफ विचारनेका एक मिनटके लिये अवकाश नहीं पाता है। इसतरह प्रायः सारा ही संसार वोखला होकर कर्मोंको बांध कर चारों गतियोंमें भ्रमण किया करता है। संसारसे पार होनेका उपाय जो आत्मदर्शन है उसका लाभ कभी नहीं कर पाता है।

आत्मानुशासनमें कहा है—

वाल्ये वेत्ति न किञ्चिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन्वने यौवने।

मध्ये वृद्धतृषार्ज्जितुं वसुपशुः क्लिश्नासि कृष्यादिभि-
र्वृद्धो वार्द्धमृतः क्व जन्मफलिते धर्मो भवेन्निर्मलः ॥ ८९ ॥

भावार्थ—बालवयमें अंग ही पूरे नहीं बनते तब अज्ञानी होकर अपने हित या अहितका विचार नहीं कर सकता है। युवानीमें कामसे अन्धा होकर स्त्रीरूपी वृक्षोंसे भरे वनमें भटकता रहता है। मध्यकालमें तृष्णाकी वृद्धि करके अज्ञानी प्राणी खेती आदि धन्धोंसे धनको कमानेमें कष्ट पाया करता है। इतनेमें बुढ़ापा आ जाता है तब अधमरा होजाता है। भला हम मानव जन्मको सफल करनेके लिये निर्मल धर्मको कहां करें? मानव अपना अमूल्य जीवन विषयोंके पीछे गमा देता है। आत्महित नहीं करके भवभ्रमणमें ही दुःख उठाता है।

शास्त्रपाठ आत्मज्ञान विना निष्फल है।

सत्थ पढंतह ते वि जड अप्पा जे ण मुणंति।
तहि कारणि ए जीव फुडु ण हु णिव्वाणु लहंति ॥५३॥

अन्वयार्थ—(सत्थ पढंतह ते अप्पा ण मुणंति जे वि जड) शास्त्रोंको पढ़ते हुए जो आत्माको नहीं पहचानते हैं वे भी अज्ञानी हैं (तहिं कारणि ए जीव फुडु ण हु णिव्वाणु लहंति) यही कारण है कि ऐसे शास्त्रपाठी जीव भी निर्वाणको नहीं पाते हैं, यह वात स्पष्ट है।

भावार्थ—कितने ही विद्वान या स्वाध्याय करनेवाले व्याकरण, न्याय, काव्य, वैद्यक, ज्योतिष, धर्मशास्त्र आदि अनेक विषयके शास्त्र जानते हैं, परंतु शुद्ध निश्चयनयके विषय पर लक्ष्य नहीं देते, अध्यात्मज्ञानसे बाहर रहते हैं। आत्मा ही निश्चयसे परमात्मा देव है ऐसा

अनुभव उनको नहीं होता है अतएव ये भी जड़ ही के समान आत्मज्ञान रहित हैं। मोक्षमार्गको न पाकर निर्वाणका लाभ भी कर सकते हैं। जिनवाणी पढ़नेका फल निश्चय सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति करनेका प्रयास है। इसीके लिये चारों अनुयोगोंके ग्रंथोंको पढ़कर शास्त्रीय विषयको जानकर मुख्यतासे यह जानना चाहिये कि यह जगत जीवादि छः द्रव्योंका समुदाय है। हरएक द्रव्य नित्य है तौ भी पर्यायकी पलटनकी अपेक्षा अनित्य है।

जगत भी नित्य अनित्य स्वरूप अनादि अनंत है। इन छः द्रव्योंमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल सदा ही शुद्ध उदासीन व निश्चल रहते हैं। शुद्ध आत्माएं भी निश्चल व उदासीन रहती हैं। संसारी आत्माएं कर्म पुद्गलोंसे संयोग रखती हुई अशुद्ध हैं। कर्मोंके उदयसे ही चार गतियोंमें नाना प्रकारकी अवस्थाएँ होती हैं। कर्मोंके उदयसे ही औदारिक, वैक्रियिक आदि शरीर बनते हैं। यह जीव स्वयं ही मन, वचन या कायके वर्तनसे कर्मोंको, ग्रहण करके कषा-योंके अनुसार बांधता है।

आप ही अपनी राग द्वेष मोहकी परिणतिके निमित्तसे एक तरफ बंधता रहता है, दूसरी तरफ कर्मोंका फल भोगकर निर्जरा करता रहता है, इसतरह परम पुण्यके फलको भोगता हुआ संसारमें जन्म जरा मरण, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोगके घोर कष्ट पाता है। इस कष्टके छूटनेका उपाय रत्नत्रय धर्मकी प्राप्ति है जिससे संवर हो, नवीन कर्मोंका आना रुके व पुरातन बंधे कर्मोंकी अविपाक निर्जरा हो। समयके पहले ही विना फल दिये झड़ जावें जिससे यह आत्मा कर्मके संयोगसे बिल्कुल छूटकर मुक्त होजावे। इसतरह व्यवहारनयसे विस्ताररूप जीवादि सात तत्वोंको भलेप्रकार बुद्धिमें निर्णय करके उनका स्वरूप श्रद्धामें लावे व यह मानकर दृढ़ करें कि मुझे शुद्ध

होना है। फिर यह समझे कि निश्चयसे या द्रव्य दृष्टिसे यह मेरा आत्मा शुद्ध है, जल और दूधके समान कर्मोंसे एकमेक हो रहा है, तथापि जल दूध दोनों जैसे भिन्न २ हैं वैसे आत्मा भी सर्व कर्मोंसे, शरीरोंसे व रागादि विभावोंसे भिन्न है।

भेदविज्ञानकी कलाको प्राप्त करके निश्चय सम्यग्दर्शनके लाभके लिये नित्य भेदविज्ञानका मनन करे। एकांतमें बैठकर जगतको व अपनेको द्रव्य दृष्टिसे देखकर छहों द्रव्योंको अलग २ शुद्ध देखे, वीतरागता बढ़ानेका उद्यम करे, समभाव लानेका उपाय करे, निरन्तर अध्यात्मका ही मनन करे। बहुत अभ्याससे यह जीव करणलब्धिको पाकर अनन्तानुबन्धी चार कषाय व मिथ्यात्वादि तीन दर्शन मोहनीयको उपशम करके सम्यग्दृष्टी हो सकेगा। तब भीतरसे आत्माका साक्षात्कार हो जायगा। आत्मानन्दका अनुभव होगा, तब ही मोक्षमार्गका पता चलेगा। सर्व शास्त्रोंके पढ़नेका हेतु सम्यग्दर्शनका लाभ है। यदि इसे नहीं पाया तो, शास्त्रोंका पढ़ना कार्यकारी नहीं हुआ।

अनेक जीव व्यवहार शास्त्रमें कुशल होकर विद्याका मद करके उन्मत्त हो जाते हैं, कषायकी मलीनताको बढ़ा लेते हैं। वे ख्याति, पूजा या लाभके प्रेमी होकर सांसारिक विषयकषायकी पुष्टिके लिये ही ज्ञानका उपयोग करते हैं, वे कभी आध्यात्मिक ग्रन्थोंको नहीं पढ़ते हैं, न कभी वे आत्माके शुद्ध स्वरूपका मनन करते हैं। उनके भीतर संसारका मोह कम होनेकी अपेक्षा अधिक होता जाता है। वे आत्मज्ञानके प्रकाशको न पाकर अज्ञानके अन्धकारमें ही जीवन बिताकर मानव जन्मका फल नहीं पाते हैं। शास्त्रोंका ज्ञान उनके लिये संसारवर्द्धक होजाता है, निर्वाणके मार्गसे उनको दूर लेजाता है।

इसलिये श्री योगेन्द्राचार्य उपदेश करते हैं कि शास्त्रोंके पठन-

पाठन द्वारा अपने आत्माके शुद्ध स्वभावकी रुचि प्राप्त करो। शुद्धात्मानुभव मोक्षमार्ग है उसका लाभ करो, जिससे इस जीवनमें भी सच्चा सुख मिले व आगामी मोक्षका मार्ग तय होता जावे व निर्वाणका लाभ होसके। सारसमुच्चयमें कहा है—

एतज्ज्ञानफलं नाम यच्चारित्रोद्यमः सदा।
क्रियते पापनिर्मुक्तैः साधुसेवापरायणैः ॥ ११ ॥
सर्वद्वन्द्वं परित्यज्य निभृतेनान्तरात्मना।
ज्ञानामृतं सदा पेयं चित्ताल्हादनमुत्तमम् ॥ १२ ॥

भावार्थ—शास्त्रोंके ज्ञानका यही फल है जो पापोंसे बचकर व साधुओंकी सेवा करके चारित्र पालनेका सदा उद्यम करे। अंतरात्मा या सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानी होकर सर्व रागादि विकल्पोंको छोड़कर निश्चिन्त होकर परमानन्दकारी आत्मज्ञान रूपी अमृतका पान सदा किया जावे।

इन्द्रिय व मनके निरोधसे सहज ही आत्मानुभव होता है।

मणु-इंदिहि वि छोडियइ बहु पुच्छियइ ण कोइ।
रायहँ पसरु णिवारियइ सहज उपज्जइ सोइ ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थ—(मणु बहु इंदिहि वि छोडियइ) यदि बुद्धिमान मन व इन्द्रियोंसे छुटकारा पाजावे (कोइ ण पुच्छियइ) तब किसीसे कुछ पूछनेकी जरूरत नहीं है (रायहँ पसरु णिवारियइ) जब रागका फैलाना दूर कर दिया जाता है (सहज सोइ उपज्जइ) तब यह आत्मज्ञान सहज ही पैदा होजाता है।

भावार्थ—शास्त्रोंके रहस्यके ज्ञाताको जो व्यवहार निश्चयनयसे या द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयसे छः द्रव्योंके स्वरूपको भले-प्रकार जानता हो व जिसको अपने आत्मामें रमण करनेकी गाढ़ रुचि पैदा होगई हो व जो कर्ममलसे आत्माको छुडाना चाहता हो, आत्माधीन निश्चय चारित्रके लाभके लिये उपयोगको मन व इंद्रियसे रोकना चाहिये ।

इन्द्रियोंके विषयोंकी चाह मिटानी चाहिये तथा इन्द्रियोंके द्वारा स्पर्श करने, रस लेने, सूंघने, देखने व सुननेकी बुद्धिपूर्वक क्रिया बंद करनी चाहिये । विषयभोग क्षणिक तृप्तकारी है व आगामी तृष्णाके वर्द्धक हैं, ऐसा जानकर सर्व इन्द्रियोंके भोगोंसे पूर्ण विरक्त रहना चाहिये । अबुद्धिपूर्वक यदि वस्तु-स्वभावसे इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञानमें पदार्थ आजावे तो वीतराग भावसे जान करके छोड़ देना चाहिये । उनका स्वागत नहीं करना चाहिये । ध्यानके समय तो उपयोगको इन्द्रियोंके विषयोंसे दृढ़तापूर्वक हटाना चाहिये ।

मनको भी थिर करनेकी जरूरत है । मनद्वारा पिछले भोगोंका स्वरूप व आत्माकी कांक्षा होसक्ती है । वैराग्य द्वारा उसके इस संकल्प विकल्पको या चिंतवनको रोकें । आत्मज्ञानमें रमणका उपाय यह है कि पहले व्यवहार नयसे बारह भावनाओंको चिन्तवन करके मनको शांत करें, फिर निश्चय नयके द्वारा जगतके द्रव्योंको मूल स्वभावमें पृथक २ देखे । समभाव लानेका प्रयास करे, फिर अपने ही आत्माके स्वरूपकी शुद्ध भावना भावे ।

भावना करते करते एक दमसे मनका उपयोग आत्मरूप हो जायगा व आत्मामें रमण प्राप्त होजायगा । अल्पज्ञानी छद्मस्थका उपयोग अंतर्मुहूर्तके भीतर कुछ ही देर स्थिर रहेगा, फिर निश्चयनयके द्वारा आत्माकी भावनामें आजाना चाहिये । अपने आत्मज्ञानमें

रमणके लिये दूसरोंसे पूछताछ करनेकी जरूरत नहीं है। स्वयं पुरुषार्थी होकर रागके प्रसारको मिटानेकी जरूरत है। तत्वज्ञानी छः द्रव्योंको मूल स्वभावमें देखकर वैरागी होजाता है। वास्तवमें जिसको अनुभव करना है वह आप ही है। जिसने अपने आत्माके स्वरूपका भलेप्रकार निश्चय सहित ज्ञान प्राप्त करलिया है उसके भीतर आत्माका दर्शन या अनुभव रागद्वेषके मिटते ही सहजमें होजाता है।

आत्माके आनंदकी गाढ़ श्रद्धा सर्व आत्मा या परपदार्थके आश्रित सुखसे वैराग्य उत्पन्न करदेती है। इंद्रियोंका सुख पराधीन है, व्यवहारी लोग इंद्रिय-सुखके लाभके लिये मनोज्ञ पदार्थोंकी खोज करके उनसे राग करलेते हैं। आत्मज्ञानीको इंद्रिय सुखसे गाढ़ वैराग्य होता है। इसलिये वह शीघ्र ही अपने उपयोगको मनोज्ञ या अमनोज्ञ पदार्थोंसे हटा लेता है। वस्तु-स्वरूपको विचार कर समभावमें आजाता है। रागका जाल मिटते ही अपना स्वरूप स्वयं प्रत्यक्ष होजाता है।

जैसे सरोवरका निर्मल पानी जब पवनके द्वारा डांवाडोल होता है तब उसमें अपना मुख नहीं दीखता है परंतु जब तरंग रहित निश्चल होता है तब अपना मुख दिख जाता है। इसीतरह रागद्वेषकी चंचलता मिटते ही अपना आत्मा आपको स्वयं दिख जाता है, आत्माका अनुभव होजाता है। उपयोगकी चंचलता बाधक है। जब उपयोगको वैराग्यकी रज्जूसे बांधकर स्थिर किया जाता है तब सहज ही आत्माका प्रकाश होजाता है। **समाधिशतकमें** कहा है—

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ॥ ३९ ॥
यत्र काये मुनिः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम्।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥ ४० ॥

भावार्थ—जब तपस्वीके मनमें राग द्वेष उठ आवे तब वह शांतभावसे क्षणभरके लिये अपने आत्मामें स्थित होकर आत्माके शुद्ध स्वभावकी ही भावना करे। जिस शरीरमें मुनिका राग होजावे उस शरीरसे अपने आत्माके भावको हटाकर अपने आत्माके उत्तम ज्ञानमय शरीरमें उस भावको जोड देवे तब रागका क्षय होजायगा।

पुद्गल व जगतके व्यवहारसे आत्माको भिन्न जाने।

पुग्गलु अण्णु जि अण्ण जिउ अण्णु जि सहु ववहारु।
चयहि वि पुग्गलु गहहि जिउ लहु पावहि भवपारु ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ—(पुग्गलु अण्णु जि) पुद्गल मूर्तीकका स्वभाव जीवसे अन्य है (जिउ अण्णु) जीवका स्वभाव पुद्गलादिसे न्यारा है (सहु ववहारु अण्णु जि) तथा और सब जगतका व्यवहार प्रपंच भी अपने आत्मासे न्यारा है (पुग्गलु चयहि वि जिउ गहहि) पुद्गलादिको त्यागकर यदि अपने आत्माको निराला ग्रहण करे (लहु भवपारु पावहि) तो शीघ्र ही संसारसे पार हो जावे।

भावार्थ—संसारसे पार होनेका उपाय एक अपने ही आत्माका सर्व परद्रव्योंसे तथा परभावोंसे भिन्न ग्रहण करके उसीका अनुभव करना है। ज्ञानी यह विचारता है कि हरएक द्रव्यकी सत्ता भिन्न २ रहती है। मूलमें एक द्रव्य दूसरेसे मिलकर एकरूप नहीं होता, न एक द्रव्यके खण्ड होकरके दो या अनेक द्रव्य बनते हैं। सर्व ही द्रव्य अपने अनंतगुणोंको व पर्यायोंको लिये हुए बने रहते हैं तब मेरे आत्माका द्रव्य प्रगटपने अन्य सर्व संसारी तथा सिद्ध आत्माओंसे भिन्न है।

अन्य आत्माओंका ज्ञान, सुख, वीर्य, चारित्र भिन्न है। मेरे

आत्माका ज्ञान, सुख, वीर्य, चारित्र भिन्न है। निश्चयसे सर्व आत्माएं सदृश हैं, गुणोंमें समान है तथापि सत्ता सर्वकी निराली है। अनुभव सबका अपना अपना है। तथा यह मेरा आत्मा सर्व जगतके अणुमें स्कंधरूप पुद्गलोंमें निराला है। पुद्गल मूर्तीक अचेतन है, मैं अमूर्तीक चेतन हूं। इसी तरह यह मेरा आत्मा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व असंख्यात कालाणुओंसे भिन्न है, क्योंकि ये चारों ही द्रव्य अमूर्तीक अचेतन हैं।

मेरे साथ जिनका अनादिसे सम्बन्ध चला आ रहा है ऐसे तैजस व कार्मण शरीर मेरेसे भिन्न हैं, क्योंकि वे पुद्गलमय तैजस और कार्मण वर्गणाओंसे बने हैं। उनका स्वरूप अचेतन है, मेरा स्वरूप चेतन है। मैंने औदारिक व वैक्रियिक शरीर चारों गतियोंमें बारबार धारण किये हैं व छोड़े हैं। ये भी पुद्गलमय आहारक वर्गणाओंमें रचित अचेतन हैं। मेरेसे भाषाका निकलना भाषा वर्गणाओंके उपादान कारणसे होता है व मनका बनना मनोवर्गणाओंके उपादान कारणसे होता है ये सब पुद्गलमय अचेतन हैं। कर्मके उदयसे जो मेरे भीतर क्रोध, मान, माया, लोभ भाव होते हैं व अज्ञानभाव हैं या वीर्यकी कमी है सो सब आवरणका दोष है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय इन चार घातीय कर्मोंके उदयसे मेरेमें विकार झलकता है। जैसे कीचके मिलनेसे जलमें विकार दीखे। निश्चयसे जैसे कांचसे जल अलग है वैसे में आत्मा सर्व रागादि विकारोंसे अलग परमज्ञानी व परम वीतरागी हूं। मेरा एक स्वाभाविक भाव जीवत्व है या शुद्ध सम्यग्दर्शन, शुद्ध चारित्र, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध दान, शुद्ध लाभ, शुद्ध भोग, शुद्ध उपभोग, शुद्ध वीर्य हैं। उपशम सम्यक्त व उपशम चारित्र, मतिज्ञानादि चार ज्ञान व तीन अज्ञान, चक्षु आदि तीन दर्शन, क्षयोपशम दानादि

पांच लब्धि, क्षयोपशम सम्यक्त, क्षयोपशम चारित्र, देश संयम ये सब वीस प्रकारके औपशमिक व क्षयोपशमिक भाव मेरे शुद्ध स्वभावसे जुदे हैं । मैं तो एक अखण्ड व अभेद शुद्ध गुणोंका धारी द्रव्य हूं । कर्मवन्धकी रचनाको लेकर मेरेमें आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा व मोक्ष तत्वोंका तथा पुण्य व पापका व्यवहार है ।

मेरा शुद्ध स्वभाव इन पांच तत्व व सात पदार्थोंके व्यवहारसे निराला है । नर नारक देव तिर्यंच गतिके भीतर कर्मोंके उदयवश नानाप्रकारके वननेवाले भेप व उनमें नानाप्रकारकी अशुद्ध कायकी या वचनकी या मनकी संकल्प विकल्परूप क्रियाएं सब मेरे शुद्ध आत्मीक परिणमनसे भिन्न हैं । जगतका सर्व व्यवहार मन वचन काय तीन योगोंसे या शुभ या अशुभ उपयोगोंसे चलता है, मेरे शुद्ध उपयोगमें व निश्चल आत्मीक प्रदेशोंमें इनका कोई संयोग नहीं है इसलिये मैं इन सबसे जुदा हूं । न मेरा कोई मित्र है, न कोई शत्रु है, न मेरा कोई स्वामी है, न मैं किसीका स्वामी हूं, न मैं किसीका सेवक हूं, न कोई मेरा सेवक है, न मैं किसीका ध्यान करता हूं, न किसीका पूजन करता हूं, न किसीको दान देता हूं । मैं ध्यान पूजा दानादि कर्मसे निराला हूं ।

अशुद्ध निश्चय नयसे कहे जानेवाले रागादि भावोंसे अनुपचरित, असद्भूत व्यवहारसे कहे जानेवाले कार्मणादि शरीरोंके सम्बंधसे उपचरित असद्भूत व्यवहारसे कहे जाने वाले स्त्री पुत्रादि चेतन व धन गृहादि अचेतन पदार्थोंसे मैं भिन्न हूं । सद्भूत व्यवहार नयसे कहे जानेवाले गुण गुणीके भेदोंसे भी मैं दूर हूं ।

मैं सर्व व्यवहारकी रचनासे निराला एक परम शुद्ध आत्मा हूं । ज्ञायक एक प्रकाशमान परम निराकुल परम वीतरागी अखंड द्रव्य हूं, मेरेमें बंध व मोक्षकी भी कल्पना नहीं है । सदा ही तीन

कालमें एक अबाधित नित्य परम निर्मल चेतन द्रव्य हूं। इसतरह मनन करके जो अपने आत्मारूपी रत्नको ग्रहण करके उसीके स्वामीपनेमें संतोषी होजाता है, वही आत्माका दर्शन करता हुआ निर्वाणका स्वामी होजाता है। समयसारकलशमें कहा है—

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान्कर्तृभोक्त्रादिभावान्।
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः॥
शुद्धः शुद्धस्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः॥ १-१०॥

भावार्थ—ज्ञानका समूह यह आत्मा अपनी स्थिर प्रकाशमान प्रतिमाको धरता हुआ सदा उदय रहता है। यह परम शुद्ध है, शुद्ध आत्मीक रससे पूर्ण व पवित्र व निश्चल तेजका धारी है। कर्ताभोक्ता आदिके भावोंको पूर्णपने अपने भीतरसे दूर किये हुए है। यह अपनी हरएक परिणतिमें एकाकार है, बंध तथा मोक्षकी कल्पनासे दूर है।

समयसारमें कहा है—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि॥ १७६॥

भावार्थ—जो जीव शुद्ध आत्माका अनुभव करता है वह स्वयं शुद्धात्मा होजाता है व जो अपनेको अशुद्ध जानता है वह अशुद्ध आत्मारूप ही रहता है।

आत्मानुभवी ही संसारसे मुक्त होता है।

जे णवि-मण्णहिं जीव फुडु जे णवि जीउ मुणंति।
ते जिण-णाहहँ उत्तिया णउ संसारमुचंति॥ ५६॥

अन्वयार्थ—(जे फुडु जीव णवि-मण्णहिं) जो स्पष्ट रूपसे

अपने आत्माको नहीं जानते हैं (जे जीउ णवि मुणंति) व जो अपने आत्माका अनुभव नहीं करते हैं (ते संसार णउ मुचंति) वे संसारसे मुक्त नहीं होते (जिण णाहहं उत्तिया) ऐसा जिनेन्द्र-देवने कहा है।

भावार्थ—श्री जिनेन्द्र भगवानने दिव्य वाणीसे यही उपदेश किया है कि अपने आत्माका श्रद्धान, ज्ञान, तथा ध्यान अर्थात् निश्चय रत्नत्रय स्वरूप स्वात्मानुभव ही वह मसाला है जिसके प्रयोगसे वीतरागताकी आग भड़कती है, जो कर्म ईंधनको जलाती है।

विना आत्मीक ध्यानके कोई कभी कर्मोंसे मुक्त नहीं हो सक्ता है। पर पदार्थ ये मोह वन्धका मार्ग है तव परसे वैराग्य व भिन्न आत्मीक तत्वमें संलग्नता मोक्षका मार्ग है। तत्वज्ञानीको इसीलिये सर्व विषय-कषायोंसे पूर्ण वैराग्यवान होना चाहिये। इन्द्रियोंके द्वारा पदार्थोंको ज्ञान करके समभाव रखना चाहिये, रागद्वेष नहीं करना चाहिये।

उनके भीतर रागभावसे रंजायमान होना व द्वेषभावसे हानि करना उचित नहीं है। विषयभोग विषके समान हानिकारक व अन्धकारवर्द्धक हैं ऐसा दृढ़ विश्वास असंयत सम्यक्तीको भी होता है। यद्यपि वह अप्रत्याख्यानादि कषायोंके उदयसे व अपने आत्म-वीर्यकी कमीसे पांचों इन्द्रियोंके भोग करता है तथापि भावना यही रहती है कि कब वह समय आवे जब मैं केवल आत्मीक रसका ही वेदन करूं। ज्ञान चेतनारूप ही वर्तूं, कर्मफल-चेतना व कर्मचेतनारूप न वर्तूं।

त्यागनेयोग्य वुद्धिसे वह उनमें आसक्त नहीं होता है। जितनी२ कषायकी मन्दता होती जाती है, विषय विकारकी कलुषता मिटती जाती है। देशसंयमी श्रावक होकर विषयभोगसे वहुत निर्लिप्त हो

जाता है तब प्रत्याख्यान कषायका उदय नहीं रहता है। तब संयमी होकर पूर्ण विरक्त होजाता है। परिग्रहके प्रपंचसे हटकर निज आत्माके स्वादका इतना प्रेमी होजाता है कि एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक आत्मीक रमणसे विमुख नहीं रहता है। निरन्तर आत्मीक मननमें लगा रहता है।

वास्तवमें आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है। सम्यक्ती बाहरी चारित्रको, भेपको, वर्तनको मोक्षमार्ग नहीं जानता है, एक ही निश्चय आत्माके अनुभवको मोक्षमार्ग जानता है। अनुभवके समय वृत्ति आत्मामय होजाती है तब बहुत कर्मोंकी निर्जरा होती है। मोहनीय कर्मकी शक्ति घटती है, अधिकबल बढ़ता है। आत्मानुभव ही धर्मध्यान है, आत्म-नुभव ही शुक्लध्यान है, इसीके प्रतापसे चारों घातीयकर्म क्षय होजाते हैं तब आत्मा परमात्मा होजाता है। अपने आत्माको द्रव्यरूप परके संयोग रहित परम वीतराग, परमानंदमय, परमज्ञानी, परमदर्शी, अमूर्तीक, अविनाशी, निर्विकार, निरंजन, अनंतबली, परम निश्चल, एकाकी, परम शुद्ध, परमात्मा रूप निरन्तर, देखना चाहिये। जगतकी आत्माओंको भी द्रव्यदृष्टिसे ऐसा ही देखना चाहिये तब समभावका प्रकाश होगा।

भावनाके समय शुद्ध निश्चयनयसे आपको व पर आत्माओंको सबको परम शुद्ध रूप मनन करना चाहिये, फिर अपनेमें ही एकाग्र होकर आत्मीक रसका पान करना चाहिये। रातदिन आत्मीक रसका रसीला होजाना चाहिये। निज आत्मामें ही रहना ज्ञानीका घर है। विना आत्माकी शिलापर जिस ज्ञानीका आसन है, निज आत्मीक तत्व ही ज्ञानीका वस्त्र है, निजात्मीक रस ही ज्ञानीका भोजनपान है। निजा-त्मीक शय्या ही ज्ञानीकी शय्या है। जिस ज्ञानीको सर्व कर्मजनित पद अपद भासते हैं वही ज्ञानी निजपदका प्रेमी होकर निज स्वभावमें

रमण करता हुआ मोक्षमार्गको तय करता है व एक दिन परमात्मा होजाता है। वास्तवमें यह अनुभव कि मैं बन्ध व मोक्षकी रचनासे रहित स्वयं पदमें वीर्यवान परम निर्मल हूं, स्वयं आत्माको आत्मामय दर्शाता हूं। बंधसे विराग ही बंधके क्षयका कारण है।

आत्मानुशासनमें कहा है—

सकलविमलबोधाः सर्वसावद्यदूराः।
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः ॥
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः।
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥ २२६ ॥

भावार्थ—जो सर्व द्रव्योंको जानते हैं, सर्व पापोंसे दूर हैं, आत्माके हितमें चित्तके धारी हैं, पवित्र शांतभावके प्रचारक हैं, स्वपर हितकारी वाणीके कहनेवाले हैं, सर्व संकल्पसे रहित हैं, ऐसे महात्मा विरक्तजन क्यों न मोक्षके पात्र होंगे ?

आत्माके ज्ञानके लिये नौ दृष्टांत हैं।

रयण दीउ दिणयर दहिउ दुध्दु घीव पाहाणु।
सुण्णउ रूउ फलिहउ अगिणि णव दिट्ठंता जाणु ॥ ५७ ॥

अन्वय सुगम है—अर्थ—रत्न, दीप, सूर्य, दही-दूध-घी, पाषाण, सुवर्ण, चांदी, स्फटिकमणि, आग इन नौ दृष्टांतोंसे जीवको जानना चाहिये।

भावार्थ—इनका विस्तार जैसा समझमें आया किया जाता है। आत्मतत्व अपने शरीरमें व्यापक है, आप ही है, प्रगट ही है। तथापि समझनेके लिये नौ दृष्टांतोंका यहां कथन है—

(१) रत्न—आत्मा रत्नके समान जगतमें एक अमूल्य द्रव्य है, परम धन है, आत्मज्ञानी रत्नका स्वामी सम्यग्दृष्टी जौंहरी है, जो पहचानता है कि आत्मा परम शुद्ध है, अभेद है, सदा ही ज्ञान-ज्योतिसे प्रकाशमान है, अविनाशी है, स्वयं सम्यग्दर्शन रत्नमय सम्यग्ज्ञान रत्नमय व सम्यक्चारित्र रत्नमय, रत्नत्रय स्वरूप है, एक अनुपम रत्न है।

(२) दीप—आत्मा दीपकके समान स्वपर प्रकाशमान है। एक ही कालमें यह आत्मा अपनेको भी जानता है व सर्व द्रव्योंको व उनके गुण व पर्यायोंको जानता है तौभी पर ज्ञेयोंसे भिन्न है। यह आत्मा अनुपम दीपक कभी नहीं बुझनेवाला है। इस आत्मा दीपकको किसी तेलकी जरूरत नहीं है, न कोई पवन इसे बुझा सक्ता है। यह दीपक सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल भावोंको एक साथ झलकानेवाला है।

(३) सूर्य—आत्मा सूर्यके समान प्रकाशमान व प्रतापवान है। सर्व लोकालोकका ज्ञाताद्रष्टा है व परम वीर्यवान है। व परम शांत है। इसलिये यह एक अनुपम सूर्य है। कभी छिपता नहीं है। किसी मेघ या राहुसे ग्रसित नहीं होता है। स्वयं परमानन्दमय है। जो इस आत्मा सूर्यको देखता है उनको भी आनन्द दाता है। यह सदा निरावरण है, एक नियमित स्वक्षेत्रमें या असंख्यातप्रदेशी होकर किसी देहमें या देहके आकार होते हुए भी लोकालोकका प्रकाशक है।

(४) दूध, दहीं, घी—के समान यह आत्मा है। आत्माके दूध सदृश शुद्ध स्वभावके मनन करनेसे आत्माकी भावना दृढ़ होती है। आत्माकी भावनाकी जागृति ही दहींका बनना है। फिर जैसे दहींके विलानेसे घी सहित मक्खन निकलता है वैसे आत्माकी भावना करते करते आत्मानुभव होता है, जो परमानन्द देता हुआ

आत्माको घीके समान दीखता है। आप ही दूध है, आप ही दही है, आप ही घी है। मुमुक्षुको निज आत्मारूपी गोरसका ही निरन्तर पान करना चाहिये। परम वीर्यवान व सन्तोषी रहना चाहिये।

(५) **पाषाण**—आत्मा पत्थरके समान दृढ़ व अमिट है। अपने भीतर अनन्त गुणोंको रखता है। उनको कभी कम नहीं करता है। न किसी अन्य गुणको स्थान देता है। अगुरुलघु सामान्य गुणके द्वारा यह अपनी मर्यादामें बना रहता है। आठ कर्मोंके संयोगसे संसार-पर्यायमें रहता है तौ भी कभी अपने स्वभावको त्यागकर आत्मासे अनात्मा नहीं होता है। निश्चल परम दृढ़ सदा रहता है।

(६) **सुवर्ण**—आत्मा शुद्ध सुवर्ण या कुन्दनके समान परम प्रकाशमान ज्ञान धातुसे निर्मित अमूर्तीक एक अद्भुत मूर्ति है। संसारी आत्मा खानसे निकले हुए धातु, पाषाण, सुवर्णकी तरह अनादिसे कर्मरूपी कालिमासे मलीन है। अग्नि आदिके प्रयोगसे जैसे सोनेकी वस्तु पाषाणसे अलग करके शुद्ध कुन्दन कर लिया जाता है वैसे ही आत्मध्यानकी आगसे आत्माको कर्मोंकी कालिमासे शुद्ध सिद्ध समान कर लिया जाता है।

(७) **चांदी**—आत्मा शुद्ध चांदीके समान परम निर्मल है। कर्मोंके साथ एक क्षेत्रावगाह रूप संयोग होनेपर भी कभी अपने शुद्ध स्वभावको त्यागता नहीं है। इस आत्मामें ज्ञानका परम प्रकाश है। वीतरागताकी सफेदी है या स्वच्छता है। जो ज्ञानी आत्मारूपी चांदीका सदा व्यवहार करता है, आत्माके ही भीतर रमण करता है वह कभी परमानंदरूपी धनसे शून्य नहीं होते हैं।

(८) **स्फटिकमणि**—यह आत्मा स्फटिकमणिके समान निर्मल है व परिणमनशील है। कर्मोंके उदयका निमित्त न होनेपर

यह सदा अपने शुद्ध आत्मीक गुणोंमें ही परिणमन करता है। संसार अवस्थामें कर्मोंके उदयके निमित्त होनेपर यह स्वयं रागद्वेष, मोहरूप व नाना प्रकारके विभावरूप परिणमन करता है। जैसे-स्फटिकमणि लाल, पीले, नीले वस्तुके सम्पर्कसे लाल, पीला, लीला रंगरूप परिणमन कर जाता है तौभी निर्मलताको खो नहीं बैठता है, केवल ढक देता है, इसीतरह आत्मा सराग दशामें रागद्वेपरूप परिणमता हुआ भी वीतरागताका लोप नहीं कर देता है, केवल ढक देता है, निमित्त न आनेपर यह सदा स्फटिकके समान शुद्ध वीतराग-भावमें ही झलकता है।

(९) अग्नि—यह आत्मा अग्निके समान सदा जलता रहता है। किन्हीं भी विपयोंको व परके आक्रमणको नहीं होने देता है। जब यह संसार पर्यायमें होता है तब यह स्वयं ही अपने आत्मीक ध्यानकी अग्नि जलाकर अपने कर्ममलको भस्म करके शुद्ध होजाता है। यह आत्मा अनुपम अग्नि है जो कर्म इंधनकी दाहक है, आत्मीक बलकी पोपक है व सदा ज्ञानके द्वारा स्वपर प्रकाशक है। इन नौ दृष्टांतोंसे आत्माको समझकर पूर्ण विश्वास प्राप्त करना चाहिये। **समयसारमें** कहा है—

जह फलियमणि विसुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादियेहिं दव्वेहिं ॥ ३०० ॥
एवं णाणि सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागदीहिं दोसेहिं ॥ ३०१ ॥

भावार्थ—जैसे स्फटिकमणि शुद्ध है, स्वयं लाल पीली आदि नहीं होती है, परंतु जब लाल पीले आदि द्रव्योंका संयोग होता है तब वह लाल पीली आदि होजाती है। इसीतरह ज्ञान स्वरूपी

आत्मा स्वयं कर्ता रागादि भावोंमें परिणमन नहीं करता है। यदि मोहनीय कर्मकी रागादि प्रकृतियोंका उदय होता है तब ही रागादि रूप परिणमता है। यह स्फटिकके समान स्वच्छ परिणमनशील है।

देहादिरूप मैं नहीं हूं, यही ज्ञान मोक्षका बीज है।

देहादिउ जो परु मुणइ जेहउ सुण्णु अयासु।
सो लहु पावइ (?) बंभु परु केवलु करइ पयासु ॥५८॥

अन्वयार्थ—(जेहउ अयासु सुण्णु) जैसे आकाश पर पदार्थोंके साथ सम्बन्ध रहित है, असंग अकेला है (देहादिउ जो परु मुणइ) वैसे ही शरीरादिको जो अपने आत्मासे पर जानता है (सो परु बंभु लहु पावइ) वही परम ब्रह्म स्वरूपका अनुभव करता है (केवलु पयासु करइ) व केवलज्ञानका प्रकाश करता है।

भावार्थ—जैसे आकाशके भीतर एक ही क्षेत्रमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, असंख्यातकालाणु, अनंत जीव, अनंतानंत पुद्गल-द्रव्य रहते हैं तथापि इनकी परिणतिसे आकाशमें कोई विकार या दोष नहीं होता है—आकाश उनसे बिलकुल शून्य, निर्लेप, निर्विकार बना रहता है, कभी भी उनके साथ तन्मय नहीं होता है।

आकाशकी सत्ता अलग व आकाशमें रहते हुए चेतन अचेतन पदार्थोंकी सत्ता अलग रहती है वैसे ही ज्ञानीको समझना चाहिये कि आत्मा आकाशके समान अमूर्तीक है, आत्माके सर्व असंख्यात प्रदेश अमूर्तीक हैं। मेरी आत्माके आधारमें रहनेवाले तैजस शरीर, कार्मण शरीर, औदारिक शरीर व शरीरके आश्रित इन्द्रियां, मन व वचन तथा इनके परिणमनसे सब मेरे आत्मासे भिन्न हैं।

बंधप्राप्त कर्मोंके उदयसे होनेवाले तीव्र कषाय या मंदकषायके

सर्व ही अशुभ व शुभभाव मेरे आत्माके शुद्ध स्वभावसे भिन्न हैं। मेरा कोई सम्बन्ध मन, वचन, कायकी क्रियाओंसे नहीं है। मैं बिलकुल परके मोहसे शून्य हूं। मैं परम वीतरागी व निर्मल हूं। जगतमें मेरे आत्माके न कोई माता–पिता है, न कोई पुत्र है, न मित्र है, न कोई स्त्री है, न भगिनी है, न पुत्री है, न कोई मेरे आत्माका स्वामी है, न कोई सेवक है, न मेरा ग्राम है, न धाम है, न कोई वस्त्र है, न आभूषण है।

मेरा कोई सम्बन्ध किसी भी पर वस्तुसे रंचमात्र भी नहीं है। मेरेमें सब परका अभाव है, सब परमें मेरा अभाव है, विश्वकी अनन्त सांसारिक सिद्ध आत्माएं अपने मूल स्वभावमें मेरे स्वभावके बराबर हैं तथापि मेरी सत्ता निराली, उनकी सत्ता निराली। मेरे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र, चेतना आदि गुण निराले, मेरा परिणमन निराला। इन सर्व आत्माओंका परिणमन निराला। मैं अनादिकालसे एकाकी ही रहा व अनंतकाल तक एकाकी ही रहूंगा।

अनादि संसार–भ्रमणमें मेरे साथ अनन्त पुद्गलोंका संयोग हुआ परन्तु वे सब मुझसे दूर ही रहे, वे कर्म नोकर्म पुद्गल मेरे किसी भी गुण या स्वभावका सर्वथा अभाव नहीं करसके आवरण कर्मोंका होनेपर भी मैं उसी तरह निरावरण रहा। जैसे सूर्यके ऊपर मेघ आनेपर भी सूर्य अपने तेजमें प्रकाशमान रहता है। संसार अवस्थामें मैंने अनेकों माता पिता भाई पुत्र मित्रसे सम्बंध पाए, परंतु वे सब निराले ही रहें, मैं उनसे निराला ही रहा। चारों गतियोंमें बहुतसे शरीर धारे व बहुतसी पर पदार्थोंकी संगति पाई, परन्तु वे मेरे नहीं हुए, मैं उनका नहीं हुआ। अतएव मुझे यही पक्का श्रद्धान रखना चाहिये कि मैं सदा ही रागादि विकारोंसे शून्य रहा व अब भी हूं व आगामी भी रहूंगा।

मुझे सर्व मनके विकारोंको बंद करके व सर्व जगतके पदार्थोंसे विरक्त होकर अपने उपयोगको अपने ही भीतर सूक्ष्मतासे लेजाना चाहिये तब मुझे यही दिख जायगा कि मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूं, यही आत्मदर्शन, यही आत्मानुभव केवलज्ञानका प्रकाशक है।

परमात्मप्रकाशमें कहा है—

मुत्तिविहूणाउ णाणमउ, परमाणंद सहाउ ।
णियमे जोइय अप्पु मुणि सिच्चु णिरंजण भाउ ॥ १४३ ॥

भावार्थ—हे योगी ! निश्चयसे तू आत्माको अमूर्तीक, ज्ञानमय, परमानंद स्वभावधारी, नित्य, निरंजन पदार्थ जान ।

तत्वानुशासनमें कहा है—

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः ।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्त्तः ॥ १५३ ॥

भावार्थ—मैं अपनी सत्ताको रखनेवाला एक निराला द्रव्य हूं, स्वानुभव रूप हूं, ज्ञाता व दृष्टा हूं, सदा ही वीतराग हूं, अपने शरीरमें व्यापक हूं तौ भी शरीरसे भिन्न, आकाशके समान अमूर्तीक हूं।

आकाशके समान होकर भी मैं सचेतन हूं।

जेहउ सुद्ध अयासु जिय तेहउ अप्पा वुत्तु ।
आयासु वि जडु जाणि जिय अप्पा चेयणुवंतु ॥५९॥

अन्वयार्थ—(जिय) हे जीव! (जेहउ अयासु सुद्ध तेहउ अप्पा वुत्तु) जैसा आकाश शुद्ध है वैसा ही आत्मा कहा गया है (जिय आयासु वि जडु जाणि) हे जीव ! आकाशको जड़ अचेतन जान (अप्पा चेयणुवंतु) आत्माको सचेतन जान ।

भावार्थ—आकाश भी द्रव्य है, आत्मा भी द्रव्य है तथा पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल ये भी द्रव्य हैं, छहों ही द्रव्य, द्रव्यपनेकी अपेक्षा समान है। सब द्रव्योंमें छः सामान्य गुण पाये जाते हैं।

(१) अस्तित्व—सत्ताका होना। सब ही द्रव्य सदासे हैं व सदा बने रहेंगे।

(२) वस्तुत्व—कार्यकारी होना। सब ही द्रव्य अपने अपने कार्यको स्वतंत्र करते हैं।

(३) द्रव्यत्व—परिणमनशीलपना। सब ही द्रव्य अखण्ड रहते हुए भी अपनी २ पर्यायोंमें परिणमन करते है। स्व भाव या विभाव दशाएं उनसे होती रहती है।

(४) प्रमेयत्व—जाननेयोग्य होना हैं। सब ही द्रव्य सर्वज्ञोंके द्वारा जाननेयोग्य है।

(५) अगुरुलघुत्व—अपनी मर्यादामें रहना। सब ही द्रव्य अपने २ गुण पर्यायोंको ही अपनेमें रखते हैं, परद्रव्योंके गुण पर्यायोंको ग्रहण नहीं करते हैं।

(६) प्रदेशत्व—आकार रखना। सर्व द्रव्य आकाशमें रहते हैं व जगह घेरते हैं। कितने ही स्वभाव सब द्रव्योंमें सामान्यसे पाए जाते है। जैसे—

(१) अस्ति स्वभाव—अपने स्वभावको रखते हुए सब द्रव्य भावपनेको रखते हैं।

(२) नास्ति-स्वभाव—परद्रव्योंके स्वभावोंका परस्पर अभाव है। दूसरोंकी सत्ता दूसरोंमें नहीं है।

(३) नित्य स्वभाव—अपने २ द्रव्य-स्वभावको सदा ही रखते हैं। कभी द्रव्यका नाश नहीं होता है।

(४) अनित्य स्वभाव—अपनी २ पर्यायोंके वदलनेकी अपेक्षा सब द्रव्य क्षणिक व नाशवंत हैं ।

(५) एकस्थ भाव—सब द्रव्य अनेक गुण पर्यायोंमें एक अखण्ड आधाररूप हैं ।

(६) अनेक स्वभाव—सब द्रव्य अनेक स्वभावोंको रखनेसे अनेकरूप हैं ।

(७) भेद स्वभाव—गुणगुणीमें संज्ञा लक्षणादिके भेद रखनेसे भेद स्वभावी हैं ।

(८) अभेद स्वभाव—सर्व द्रव्योंको गुण स्वभाव द्रव्योंमें सर्वांग अखण्ड रहते हैं । एक एक ही प्रदेशमें सर्व गुण होते हैं इससे अभेद स्वभाववान है ।

(९) भव्य स्वभाव—सर्व ही द्रव्य अपने स्वभावके भीतर ही परिणमन करनेकी योग्यता रखते हैं ।

(१०) अभव्य स्वभाव—सर्व ही द्रव्य पर द्रव्यके स्वभावरूप कभी नहीं हो सक्ते ।

(११) परम स्वभाव—सर्व ही द्रव्य शुद्ध पारिणामिक भावके धारी हैं ।

उन सामान्य गुण व स्वभावोंकी अपेक्षा जीवादि छहों द्रव्य समान हैं । परन्तु विशेष गुणोंकी अपेक्षा उनमें अन्तर है । अमूर्तीक गुणकी अपेक्षा पुद्गलको छोड़कर पांच द्रव्य समान हैं । पुद्गलमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण ये विशेष असाधारण गुण हैं । धर्मद्रव्यमें जीव पुद्गलको गमनका कारण होना, अधर्म द्रव्यमें जीव पुद्गलकी स्थितिको कारण होना विशेष गुण है । आकाशमें सर्वको अवकाश देनेका विशेष गुण है ।

कालमें सर्वको वर्तानेका व परिणमनमें सहाई होनेका विशेष

गुण है। तब जीव द्रव्यमें–ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतना, सम्यक्त, चारित्र ये मुख्य विशेष गुण हैं जो आकाशादि पांच द्रव्योंमें नहीं पाए जाते हैं। वे सब आकाशादि पांच द्रव्य जड़ अचेतन हैं, आत्मा सचेतन द्रव्य है। मूल स्वभावसे सर्व ही द्रव्य शुद्ध हैं। आकाश जैसे निर्मल है वैसे यह आत्मा निर्मल है। ज्ञानीको उचित है कि वह अपने आत्माको परम शुद्ध निर्विकार परमानंदमय एकरूप अविनाशी जानकर उसीमें आचरण करे, स्वानुभव प्राप्त करे, यही निर्वाणका उपाय है। समयसारकलशमें कहा है—

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं।
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्॥
इह कथमपि नात्मा ऽनात्मना साकमेकः।
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम्॥ २२–१॥

भावार्थ—हे जगतके प्राणियो! अब तो अनादिकालसे आए हुए मोहभाव या अज्ञानको छोड़ो और आत्मरसिकोंको रसीले ऐसे प्रकाशमान शुद्ध ज्ञानका स्वाद लो। इस लोकमें कभी भी, किसी तरह भी आत्मा अनात्माके साथ मिलकर एकमेक नहीं होता है। सदा ही आत्मा अपने स्वभावसे परसे जुदा ही रहता है।

अपने भीतर ही मोक्षमार्ग है।

णासग्गि अब्भितरहँ जे जीवहिं असरीरु।
बाहुडि जम्मि ण संभवहिं पिवहिं ण जणणी-खीरु॥६०॥

अन्वयार्थ—(जे णासग्गिं अभिंतरहं असरीरु जीवहिं) जो ज्ञानी नासिकापर दृष्टि रखकर भीतर शरीरोंसे रहित शुद्ध

आत्माको देखते हैं (वाहुडि जम्मि ण संभवहिं) वे फिर वारवार जन्म नहीं पाएंगे (जणणीं खीरु ण पिवहिं) वे फिर माताका दूध नहीं पियेंगे।

भावार्थ—आत्मा शरीरोंसे रहित अमूर्तीक है। वह इंद्रियोंके द्वारा नहीं जाना जाता, मन भी केवल विचार करसक्ता है ग्रहण नहीं करसक्ता। आत्माका ग्रहण आत्मा ही के द्वारा होता है। इसके ग्रहणका वाहरी साधन ध्यानका अभ्यास है।

साधकको उचित है कि वह एकांत स्थानमें जावे जहां क्षोभ व आकुलता न हो, मानवोंके शब्द नहीं आते हों। उपवन, पर्वत, वन, जिनमंदिर, शून्य गृह, नदीतट आदि स्थानोंको चुनना चाहिये। ध्यानसिद्धिका समय अत्यन्त प्रातःकाल सूर्योदयके पूर्व है। फिर मध्याह्नकाल व सायंकाल है, व रात्रिका समय है। ध्यान करनेवाले निश्चिंत होकर बैठें, शरीर पर वस्त्र न हो या जितने कम संभव हों उतने वस्त्र होवें।

शरीरमें रोगादिकी पीड़ा न हो, वहुत भूख न हो, न मात्रासे अधिक भोजन किए हुए हो, शरीरको आसन रूपमें किसी चटाई, पाट, शिला या भूमि पर रक्खें, पद्मासन, अर्द्धपद्मासन या कायोत्सर्ग आसनसे स्थिर सीधा नाशाग्र दृष्टिमें तिष्टे, सर्व चिंताओंसे रहित होकर व सर्व इंद्रियोंसे बुद्धिपूर्वक देखना, सुनना आदि बंद करके केवल इस भावनाको लेकर बैठे कि मुझे भीतर विराजित आत्मा रूपी निरंजन देवका दर्शन करना है।

जगतके प्राणियोंसे वार्तालापको छोड़े, मनको चिंतवनमें लगावे। पहले तो व्यवहारनयमें अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, वोधिदुर्लभ व धर्म इन वारह भावनाओंका श्रद्धा व भावपूर्वक विचार कर जावे फिर सात तत्वोंका

स्वरूप विचार जावे। उनके विचारमें यह देखे कि जीव तो मैं स्वभावसे शुद्ध हूं परंतु अनादिकालसे कर्मबंध होनेके कारण अशुद्ध हूं। कर्म जड़ पुद्गलके सूक्ष्म स्कंधोंसे बने हैं।

उन कार्मण वर्गणाओंको मैं ही अपनी मन, वचन, कायकी क्रियासे घसीटता हूं व रागद्वेष मोहके वश बांधता हूं। यदि वीतरागी होकर आत्मतत्वकी भावना करूँ तो नवीन कर्मोंके आनेको रोकदूं व पुराने कर्मोंको समयके पहले तप द्वारा दूर करूं। इस तरह सर्व कर्मरहित होनेपर मैं मुक्त होसकता हूं। फिर व्यवहारनयसे देखना बंद करके निश्चयनयसे देखे कि मैं तो एक शुद्ध चेतन–स्वभावी आत्मा हूं, कर्मादि सब पर हैं। जगतके पदार्थोंको भी निश्चयरूपसे देखे कि यह जगत छः द्रव्योंसे पूर्ण है। वे सर्व ही द्रव्य भिन्न २ अपनी २ सत्तामें हैं, सर्व परमाणु निराले हैं, सर्व कालाणु निराले हैं, धर्म, अधर्म व आकाश द्रव्य निराले हैं, सर्व आत्माएं अलग अलग परम शुद्ध हैं, व्यवहारके नर नारक देव तिर्यंचके व एकेंद्रियादिके भेदोंको व अनेक मन वचन कायसे होनेवाली क्रियाओंको नहीं देखे। सर्व ही द्रव्योंको क्रिया रहित निश्चल स्वभावमें देखे, जिससे प्रीति व अप्रीतिका कारण मिट जावे व एक समभाव या वीतरागभावका प्रवाह वहने लगे।

वीतराग भावकी शांत रससे भरी गंगा नदी वह निकली फिर केवल एक अपने ही शुद्ध अशरीरी आत्माको शरीर प्रमाण विराजित भीतर सूक्ष्म भेद विज्ञानकी दृष्टिसे देखनेका उद्यम करे। एकाकी अपने आत्माके गुणोंका चिन्तवन करे। इसे ही आत्माकी भावना कहते हैं। भावना करते करते एकाएक मन जब थिर होगा, आत्माका अनुभव जग जायगा, आत्माका दर्शन होजायगा। यही आत्मीक अनुभूति ध्यानकी आग है, जो कर्म ईंधनको जलायेगी व आत्माको

शुद्ध कुन्दनके समान शुद्ध बनाएगी। यदि मोक्षके लाभके अनुकूल शरीरादि सामग्री होगी तो, यह साधक उसी भवसे नहीं तो, कुछ भवोंमें मुक्त हो जायगा, सिद्ध गतिको प्राप्त कर लेगा। फिर कभी जन्म न होगा, फिर कभी माताका दूध नहीं पिवेगा।

समाधिशतकमें कहा है—

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥ ७२ ॥
यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रियायोगं स शमं याति नेतरः ॥ ६७ ॥

भावार्थ—मानवोंसे बात करनेपर मनकी चञ्चलता होती है तब मनके भीतर भ्रमभाव होते हैं, इसलिये योगीको मानवोंकी संगति त्यागनी चाहिये, एकांतसेवी होना चाहिये। जिसकी दृष्टिमें यह चलता फिरता जगत हलनचलन रहित, बुद्धिके विकल्प रहित, कार्य रहित, केवल निज स्वभावसे थिर दीखता है वही समभावको पाता है।

निर्मोही होकर अपने अमूर्तीक आत्माको देखें।

असरीरु वि सुसरीरु मुणि इहु सरीरु जड्डु जाणि।
मिच्छा-मोहु परिच्चयहि मुत्ति णियं वि ण माणि ॥६१॥

अन्वयार्थ—(असरीरु वि सुसरीरु मुणि) अपने शरीर-रहित आत्माको ही उत्तम ज्ञानशरीरी समझे (इहु सरीरु जड्डु जाणि) इस पुद्गल रचित शरीरको जड़ व ज्ञान रहित जाने (मिच्छा मोहु परिच्चयहि) मिथ्या मोहका त्याग करे (मुत्ति णियं वि ण माणि) मूर्तीक इस शरीरको भी अपना नहीं माने।

भावार्थ—आत्मध्यानके साधकको उचित है कि वह अपनेको केवल जड़ शरीर रहित एक ज्ञान शरीरी शुद्ध आत्मा समझे। पुद्गलके परमाणुओंसे रचित शरीरको एक पिंजरा या कारागार समझे। तैजस, कार्मण व औदारिक तीनों शरीरोंसे रहित अपनेको सिद्ध भगवानके समान पुरुषाकार अमूर्तीक समझे। अपना सर्वस्व श्रेय अपने ही आत्मापर जोड़ देवें। सर्व परसे प्रेमको हटा लेवे।

जगतके पदार्थोंका मिथ्या मोह त्याग देवे। जो पर्यायें नाशवंत हैं उनसे मोह करना मिथ्या व संतापकारी है। इस जीवने अनादि संसारके भ्रमणमें अनंत पर्यायें धारण की हैं। जिस पर्यायमें गया वहां ही इसने शरीरसे, इंद्रियोंसे, इंद्रियोंके द्वारा जाननेयोग्य व भोगने योग्य पदार्थोंसे मोह किया। मरणके समय शरीरके साथ उन सबका वियोग होगया तब मानों उनका संयोग एक स्वप्नका देखना था व मोह करना वृथा या मिथ्या ही रहा।

सम्यग्दर्शन गुणके प्रकट होनेपर सर्व मिथ्यातका विकार मिट जाता है। जब तक सम्यक्त नहीं होता है यह देहका व देहके सुखका अभिनन्दन करता है, इन्द्रिय विषयभोगका ही लोलुपी होता है। तब पांचों इन्द्रियोंके विषयोंकी तीव्र लालसा रखता है। उनके मिलनेपर हर्ष, न मिलनेपर विषाद करता है, वियोग होनेपर शोक करता है। जैसे२ वे मिलते हैं अधिक तृष्णाकी दाहको बढ़ा लेता है। मिथ्यादृष्टीका मोह संसारके सुखोंका होता है वह भोग विलासको ही जीवनका ध्येय मानता है। मानव होनेपर स्त्री, पुत्र, पुत्री, आदि कुटुम्बके मोहमें इतना गृसित हो जाता है कि रात दिन उनके ही राजी रखनेका व अपने विषय पोषनेका उद्यम करता है, परलोककी चिंता भुला देता है।

आत्मा शरीरसे भिन्न है ऐसा विचार शांत मनसे नहीं कर

पाता है। वर्तमान जीवनकी ही चिंतामें उलझ जाता है। यदि कदाचित् दान, धर्म, तप, जप, करता भी है तो उनके फलसे वर्तमानमें यश, धनका व संतानका व इच्छित विषयका लाभ चाहता है। कदाचित् परलोकका विश्वास हुआ तो देवगतिके मनोज्ञ भोगोंकी तृष्णा रखता है। उसका सारा मन वचन व कायका वर्तन सांसारिक आत्माके मोहके ऊपर निर्भर रहता है।

जब योग्य निमित्तके मिलनेपर इस जीवको तत्वज्ञान होता है इसकी मिथ्यात्वकी ग्रंथि ढीली पड़ती है तब यह समझता है कि संसारकी दशा असार है, संसारका वास त्यागनेयोग्य है, बन्धन काटनेयोग्य है, आत्मा ही सच्चिदानन्दमय एक अपना निज देव अनुभवनेयोग्य है, ध्यान करनेयोग्य है।

अतीन्द्रिय सुख ही ग्रहण करनेयोग्य है, इंद्रिय सुख त्यागनेयोग्य है, परमाणु मात्र भी आत्माका नहीं है, ऐसा भेदविज्ञान प्रगट होता है तब वह उसीका वारवार मनन करता है। तब सम्यग्दर्शनके निरोधक मिथ्यात्व कर्म व अनन्तानुबन्धी चार कषायका उदय बन्द होता है। यह उपशम सम्यक्ती या उपशमसंवेदक सम्यक्ती हो जाता है। संसार अति निकट रहनेपर वेदकसे क्षायिक सम्यक्ती हो जाता है। सम्यक्तके उदय होते ही इसका सर्व मोह गल जाता है।

भीतरी प्रेम एक आत्मानन्दसे ही रह जाता है। यही सम्यक्ती जीव निश्चिन्त होकर जब चाहे तब सुगमतासे आत्माको भीतर सर्व शरीरोंसे भिन्न ज्ञानाकार देख सकता है। उसको अपनापन अपने ही आत्मापर रह जाता है, वह अन्य सर्व परद्रव्योंसे पूर्ण विरागी होजाता है। चारित्र मोहके उदयसे रोगीके समान कटुक दवाई पीनेके रूपमें लाचार हो, विषयभोग करता है, भावना उनके त्यागकी ही रहती है, दृष्टिमें ग्रहण योग्य एक निज स्वरूप ही रहता है।

सम्यग्दर्शनका धारी ही आत्माका दर्शन भीतर कर सकता है।

समयसारकलशमें कहा है—

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्पुष्फलोच्चलविकल्पवीचिभिः।

यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमयति तदस्मि चिन्महः ॥४६—३

भावार्थ—ज्ञानी यह जानता है कि मैं एक चैतन्यमात्र ज्योतिरूप पदार्थ हूं। जिस समय मेरे भीतर इस आत्मज्योतिका प्रकाश होता है अर्थात् मैं जड़ आत्माको शुद्ध स्वभावका अनुभव करता हूं तव नानाप्रकारके विकल्प जालोंका समूह जो इन्द्रजालके समान मनमें था यह सव दूर होजाता है। मैं निर्विकल्प स्थिर स्वरूपमें रमणकारी होजाता हूँ।

आत्मानुभवका फल केवलज्ञान व अविनाशी सुख है।

अप्पइँ अप्पु मुणंतयहँ किं णेहा फलु होइ।
केवल-णाणु वि परिणवइ सासय-सुक्खु लहेइ ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ—(अप्पइँ अप्पु मुणंतयहँ) आत्माको आत्माके द्वारा अनुभव करते हुए (किं णेहा फलु होइ) कौनसा फल है जो नहीं मिलता है, और तो क्या (केवलणाणु वि परिणवइ) केवलज्ञानका प्रकाश हो जाता है (सासय-सुक्खु लहेइ) तव अविनाशी सुखको पा लेता है।

भावार्थ—आत्माके द्वारा आत्माका अनुभव करना मोक्षमार्ग है। जो कोई इस आत्मानुभवका अभ्यास करना प्रारंभ करता है उसको महान फलकी प्राप्ति होती है। जवतक केवलज्ञान न हो तवतक यह आत्मध्यानी ध्यानके समय चार फल पाता है। आत्मीक सुखका

वेदन होता है। यह अतीन्द्रिय सुख उसी जातिका है जो सुख अरहंत सिद्ध परमात्माको है। दूसरा फल यह है कि अंतराय कर्मके क्षयोपशम बढ़नेसे आत्मवीर्य वढ़ता है, जिससे हरएक कर्मको करनेके लिये अंतरंगमें उत्साह व पुरुषार्थ बढ़ जाता है। तीसरा फल यह है कि पाप कर्मोंका अनुभाग कम करता है। पुण्य कर्मोंका अनुभाग बढ़ाता है। चौथा फल यह है कि आयु कर्मके सिवाय सर्व कर्मोंकी स्थिति कम करता है। यदि केवलज्ञान उपजाने लायक ध्यान नहीं होसका तो मरनेके पीछे मनुष्य देवगतिमें जाकर उत्तम देव होता है। यदि देव हुआ तो मरकर उत्तम मनुष्य होता है। यदि सम्यग्दर्शनका प्रकाश बना रहा हो वह फिर हरएक जन्ममें आत्मानुभव करके अपनी योग्यता बढ़ाता रहता है। शीघ्र ही किसी मानव जन्ममें परम वैरागी होकर परिग्रह-त्यागी होजाता है। साधुपदमें धर्मध्यानका आराधन करके क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर मोहनीय कर्मका क्षय करके फिर अंतर्मूहूर्त द्वितीय शुक्लध्यानके बलसे शेष तीन घातीय कर्मोंका भी क्षय करके अरहंत परमात्मा होजाता है। तब अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख व अनंत वीर्यसे विभूषित हो जाता है, अविनाशी ज्ञान व अविनाशी सुखको झलका देता है।

आयुकर्मके अन्तमें शेष चार कर्मोंका क्षय करके सिद्ध परमात्मा होजाता है। आत्मानुभवका अन्तिम फल निर्वाण है। जबतक निर्वाणका लाभ न हो तबतक साताकारी पदार्थोंका संयोग है। आत्मानुभवका प्रेमी कभी नर्क नहीं जाता है न पशुगति बांधता है। यदि सम्यग्दर्शनके पहले नर्कायु बांधी हो तो सम्यक्तके साथ पहले नर्कमें ही जाता है व तिर्यञ्चायु बांधी हो तो भोगभूमिमें ही पशु होता है। अनेक ऋद्धि चमत्कार आत्मध्यानीको सिद्ध होजाते हैं।

इसीके प्रतापसे श्रुतकेवली होता है। अवधिज्ञान व मनःपर्यय

ज्ञानको पाता है। सर्व उत्तम संयोगोंका फल देनेवाला आत्माका अनुभव है। आत्मानुभवीका उद्देश्य केवल शुद्धात्माका लाभ ही रहता है। परंतु पुण्यकर्मके वढ़नेसे ऋद्धि संपदाएं स्वयं प्राप्त होजाती हैं। जैसे आम्रफलके ही लिये माली आम्रका वृक्ष वोता है, फल लगनेके पहले वह माली वृक्षके पत्ते, डाली व पुष्पका अनुभव करता है। जैसे राजप्रसादकी ओर जानेवाला सुन्दर मार्गपर चलता है। दूर होनेपर यदि विश्रांति लेनी पड़ती है तो मनोहर उपवनोंमें ठहरता है, सीतल ठण्डा पानी पीता है, पौष्टिक फलोंको खाता है, सुखमें ही राजगृहमें पहुंचता है। वैसे ही मोक्षका अर्थी निर्वाण पहुंचनेके लिये आत्मानुभवकी सुखदाई सड़कपर चलता है। जवतक पहुंचे तवतक नर व देवके शरीरमें सुखपूर्वक विश्राम करता है। आत्मध्यानका अचिन्त्य फल है।

तत्वानुशासनमें कहा है—

ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण तुद्यन्मोहस्य योगिनः।
चरमांगस्य मुक्तिः स्यात्तदा अन्यस्य च क्रमात् ॥ २२४ ॥
तथा ह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा।
निर्जरासंवरश्च स्यात्सकलाशुभकर्मणां ॥ २२५ ॥
आस्रवन्ति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षणं।
यैर्महर्द्धिर्भवत्येष त्रिदशः कल्पवासिषु ॥ २२६ ॥
ततोऽवतीर्य मर्त्येपि चक्रवर्त्यादिसंपदः।
चिरं भुक्त्वा स्वयं मुक्त्वा दीक्षां दैगंबरीं श्रितः ॥२२८॥
वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्लध्यानं चतुर्विधं।
विधूयाष्टापि कर्म्माणि श्रयते मोक्षमक्षयं ॥ २२९ ॥

भावार्थ—ध्यानके अभ्यासकी उत्तमतासे चरम शरीरी योगीका

मोह टूट जाता है। यह उसी भवसे मोक्ष होजाता है। जो चरम शरीरी नहीं होता है वह क्रम २ से मोक्षको पाता है। जो योगी चरम शरीरी नहीं है उसके ध्यानके अभ्याससे सदा ही सर्व अशुभ कर्म प्रकृतियोंका संवर व उनकी निर्जरा होती जाती है। तथा प्रतिसमय महान् पुण्यकर्मका आस्रव होता है जिसके फलसे स्वर्गोंमें जाकर महान् ऋद्धिधारी देव होता है। यहांसे मध्यलोकमें आकर चक्रवर्ती आदिकी सम्पदाको वहुत काल भोगकर फिर स्वयं उनको त्यागकर दिगम्बर साधुकी दीक्षा लेता है। वज्रवृषभनाराच संहनन-धारी साधु चारप्रकार शुक्लध्यानके द्वारा आठों ही कर्मोंका नाश करके अक्षय अमर मोक्षको पालेता है।

परभावका त्याग संसार-त्यागका कारण है।

जे परभाव चएवि मुणि अप्पा अप्प मुणंति ।
केवल-णाण-सरूव लइ (लहि?) ते संसारु मुचंति ॥६३॥

अन्वयार्थ—(जे मुणि परभाव चएवि अप्पा अप्प मुणंति) जो मुनिराज परभावोंका त्यागकर आत्माके द्वारा आत्माका अनुभव करते हैं (ते केवल-णाण-सरूव लइ (लहि) संसारु मुचंति) वे केवलज्ञान सहित अपने स्वभावको झलकाकर संसारसे छूट जाते हैं।

भावार्थ—त्याग धर्मकी आवश्यकता वताई है। राग, द्वेष, मोह भाव वंधके कारण हैं। इनको त्यागकर वीतराग भावमें रमण करनेसे संवर व निर्जराका लाभ होता है। राग, द्वेष, मोहके उत्पन्न होनेमें अन्तरंगका राग मोहनीय कर्मका उदय है, वाहरी कारण मोह व रागद्वेषजनक चेतन व अचेतन पदार्थ हैं। वाहरी त्याग होनेपर अन्तरङ्ग त्याग हो जाता है, जैसे वाहरी धान्यका

छिलका दूर होनेपर अन्तरङ्गका पतला छिलका दूर होता है।

साधकको पहले तो मिथ्यात्व भावका त्याग करना चाहिये। इसके लिये बाहरी कारण रागीद्वेषी देवोंकी, परिग्रहधारी अन्य ज्ञान रहित साधुओंकी व एकांतनयमें कहनेवाले शास्त्रोंकी भक्तिको छोड़े, व तीव्र पापोंसे बचे। द्यूतरमण, मदिरापान, मांसाहार, चोरी, शिकार, वेश्या व परस्त्री सेवनकी रुचिको मनसे दूर करे, नियमपूर्वक त्याग न कर सकनेपर भी इनसे अरुचि पैदा करे, अन्याय सेवनसे ग्लानि करे तथा वीतराग सर्वज्ञ देव, निर्ग्रन्थ आत्मज्ञानी साधु, अनेकांतसे कहनेवाले शास्त्रोंकी भक्ति करे। सात तत्वको जानकर मनन करे तब अनन्तानुबन्धी कषायका व मिथ्यात्व भावका विकार भावोंसे दूर होगा।

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान व स्वरूपाचरण चारित्रका लाभ होगा। फिर भी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन कषाय व नोकषायके उदयसे होनेवाले रागद्वेष भावोंको मिटाता है। तब पहले श्रावकके बारह व्रतोंको पालकर रागद्वेष कम करता है। ग्यारह प्रतिमाओं या श्रेणियोंके द्वारा जैसे जैसे बाहरी त्याग करता जाता है, रागद्वेष अधिक २ कम होता जाता है। पूर्ण रागद्वेषके त्याग करनेके लिये साधुकी दीक्षा आवश्यक है, जहां वस्त्रादिका पूर्णपने त्याग होता है। साधु होते हुए खेत, मकान, धन, धान्य, चांदी, सोना, दासी, दास, कपड़े, वर्तन इन दश प्रकारके बाहरी परिग्रहको त्यागकर बालकके समान समदर्शी, काम विकारसे रहित निर्ग्रंथ होजाता है। अंतरंग चौदह प्रकारके भाव परिग्रहसे ममता त्यागता है।

मिथ्यात्वभाव, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद, इन १४ तरहके भावोंसे पूर्ण विरक्त होजाता है। शत्रुमित्रमें, तृण व सुवर्णमें व जीवन

मरणमें समभावका धारी होजाता है। एकांत वन उपवन पर्वतादिके निरंजन स्थानोंपर बैठकर आत्मध्यान करता है तब एक अपने ही शुद्ध आत्माको भावमें ग्रहण करता है व सर्व परभावोंसे उपयोगको हटाता है।

जितने भाव कर्मोंके निमित्तसे होते हैं व जो अनित्य हैं उन सबसे राग त्यागता है। औदयिक, क्षयोपशमिक व छूटनेवाले औपशमिक भावोंसे विरक्त होकर क्षायिक व परिणामिक जीवत्व भावको अपना स्वभाव मानकर एक शुद्ध आत्माकी वारवार भावना करता है। ऐसा मुनिराज रागद्वेषको पूर्ण जीत लेता है।

क्षपकश्रेणीपर चढ़कर अन्तर्मुहूर्तमें चार घातीय कर्मोंका क्षय करके केवलज्ञानी होजाता है। फिर चार अघातीय कर्मोंका भी नाश करके संसारसे मुक्त होजाता है। परभावोंके त्यागमें ही आपके निज भावका यथार्थ ग्रहण होता है तब शुद्ध आत्मानुभव प्रगट होता है। यही मोक्षमार्ग है व सदा ही आनंद अमृतका पान करानेवाला है।

समयसारकलशामें कहा है—

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः॥ ५॥
सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विबुधा भावाः पृथग्लक्षणा—
स्तेऽहं नाऽस्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि॥६—९॥

भावार्थ—चैतन्यमय एक भाव ही आत्माका निज भाव है। शेष सर्व रागादि भाव निश्चयसे पर पुद्गलोंके हैं। इसलिये एक चैतन्यमय भावको ही ग्रहण करना चाहिये। शेष सर्व परभावोंका त्याग

करना चाहिये। शुद्ध भावमें चलनेवाले मोक्षार्थी महात्माओंको इसी सिद्धांतका सेवन करना चाहिये कि मैं सदा ही एक शुद्ध चैतन्यमय परम जोति स्वरूप हूं। इसके सिवाय जो नाना प्रकारके भाव प्रगट होते हैं वे मेरे शुद्ध भावसे भिन्न लक्षणधारी हैं। उन रूप मैं नहीं हूं। वे सब मुझसे भिन्न परद्रव्य ही हैं।

त्यागी आत्मध्यानी महात्मा ही धन्य हैं।

धण्णा ते भयवंत बुह जे परभाव चयंति।
लोयालोय-पयासयरु अप्पा विमल मुणंति ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ—(जे परभाव चयंति) जो परभावोंका त्याग करते हैं और (लोयालोय पयासयरु अप्पा मुणंति) लोकालोक-प्रकाशक निर्मल अपने आत्माका अनुभव करते हैं (ते भयवंत बुह धण्णा) वे भगवान ज्ञानी महात्मा धन्य हैं।

भावार्थ—आत्माका स्वरूप निश्चयसे परम शुद्ध है। ज्ञान इसका मुख्य असाधारण लक्षण है। ज्ञानमें वह शक्ति है कि एक ही समयमें यह सर्वलोकके छः द्रव्योंको, उनकी पर्यायोंको लिये हुये तथा अलोकको एक ही साथ क्रम रहित जैसेका तैसा जान सके। इसी तरह आत्मामें वह सब गुण हैं जो सिद्ध भगवानमें प्रगट होजाते हैं।

स्वभावसे आत्मा सिद्धके समान है। तत्वज्ञानी महात्मा जिस पदके लाभका रुचिवान होता है उसी पदको ध्याता है। तब वह सर्व परपदार्थोंसे वैरागी हो जाता है। पुण्योदयसे प्राप्त होनेवाले नारायण, बलभद्र, प्रतिनारायण, चक्रवर्ती, कामदेव, इन्द्र, धरणेन्द्र, अहमिंद्र आदि पदोंको कर्मजनित नाशवंत व आत्माके शुद्ध स्वरूपसे

बाहर जानके उन सबकी ममता त्यागता है, इसीतरह जिन शुभ भावोंसे लौकिक उच्च पदोंकी प्राप्तिके योग्य पुण्यका बन्ध होता है, उनको भी नहीं चाहता है। धर्मानुराग, पांच परमेष्ठी भक्ति, अनुकम्पा, परोपकार, शास्त्रपठन आदि शुभ भावोंके भीतर वर्तता है क्योंकि शुद्धोपयोगमें अधिक ठहर नहीं सक्ता है। आत्मवीर्यकी कमी है तब अशुभ भावोंसे बचनेके लिये शुद्ध भावोंमें रहते हुये भी ज्ञानी उनसे विरक्त रहता है।

परमाणु मात्र भी रागभाव बंधका कारण है ऐसा यह जानता है। चौदह गुणस्थान आत्माकी उन्नतिकी श्रेणियाँ हैं तथापि शुद्धात्माके मूल, पर संयोग रहित, एकाकी स्वभावसे भिन्न है। इसलिये ज्ञानी इनको भी इसीतरह त्यागयोग्य समझता है। जैसे सीढ़ियोंपर चढ़नेवाला सीढ़ियोंको त्यागयोग्य समझके छोड़ता जाता है। एक शुद्धोपयोगको ग्रहण करनेका उत्सुक होकर धर्मप्रचारके विचारोंको भी त्यागता है। द्रव्यार्थिक नयसे आत्मा नित्य है, पर्यायार्थिक नयसे अनित्य है। अभेदनयसे एकरूप है, भेदरूप व्यवहारनयसे अनन्तरूप है।

आत्मा गुण पर्यायोंका समूह है,-लोक छः द्रव्योंका समुदाय है, कर्मोंके १४८ भेद हैं, कर्मोंका बंध चार प्रकारका होता है। प्रकृति प्रदेश बन्ध योगोंसे व स्थिति अनुभाग बन्ध कषायोंसे होता है। सात तत्व हैं, नव पदार्थ हैं, इत्यादि सर्व विकल्पोंको बन्धकारक जानकर त्याग देता है। निर्विकल्प समाधि व स्वानुभवके आलापके लिये यह एक अपने ही आत्माके भीतर आत्माके द्वारा अपने ही आत्माको विदा देता है।

इसतरह जो ज्ञानी व विरक्त पुरुष संसारकी सर्व प्रपंचावलीसे पूर्ण विरक्त होकर आत्मध्यान करते हैं व परमानन्दके अमृतका पान

करते हैं, वे ही बड़े विवेकी पंडित हैं, वे ही परम ऐश्वर्यवान हैं, रत्नत्रयकी अपूर्व सम्पदाके धनी हैं। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकतामें लवलीन हैं, वे ही भाग्यवान हैं, भगवान हैं, अतीन्द्रिय ज्ञान व सुखके स्वामी हैं, शीघ्र ही मोक्षलाभ करेंगे।

आत्मानुशासनमें कहा है—

येषां भूषणमङ्गसंगतरजः स्थानं शिलायास्तलम्
शय्या शर्करिला मही सुविहितं गेहं गुहा द्वीपिनाम्।
आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयस्त्रुट्यत्तमोग्रन्थय-
स्ते नो ज्ञानधना मनांसि पुनतां मुक्तिस्पृहा निस्पृहाः ॥२५९॥

भावार्थ—जिन महात्माओंका गहना शरीरमें लगी रज है, जिनको बैठनेका स्थान पाषाणकी शिला है, जिनकी शय्या कङ्करीली भूमि है, जिनका सुन्दर घर बाघोंकी गुफा है, जिन्होंने अपने भीतरसे सर्व विकल्प मिटा दिये हैं व जिन्होंने अज्ञानकी गांठोंको तोड़ डाला है, जिनके पास सम्यग्ज्ञान धन है, जो मुक्तिके प्रेमी हैं, अन्य सब इच्छाओंसे दूर हैं, ऐसे योगीगण हमारे मनको पवित्र करें।

गृहस्थ हो या मुनि, दोनोंके लिये आत्मरमण सिद्ध-सुखका उपाय है।

सागारु वि णागारु कु वि जो अप्पाणि वसेइ।
सो लहु पावइ सिद्धि-सुहु जिणवरु एम भणेइ ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थ—(सागारु वि णागारु कु वि) गृहस्थ हो या मुनि कोई भी हो (जो अप्पाणि वसेइ) जो अपने आत्माके भीतर वास करता है (सो सिद्धि-सुहु लहु पावइ) वह शीघ्र ही सिद्धिके

सुखको पाता है (जिणवरु एम भणेइ) जिनेन्द्रदेवने ऐसा कहा है।

भावार्थ–आत्मीक अतीन्द्रिय आनंदको सिद्धिसुख या सिद्धोंका सुख कहते हैं। जैसा शुद्धात्माका अनुभव सिद्ध भगवानोंको है वैसा ही शुद्धात्माका अनुभव जब होता है तब जैसा सुख सिद्धोंको वेदन होता है वैसा ही सुख शुद्धात्माके वेदन करनेवालोंको होता है।

आत्मीक आनंदका स्वाद जिस साधनसे हो वही मोक्षका उपाय है या आनंद सुखका साधन है। क्योंकि स्वानुभवमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनों ही गर्भित हैं। स्वानुभव ही निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है। इसीसे नवीन कर्मोंका संवर होता है व पुराने कर्मोंकी निर्जरा होती है। यही एक सीधी सड़क मोक्ष-महलकी तरफ गई है। इसके सिवाय कोई दूसरी सड़क नहीं है व बाहरी साधन मन, वचन, कायकी शक्तिको निराकुल करनेके लिये है। जितनी मनमें निराकुलता व निश्चिन्तता अधिक होगी उतना ही मन स्वानुभवमें बाधक नहीं होगा।

जगतके प्रपंचजाल मन, वचन, कायको अटकाते हैं, उलझाते हैं, इसलिये मोक्षमार्गमें बाहरी निकट साधन साधु या अनगारका चारित्र है व क्रमश बाहरी साधन सागारका-श्रावकका चारित्र है। श्रावकका चारित्र वतलाते हुये साधुके चारित्रपालनकी योग्यता होती है। विना साधुका चारित्र पाले कर्मका नाशक तीव्र स्वानुभव नहीं जागृत होता है। हरएकका व्यवहार चारित्र ग्यारह प्रतिमारूप है–क्रम क्रमसे चढ़ता जाता है। पहली २ प्रतिमाका दूसरी आदिमें बना रहता है आगे और बढ़ जाता है, उसका संक्षेप स्वरूप इस प्रकार है—

(१) दर्शन प्रतिमा—सम्यग्दर्शनको दोष रहित पाले, २५ दोषोंको बचावे, निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना आठ अंग पालकर इनके

प्रतिपक्षी आठ दोषोंसे बचे। जाति, कुल, धन, अधिकार, रूप, बल, विद्या, तप, आठ प्रकार मद न करे। देव, गुरु, लोकमूढ़ता त्यागे। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र व इनके तीन प्रकारके सेवक इन छः अनायतनोंका सेवन भक्तिपूर्वक न करे। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इन पांच व्रतोंके एकदेश साधनका अभ्यास करे। देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, तप, संयम, दान, इन छः कर्मोंका नित्यप्रति पालन करे।

(२) व्रत प्रतिमा—पांच अणुव्रतोंको दोष रहित पाले, दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्ड त्याग, इन तीन गुणव्रतोंको व सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण व अतिथि संविभाग इन चार शिक्षाव्रतोंको पालनेका अभ्यास करे।

(३) सामायिक प्रतिमा—तीन सन्ध्याओंमें सबेरे, दुपहर, शाम, समभावसे या शांतभावसे स्वानुभवका अभ्यास करे व रागद्वेष छोड़े।

(४) प्रोषध प्रतिमा—महीनेमें चार दिवस दो अष्टमी दो चौदस उपवास करे।

(५) सचित्तत्याग प्रतिमा—जीव सहित सचित्त भोजनपान नहीं करे।

(६) रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा—रात्रिको न आप भोजनपान करे न दूसरोंको करावे।

(७) ब्रह्मचर्य प्रतिमा—मन, वचन, कायसे ब्रह्मचर्य पाले। स्वस्त्रीसे भी विरक्त होजावे।

(८) आरम्भत्याग प्रतिमा—खेती व्यापारादि आरम्भ नहीं करे, आरम्भी हिंसा छोड़े।

(९) परिग्रहत्याग प्रतिमा—भूमि, मकान, धनादि परिग्रह

त्याग करके कुछ वस्त्र व पात्र रखले, घर छोड़कर बाहर एकांतमें रहे, संतोषसे दूसरेके यहां निमंत्रणसे भोजन करे, आप स्वयं नहीं बनावे।

(१०) अनुमति त्याग—लौकिक कामोंमें सम्मति देनेका त्याग करे, भोजनके समय निमंत्रणसे जावे।

(११) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा—अपने लिये किये गए भोजनको न लेवे, भिक्षासे भोजन करे। क्षुल्लक होकर एक लंगोट, एक खंड चादर रक्खे, पीछी, कमंडल रक्खे। ऐलक होकर केवल एक लंगोटी पीछी कमंडल रक्खे।

फिर साधु हो वस्त्र रहित होजावे, पांच महाव्रत अहिंसादि पूर्ण पाले व पांच समिति पाले। (१) ईर्या–देखकर चले, (२) भाषा–शुद्ध वाणी बोले, (३) रस त्याग–शुद्ध भोजन लेवे, (४) आदाननिक्षेपण–देखकर उठावे धरे, (५) व्युत्सर्ग–मल, मूत्र देखकर करे, मन वचन कायको वश रखकर तीन गुप्ति पाले। यह तेरा प्रकार साधुका व्यवहार चारित्र है। इस प्रकार श्रावक या साधुके व्यवहार चारित्रको पालते हुए स्वानुभवका अभ्यास बढावे तो वह धीरे २ आत्मानंदको पाता हुआ मोक्षकी तरफ बढ़ता चला जाता है। आत्मामें ही जो तिष्टते हैं वे ही सिद्ध सुखको सदा पाते हैं। पुरुषार्थसिद्धयुपायमें कहा है:—

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥ ३९ ॥
हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कार्त्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥ ४० ॥

भावार्थ—सर्व पापबन्धकी कारण मन, वचन, कायकी प्रवृ-

त्तिको त्यागना व्यवहारचारित्र है। सर्व कषायकी कालिमा रहित, निर्मल, उदासीन, आत्मानुभवरूप निश्चयचारित्र है। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पांच पापोंसे पूर्ण विरक्त होना साधुका व एकदेश विरक्त होना श्रावकका व्यवहारचारित्र है।

तत्वज्ञानी विरले होते हैं।

विरला जाणहिं तत्तु बुह विरला णिसुणहिं तत्तु।
विरला झायहिं तत्तु जिय विरला धारहिं तत्तु ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ—(विरला बुह तत्तु जाणहिं) विरले ही पंडित आत्मतत्वको जानते हैं (विरला तत्तु णिसुणहिं) विरले ही श्रोता तत्वको सुनते हैं (विरला जिय तत्तु झायहिं) विरले जीव ही तत्वको ध्याते हैं (विरला तत्तु धारहिं) विरले ही तत्वको धारण करके स्वानुभवी होते हैं।

भावार्थ—आत्मज्ञानका मिलना बड़ा कठिन है। थोड़े ही प्राणी इस अनुपम तत्वका लाभ कर पाते हैं। मनरहित पंचेन्द्रिय तकके प्राणी विचार करनेकी शक्ति विना आत्मा अनात्माका भेद नहीं जान सक्ते हैं। सैनी पंचेन्द्रियोंमें नारकी जीव रात दिन कषायके कार्यमें लगे रहते हैं। किनहीं प्राणियोंको आत्मज्ञान होता है। पशुओंमें भी आत्मज्ञानके पानेका साधन विरला है। देवोंमें विषयभोगोंकी अति तीव्रता है। वैराग्य भावकी दुर्लभता है। किनहीको आत्मज्ञान होता है। मानवोंके लिये साधन सुगम है तौ भी बहुत दुर्लभ है।

अनेक मानव रात दिन शरीरकी क्रियामें ऐसे तल्लीन रहते हैं कि उनको आत्माकी वात सुननेका अवसर ही नहीं मिलता है।

जिनको अवसर मिलता है वे भी व्यवहारमें इतने फंसे होते हैं कि व्यवहार धर्मके ग्रन्थोंको पढ़ते सुनते हैं; अनेक बड़े विद्वान पंडित होजाते हैं; न्याय, व्याकरण, काव्य, पुराण, वैद्यक, ज्योतिषकी व पाप पुण्य बंधक क्रियाओंकी विशेष चर्चा करते हैं। अध्यात्म ग्रन्थों-पर सूक्ष्म दृष्टि देकर नहीं पढ़ते हैं न विचारते हैं।

निश्चयनयसे अपना ही आत्मा आराध्य देव है ऐसा दृढ़ विश्वास नहीं कर पाते हैं। अनेक पंडित आत्मज्ञान बिना केवल विद्याके घमंडमें व क्रियाकांडके पोषणमें ही जन्म गंवा देते हैं—जिनके मिथ्यातका व अनंतानुबन्धी कषायोंका बल ढीला पड़ता है, उन ही विद्वानोंको तत्वरुचि होती है। अध्यात्मज्ञानके विद्वान बहुत थोड़े मिलते हैं। जबतक ऐसे उपदेशक न मिलें तबतक श्रोताओंको आत्मज्ञानका लाभ होना कठिन है।

यदि कहींपर आत्मज्ञानी पंडित होते भी हैं तो आत्माके हितकी गाढ़ रुचि रखनेवाले श्रोताओंकी कमी रहती है। जिनके भीतर संसारके मोहजालसे कुछ उदासी होती है वे ही आत्मीक तत्वकी बातोंको ध्यानसे सुनते हैं, सुनके धारण करते हैं, विचार करते हैं। जिनके भीतर गाढ़ रुचि होती है, वे ही निरन्तर आत्मीक तत्वका चिन्तवन करते हैं। आत्मध्यानी बहुत थोड़े हैं, इनमें भी निर्विकल्प समाधि पानेवाले, स्वानुभव करनेवाले दुर्लभ हैं।

आत्मज्ञान अमूल्य पदार्थ है, मानव जन्म पाकर इसके लाभका प्रयत्न करना जरूरी है। जिसने आत्मज्ञानकी रुचि पाई उसने ही निर्वाण जानेका मार्ग पालिया। यही सम्यग्दर्शन है। जब बुद्धि सूक्ष्म विचार करनेकी हो तब प्रमाद छोड़कर पहले व्यवहारनयसे जीवा-जीव तत्वोंके कहनेवाले शास्त्र पढ़ें। बंध व मोक्षके व्यवहार साध-नोंको जान लेवे फिर निश्चयनयकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रका मनन करके अपने आत्माको द्रव्यरूपसे शुद्ध जाने। भेद-

विज्ञानका मनन करे। जैसे पानीसे कीच भिन्न है वैसे मेरे आत्मासे आठ कर्म, रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्म भिन्न हैं।

वारवार अभ्यासके वलसे सम्यग्दर्शनका प्रकाश होगा। तब अनादिका अज्ञान अन्धकार मिटेगा, जन्म कृतार्थ होगा, निर्वाणका मार्ग हाथमें आगया, फिर क्या चाहिये। जन्म २ के संकटोंको मिटानेवाला यह आत्मज्ञान है। यद्यपि यह दुर्लभ है तथापि इसीके लिये पुरुपार्थ करना व इसे लाभ कर लेना ही मानवजन्मका सार है।

समयसारजीमें कहा है—

सुद परिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि कामभोयवंधकहा।

एयत्तस्सुवलम्भो, णवरि ण सुलभो विभत्तस्स ॥ ४ ॥

भावार्थ—सर्व संसारी प्राणियोंको काम भोग संवन्धी कथा वहुत सुगम है क्योंकि अनंतवार सुनी है, अनंतवार उनकी पहचान की है, अनंतवार विपयोंका अनुभव किया है। दुर्लभ है तो एक पर-भाव रहित व अपने एकस्वरूपमें तन्मय ऐसे शुद्धात्माकी वात है। इसीका लाभ होना कठिन है। सारसमुच्चयमें कहा है—

ज्ञानं नाम महारत्नं यन्न प्राप्तं कदाचन।

संसारे भ्रमता भीमे नानादुःखविधायिनि ॥ १३ ॥

अधुना तत्त्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनसंयुतम्।

प्रमादं मा पुनः कार्षीर्विषयास्वादलालसः ॥ १४ ॥

भावार्थ—इस भयानक व नानाप्रकारके दुःखोंसे भरे हुए संसारमें रुलते हुए जीवने आत्मज्ञान रूपी महान् रत्नको कहीं नहीं पाया। अव तूने इस उत्तम सम्यग्दर्शनको पालिया है तव प्रमाद न करं, विपयोंके स्वादमें लोभी होकर इस अपूर्व तत्वको खो न बैठे। सम्हालकर रक्षाकर सुखी वने।

कुटुम्ब मोह त्यागनेयोग्य है।

इहु परियण ण हु महुतणउ इहु सुहु-दुक्खहँ हेउ।
इम चिंततहँ किं करइ लहु संसारहँ छेउ ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ—(इहु परियण महुतणउ ण हु) यह कुटुम्ब परिवार मेरा निश्चयसे नहीं है (इहु सुहु-दुक्खहँ हेउ) यह मात्र सुखदुःखका ही कारण है (इम किं चिंततहँ) इसप्रकार कुछ विचार करनेसे (संसारहँ छेउ लहु करइ) संसारका छेद शीघ्र ही कर दिया जाता है।

भावार्थ—यह प्राणी इन्द्रिय सुखका लोलुपी होता है। अपने सुखकी प्राप्तिमें सहकारी प्राणियोंसे मोह कर लेता है। बाल्यावस्थामें मातापिता द्वारा पालापोषा जाता है व लाड़प्यारमें रक्खा जाता है, उससे उनका तीव्र मोही हो जाता है। युवावयमें स्त्रीसे व पुत्रपुत्रीसे इन्द्रियसुख पाता है, इसलिये उनका मोही हो जाता है। जिन मित्रोंसे व नौकर चाकरोंसे इन्द्रिय सुखभोगमें मदद मिलती है उनका मोही हो जाता है। व जिनसे इन्द्रिय सुखमें बाधा पहुंचती है उनका शत्रु बन जाता है।

कुटुम्बके मोहमें ऐसा उलझ जाता है कि उसको आत्माके स्वरूपके विचारके लिये अवकाश ही नहीं मिलता है। रातदिन उन परिवारजनोंके लिये धन कमानेमें व धनकी रक्षा करनेमें ही लगा रहता है। यदि कोई कुटुम्बी अपनी आयुकर्मके क्षयसे मर जाता है तो यह मोही प्राणी उनके शोकमें बावला हो जाता है। वह इस बातको भूल जाता है कि परिवारका सम्बंध वृक्षपर रात बसेरेके समान है। जैसे संध्याके समय एक वृक्षपर अनेक पक्षी भिन्न २ स्थानोंसे आकर जमा हो जाते हैं, सबेरा होनेपर सर्व पक्षी अलग २ अपने २

स्थानोंको चले जाते हैं, वैसे ही एक परिवारमें नाना जीव कोई नरकसे, कोई पशुगतिसे, कोई देवगतिसे, कोई मनुष्यगतिसे आकर जमा हो जाते हैं।

सब अपनी २ आयुपर्यंत रहते हैं। आयुके क्षय होते ही अपने बांधे हुए पाप पुण्यकर्मके अनुसार कोई देवगतिमें, कोई मनुष्यगतिमें, कोई तिर्यचगतिमें, कोई नरकगतिमें चले जाते हैं, किसीका कोई सम्बंध नहीं रहता है। सब प्राणी अपने सुखके स्वार्थमें दूसरोंसे मोह करते हैं। स्वार्थ न सधने पर नेह छोड़ देता है, पुत्र विरुद्ध हो जाते हैं, वृद्धावस्थामें स्वार्थ नधता न देखकर कुटुम्बीजन वृद्धकी अवज्ञा करते हैं। कुटुम्बसे यदि इंद्रियोंके विषय सधते हैं तब तो वे सुखके कारण भासते हैं। जब उनसे विषयभोगमें हानि पड़ती है तब ही दुःखके कारण हो जाते हैं।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीवको जलमें कमलके समान गृहस्थको रहना चाहिये, मोह न करना चाहिये। उनको अपने जीवसे पृथक् मानकर उन जीवोंका उपकार बने सो करना चाहिये। उनकी रक्षा, शिक्षा व सुखसे जीवननिर्वाहमें सहाई होना चाहिये। उनको आत्मज्ञानके मार्ग पर लगाना चाहिये। यदि वे अपना काम न करें, व कम करे तो मनमें विषाद न करना चाहिये। बदलेमें सुख पानेके लोभसे उनका हित न करना चाहिये। उनके हितके पीछे अन्यायसे धन न कमाना चाहिये, न अपने आत्मकल्याणको भुलाना चाहिये। जो कुटुम्बपरिवारका मोह छोड़ देते हैं वे सहज वैराग्यवान होजाते हैं।

अथवा आत्महित करते हुए जबतक गृहस्थमें रहते हैं उनकी सेवा निष्पाप भावसे करते हैं। जब अप्रत्याख्यान कषायका उदय अतिशय मंद रह जाता है तब कुटुंबत्यागी श्रावक होजाते हैं, परसे मोह नहीं करते हैं, केवल एक निज आत्माकी ही गाढ़ भक्ति करने-

वाले भव्य जीव शीघ्र ही भवसागरसे पार होजाते हैं।

बृहत् सामायिकपाठमें कहा है—

कांतासद्मशरीरजप्रभृतयो ये सर्वथाऽप्यात्मनो।

भिन्नाः कर्मभवाः समीरणचला भायावहिर्भाविनः॥

तैः संपत्तिमिहात्मनो गतधियो जानन्ति ये शर्म्मदां।

स्वं संकल्पवसेन ते विद्धते नाकीशलक्ष्मीः स्फुटं॥ ८५॥

भावार्थ—यह स्त्री, धन, पुत्रादि सर्वथा ही अपनी आत्मासे भिन्न हैं, वाहरी रहनेवाले हैं, कर्मके उदयसे प्राप्त हैं, युवकके समान उनका संयोग चंचल है। जो मूढ़ बुद्धि इनके संयोगसे सुखदाई संपत्ति होना समझते हैं वे ऐसे ही मूर्ख हैं जो अपने मनके संकल्पसे ही स्वर्गकी लक्ष्मीको प्राप्त करलें।

संसारमें कोई अपना नहीं है।

इंद-फणिंद-णरिंदय वि जीवहं सरणु ण होंति।

असरणु जाणिवि मुणि-धवला अप्पा अप्प मुणंति॥६८॥

अन्वयार्थ—(इंद-फणिंद-णरिंदय वि जीवहं सरणु ण होंति) इन्द्र, धरणेन्द्र, व चक्रवर्ती कोई भी संसारी प्राणियोंके रक्षक नहीं हो सकते (मुणि-धवला असरणु जाणिवि) उत्तम-मुनि अपनेको अशरण जानकर (अप्पा अप्प मुणंति) अपने आत्मा द्वारा आत्माका अनुभव करते हैं।

भावार्थ—संसारी प्राणी कर्मोंके उदयको भोगते हैं तव कोई उस उदयको मिटा नहीं सकता। जब आयु कर्म क्षय होता है मरण होजाता है, किसी इन्द्र, धरणेन्द्र व नरेंद्रमें, मंत्रज्ञातामें, विद्वानमें, तपस्वीमें, परममित्रमें, माता–पितामें, पुत्र–पुत्रीमें, वैद्य व

ज्योतिषोंमें शक्ति नहीं है कि मरणसे एक क्षण भी रोक सके। स्वयं सर्व प्रकार भोगोंको भोगनेवाले चक्रवर्तीको भी शरीर त्यागना पड़ता है। इन्द्र व देवको भी देवगतिके भोग त्यागकर मध्यलोकमें जन्म लेना पड़ता है। इसीतरह जब पाप कर्मोंका तीव्र उदय आजाता है तब रोग, शोक हरएकको सहना पड़ता है तब भी कोई दुःखको बटा नहीं सकता है। प्राणीको अकेले ही भोगना पड़ता है, माताको पुत्रपर बहुत प्रेम होता है व पुत्रके रोगी होनेपर वह मोहसे दुःख मानती है परंतु ऐसी शक्ति मातामें नहीं है जो पुत्रके रोगकी वेदनाको पुत्रको न भोगने दे, आप भोग लेवे।

कोई किसीके दुःख या सुखको या साता असाता वेदनीय कर्मको नहीं ले सक्ता। कर्मोंके फल भोगनेमें सब जीवोंको स्वयं ही वर्तना पड़ता है, कोई भी रक्षा नहीं कर सक्ता। जो कर्म अभी सत्तामें हैं उदयमें नहीं आए हैं उन कर्मोंको स्थिति व अनुभाग घटाकर क्षय किया जा सक्ता है या पापकर्मोंको निर्बल व पुण्यकर्मको सबल किया जा सक्ता है। उसमें कारण उसी जीवके परिणाम हैं। जो कोई अपने शुद्धात्माकी भावना भावे व अरहन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधुकी भक्ति करें या कृतपापका प्रतिक्रमण करें, गुरुके पास आलोचना करें तो निर्मल भावोंसे कर्मोंकी अवस्थाको बदला जा सक्ता है, उनका क्षय किया जा सक्ता है।

इसलिये यह जीव आप ही अपना रक्षक है। दूसरा जीव दूसरे जीवका रक्षक नहीं है ऐसा जानकर ज्ञानी मुनिराज अपने शुद्धात्माका ही अनुभव करते हैं। जब आत्मध्यानमें उपयोग नहीं लगता है तब स्वाध्याय, भक्ति, मननमें व परोपदेशमें व वैयावृत्यमें व तत्वचर्चामें उपयोगको जोड़ते हैं।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानीको अशरण भावनाका विचार करके कर्मोंके

क्षयका उपाय करना योग्य है जिससे कर्मोंके उदयकालमें दुःख व खेद व आकुलता न सहनी पड़े। जन्म, जरा, मरणके सङ्कटोंमें न पड़ना पड़े। कर्मोंका संयोग एक क्षणके लिये भी आत्माके लिये गुणकारी नहीं है। ज्ञानी जीव इसलिये इस संसारके साथ मोह लगा देते हैं। सर्व जीवोंकी सत्ता भिन्न२ मानकर उनसे रागद्वेष नहीं करते हैं। समभावसे जगतके चारित्रको देखकर पूर्ण वैराग्यवान होकर आत्महितमें प्रवर्तते हैं। कर्मके क्षय पर कटिबद्ध होजाते हैं। आत्मध्यानकी अग्नि जलाकर कर्मका होम करते हैं। जब यह आत्मा शुद्ध व कर्मरहित होजायगा तब वह स्वाधीन होजायगा। फिर कभी कर्मोंके उदयकी पराधीनतामें नहीं रहना पड़ेगा। कर्मभूमिके मानवको आयुक्षयका नियम नहीं है, अकाल मरण होसक्ता है, ऐसा जानकर शीघ्रसे शीघ्र आत्महितमें लग जाना चाहिये। आपसे ही अपने आत्माकी शरणको परम शरण जानना चाहिये।

समयसारमें कहा है—

जो अप्पणादु मण्णदि दुःहिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तोदु विवरीदो॥ २६५॥

भावार्थ—जो कोई ऐसा अहंकार करे कि मैं परजीवोंको दुःखी व सुखी कर सक्ता हूं, वह मूर्ख व अज्ञानी है। क्योंकि सर्व जीव अपने २ पाप पुण्य कर्मके उदयसे दुःखी या सुखी होते हैं। ज्ञानी जीव इस अहंकारसे दूर रहते हैं।

बृहत सामायिक पाठमें कहा है—

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न शक्रा न कांता न माता न भृत्या न भूपाः।
यमालिंगितं रक्षितुं संति शक्ता विचिंत्येति कार्यं निजं कार्यमार्यैः॥२३॥

भावार्थ—जब मरण आ जाता है तो न वैद्य, न पुत्र, न ब्राह्मण, न इन्द्र, न अपनी स्त्री, न माता, न नौकर, न राजा कोई भी बचा नहीं सकते हैं। ऐसा विचार करके सज्जनोंको आत्मीक काम कर लेना योग्य है, देर न लगानी चाहिये।

जीव सदा अकेला है।

इक्क उपज्जइ मरइ कु वि दुहु सुहु भुंजइ इक्कु।
णरयहँ जाइ वि इक्क जिउ तह णिव्वाणहँ इक्कु॥ ६९॥

अन्वयार्थ—(इक्क उपज्जइ मरइ कु वि) जीव अकेला ही जन्मता है व अकेला ही मरता है (इक्कु दुहु सुहु भुंजइ) अकेला ही दुःख या सुख भोगता है (इक्क जिय णरयहं जाइ वि) अकेला ही जीव नरकमें भी जाता है (तह इक्कु णिव्वाणहं) तथा अकेला जीव फिर निर्वाणको प्राप्त होता है।

भावार्थ—यहां एकत्व भावनाका विचार किया गया है। व्यवहार नयसे यह संसारी जीव शरीर सहित अशुद्ध दशामें चारों गतियोंमें कर्मोदयके अनुसार भ्रमण किया करता है। इस भ्रमणसे इस जीवको अकेला ही जन्मना व अकेला ही मरना पड़ता है। हरएक जन्ममें माता पिता भाई बंधु वगैरह मित्र व अन्य चेतन व अचेतन पदार्थोंका संयोग होता रहा, छुटता रहा। इस जीवको अकेला ही सबको छोड़कर दूसरी गतिमें जाना पड़ा। एक पाप पुण्य कर्म ही साथ रहा।

कर्मोंका बंध यह जीव अपने शुभ व अशुभ भावोंसे जैसा करता है वैसा ही उनका फल यह जीव अकेला ही भोगता है। यदि कोई मोही मानव कुटुम्बके मोहमें परको घोर कष्ट देकर

धन कमाता है, महान् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशीलादि पाप करता है उन कर्मोंको करते हुए यदि नरकायुका बंध पड़ता है तो इस जीवको अकेला ही नरकमें जाकर दुःख सहना पड़ता है, कोई कुटुम्बीजन साथ नहीं आसक्ता है। इसी तरह यदि कोई शुभ काम करता है व पुण्य बांधकर स्वर्ग जाता है तो अकेला ही वहाँका सुख भोगना पड़ता है। वह अपने साथ किसी मित्र या स्त्री या पुत्रको ले जा नहीं सकता है। हरएक जीवकी सत्ता निराली है।

कर्मोंका बंध निराला है, भावोंका पलटना निराला है, साता व असाताका भोगना निराला है। चार भाई एकसी स्थितिमें नहीं पाए जाते हैं। एक धनवान होकर सांसारिक सुख भोगता है, एक निर्धन होकर कष्टसे जीवन निर्वाह करता है, एक विद्वान होकर देश-मान्य होजाता है, एक मूर्ख रहकर निरादर पाता है। जब रोग आता है तब इस जीवको उसकी वेदना स्वयं ही सहनी पड़ती है, पासमें बैठनेवाले कोई भी उस वेदनाको नहीं भोग सकते हैं।

संसारके कार्योंमें भी इस जीवको अकेला ही वर्तना पड़ता है। सब ही संसारी जीव अपने २ स्वार्थके साथी हैं। स्वार्थ न सधनेपर स्त्री, पुत्र, मित्र, चाकर सब प्रीति त्याग देते हैं। इसलिये ज्ञानी जीवको समझना चाहिये कि मैं ही अपनी मन, वचन, कायकी क्रियाका फल आप अकेला ही भोगूंगा। अतएव दूसरोंके असत्य मोहमें पड़कर पापकार्यको न करना चाहिये। विवेकपूर्वक आत्महित जिसमें सधे उस तरह वर्तना चाहिये। नौकामें पथिकोंके समान सर्व संयोगको छूटनेवाला अथिर मानना चाहिये। उनमें राग, द्वेष, मोह न करके समभावमें वर्तना चाहिये। भीतरसे निर्मोही रहकर उनका उपकार करना चाहिये, परंतु अपनेको जलमें कमलके समान अलिप्त रखना चाहिये।

यह जीव जैसे आप अकेला संसारकी चार गतियोंमें भ्रमता है वैसे ही यदि यह रत्नत्रय धर्मका सम्यक् प्रकार आराधन करे तो आप ही अकेला निर्वाण चला जाता है। उसके साथी यदि उसके समान सम्यक्चारित्र नहीं पालते हैं तो वे निर्वाण नहीं जा सक्ते।

निश्चयनयसे भी यह जीव बिलकुल अकेला है। हरएक जीवका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव दूसरे जीवसे निराला है। हरएक जीव परम शुद्ध है। न आठों कर्मोंका संयोग है, न शरीरका संयोग है, न विभाव भावोंका संयोग है। पुद्गलादि पांच अचेतन द्रव्योंसे बिलकुल भिन्न हैं। सिद्धके समान शुद्ध निरञ्जन व निर्विकार है, इसतरह अपनेको अकेला जानकर अपने स्वभावमें मगन रहना चाहिये।

बृहत् सामायिक पाठमें कहा है—

गौरो रूपधरो दृढः परिदृढः स्थूलः कृशः कर्कशो
गीर्वाणो मनुजः पशुर्नरकभूः पंढः पुमानंगना।
मिथ्या त्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढोऽविबुध्यात्मनो
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्व्वव्यपायच्युतं ॥ ७० ॥

भावार्थ—तू मूढ़ बनकर यह न मिथ्या कल्पना किया करता है कि मैं गोरा हूं, रूपवान हूं, मजबूत शरीर हूं, पतला हूं, कठोर हूं, देव हूं, मनुष्य हूं, पशु हूं, नारकी हूं, नपुंसक हूं, पुरुष हूं, स्त्री हूं। तू अपने आत्माको नहीं जानता है कि यह एक अकेला ज्ञानस्वभावी, निर्मल, सर्व दुःखोंसे रहित अविनाशी द्रव्य है।

निर्मोही हो आत्माका ध्यानकर।

एक्कुलउ जइ जाइसिहि तो परभाव चएहि।
अप्पा झायहि णाणमउ लहु सिव-सुक्ख लहेहि ॥७०॥

अन्वयार्थ—(जइ इक्कुलउ जाइसिहि) यदि तू अकेला ही जायगा (तो परभाव चयहि) तो राग द्वेष मोहादि परभावोंको त्याग दे। (णाणमउ अप्पा झायहि) ज्ञानमय आत्माका ध्यान कर (लहु सिव-सुक्खँ लहेहि) तो शीघ्र ही मोक्षका सुख पाएगा।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य! यदि तुझको यह निश्चय होगया है कि तू एक दिन मरेगा तब तुझे परलोकमें अकेला ही जाना पड़ेगा। कोई भी चेतन या अचेतन पदार्थ तेरे साथ नहीं जांयगे। जिनसे तू राग करता है वे सब यहां ही छूट जांयगे तब तेरा उनसे राग करना वृथा है। ऐसे क्षणभंगुर पदार्थोंमें राग करना शोकका व दुःखका कारण है।

इसलिये तू अब ऐसा कामकर जिससे तुझे थिरता प्राप्त हो। अविनाशी मोक्षका अनुपम सुख प्राप्त हो। संसारमें जन्म मरण करना नहीं पड़े। इष्ट वियोग अनिष्ट-संयोगके कष्ट सहना न पड़े। पराधीन होकर पापकर्मोंका फल न भुगतना पड़े, जिससे तू निरंतर सुखी रहे। कभी भी बाधा न पावे व पूर्ण स्वाधीन होजावे, परम कृतार्थ होजावे, तृष्णाकी ज्वाला शांत होजावे, कषायकी आग बुझ जावे। परम शांतिका प्रवाह निरन्तर बहने लगे, सर्व लोकालोकका ज्ञाता दृष्टा होजावे। निरन्तर आत्माके ही उपवनमें रमण करे, कभी भी खेद न प्राप्त करे। तुझे योग्य है कि मरनेके पहले ही यत्न करले। मानवदेहमें ही शिवपद मिल सक्ता है। देव, नारकी, पशु देहसे कभी भी नहीं प्राप्त होसक्ता है।

इस अवसरको खोना उचित नहीं है। वह उपाय यही है कि जो जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपना नहीं है उसे पर समझकर उन सबसे राग उठाले। केवल अपने ही ज्ञान स्वरूपी आत्माके द्रव्य क्षेत्र काल भावको अपना जानकर उसमें ही परम रूचिवान होजा,

उसीका प्रेमी होगा, उसीमें मगन रहनेका, उसीके ध्यानके अभ्यासका। आत्मीक रसके पानका उद्यम कर। जगतमें अनंतानंत आत्माओंका, अनंतानंत पुद्गलोंका, असंख्यात कालाणुओंका, एक धर्मद्रव्यका, एक अधर्मद्रव्यका, एक आकाशद्रव्यका-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भेद आत्माके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे निराला है।

मेरे आत्माका अखण्ड अभेद एक द्रव्य है, असंख्यात प्रदेश क्षेत्र है, समय परिणमन काल है, ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि शुद्ध भाव है, यही मेरा सर्वस्व है। कर्म संयोगसे होनेवाले राग द्वेष मोह भाव, संकल्प विकल्प, विभाव मतिज्ञानादि चार ज्ञान आदि सब पर हैं। जिन २ भावोंमें पुद्गलका निमित्त है वे सब भाव मेरे निज स्वाभाविक भाव नहीं हैं, मैं तो एकाकार परम शुद्ध स्वसंवेदनगोचर एक अविनाशी द्रव्य हूं।

भव्य पुरुष परम वैराग्यवान होकर, परमाणु मात्रको अपना न जानकर संसारके क्षणिक सुखको आकुलताका कारण दुःख समझकर एक अपने ही आत्माके ध्यानमें मगन होगा। आत्मानुभव ही एक अमोघ उपाय है जिससे ही अनंत आत्माएं शिव-सुखको पाचुके हैं, तू भी इसी उपायसे शिव-सुख पावेगा। समयसारमें कहा है—

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥ ४७-१० ॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकतारूप ही एक निश्चित मोक्षमार्ग है। जो कोई अन्य द्रव्योंका स्पर्श न करके एक इस ही आत्मामयी भावमें ठहरता है, उसीको निरन्तर ध्याता है, उसीको चेतता है, उसीमें निरन्तर विहार करता है, वह अवश्य शीघ्र ही

नित्य उदयरूप समयसार या शुद्धात्माका लाभ करके उसीका निरन्तर अनुभव करता रहता है, परम आनंदी होजाता है ।

पुण्यको पाप जाने वही ज्ञानी है ।

जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु इ को वि मुणेइ ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ ॥७१॥

अन्वयार्थ—(जो पाउ वि सो पाउ मुणि) जो पाप है उसको पाप जानकर (सव्वु इ को वि मुणेइ) सव कोई उसे पाप ही जानता है (जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ) जो कोई पुण्यको भी पाप कहता है (सो बुह को वि हवेइ) वह बुद्धिवान कोई विरला ही है ।

भावार्थ—जगतके सर्व ही प्राणी सांसारिक दुःखोंसे डरते हैं तथा इन्द्रिय सुखको चाहते हैं। साधारणतः यह बात प्रसिद्ध है कि पापसे दुःख होता है व पुण्यसे सुख होता है। जब धर्मकी चर्चा होती है तब यही विचार किया जाता है कि पापकर्म न करो, पुण्य-कर्म करो। पुण्यसे उच्च कर्म मिलते हैं, धनका, पुत्रका, बहु कुटुम्बका, राज्यका व अनेक विषयभोगोंकी सामग्रीका लाभ एक पुण्यहीसे होता है। इन्द्रपद, अहमिन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, नारायण व प्रतिनारायण-पद, कामदेव, तीर्थंकरपद आदि महान महान पद पुण्यसे ही मिलते हैं। यहां आचार्य कहते हैं कि जो संसारके भोगोंके लोभसे पुण्यको ग्रहणयोग्य मानते हैं वे मिथ्यादृष्टी अज्ञानी हैं। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी पापके समान पुण्यको भी बन्धन जानते हैं, वे पुण्यको भी पाप कहते हैं जिससे संसारमें रहना पड़े, विषयभोगोंमें फँसना पड़े, यह स्वाधीनता-घातक पुण्य भी पाप ही है। ज्ञानीको तो एक आत्मीक आनन्द ही

प्यारा है। उसका पूर्ण लाभ व अनंतकालके लिये निरन्तर लाभ तब ही होता है जब यह जीव संसारसे मुक्त होकर सिद्ध परमात्मा होजावे, पुण्य पापसे रहित होजावे। इसलिये ज्ञानी जीव पुण्य पाप दोषोंको बंधनकी अपेक्षा समान जानते हैं।

दोनोंके बन्धका कारण कषायकी मलीनता है, मन्द कषायसे पुण्य व तीव्र कषायसे पाप बन्धता है, कषाय आत्माके चारित्र गुणके घातक हैं। दोनोंका स्वभाव पुद्गल है। सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र, पुण्य कर्म व असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र तथा चार घातीय कर्म पापकर्म हैं। दोनोंकी कर्मवर्गणाएँ हैं, आत्माके चेतन स्वभावसे भिन्न हैं।

पुण्यका अनुभव सुखरूप है, पापका अनुभव दुःखरूप है। ये दोनों ही अनुभव आत्माके स्वाभाविक अनुभवसे विरुद्ध है व शुद्धात्मामें रमणके घातक हैं। दोनों ही अनुभव कषायकी कलुषताके स्वाद हैं। पुण्य व पाप दोनों ही पुनः बंधके कारण हैं। दोनोंमें तन्मय होनेसे कर्मका बन्ध होता है। यह बंध मोक्षमार्गमें विरोधी है, ऐसा जानकर ज्ञानी जीव पापके समान पुण्यको भी भला व ग्रहण योग्य नहीं मानते हैं, वे शुभ भावोंसे व अशुभ भावोंसे दोनोंसे विरक्त रहते हैं। कर्म क्षयकारक व आत्मानन्ददायक एक २ शुद्धापयोगको ही मान्य करते हैं।

सम्यग्दृष्टी अविरती होनेपर भी व गृहस्थमें धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ साधनमें अनुरक्त रहनेपर भी सब ही शुभ अशुभ कार्योंको चारित्रमोहनीयके उदयके आधीन होकर करता है, परंतु इस सर्व कामको अपना आत्मीक हित नहीं मानता है। वह तो यही मानता है कि निरंतर आत्मीक बागमें रमण करूं, वीतरागताकांहीका सेवन करू, सिद्धोंसे ही प्रेम करूं।

कषायके उदयको आत्म वीर्यकी कमीसे सहन नहीं कर सक्ता है इसलिये सर्व ही गृहस्थ योग्य काम करता है परन्तु उनमें आसक्त व मगन नहीं होता है। पूजापाठ, परोपकार, दानादि कार्यको करके वह पुण्यका बन्ध व सांसारिक इंद्रिय सुख नहीं चाहता है, वह तो कर्म रहित दशाका ही उत्साही व उद्यमी रहता है। यद्यपि शुभ भावोंका फल पुण्यका बंध है तथापि ज्ञानी उसको भी पापके समान बंध ही जानता है। ज्ञानी निर्वाणका पथिक है वह मात्र निश्चय रत्नत्रय स्वभावमई धर्मको या स्वानुभवको ही उपादेय या ग्रहण योग्य मानता है। पुण्यको भी पापके समान ही वह जानकर छुड़ाना चाहता है। **समयसारकलशमें** कहा है—

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना।
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा॥
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव-
न्नैःकर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति॥ १०–४॥

भावार्थ—मोक्षके अर्थीको सर्व ही कर्म त्यागना चाहिये। सर्व ही कर्मका त्याग आवश्यक है, तब वहां पुण्य पापकी क्या कथा है। ऐसे ज्ञानीके भीतर सम्यग्दर्शन आदि अपने स्वभावको लिये हुए व कर्मरहित भावमें तन्मयरूप, शांतरससे पूर्ण मोक्षका कारण ऐसा आत्मज्ञान स्वयं विराजता है।

पुण्यकर्म सोनेकी बेडी है।

जह लोहम्मिय णियड बुह तह सुण्णम्मिय जाणि।
जे सुह असुह परिच्चयहि ते वि हवंति हु णाणि॥७२॥

अन्वयार्थ—(बुह) हे पंडित! (तह लोहम्मिय णियड

तह सुण्णम्मिय जाणि) जैसे लोहेकी वेड़ी है वैसे ही सुवर्णकी वेड़ी है ऐसा समझ (जे सुह असुह परिच्चयहि) जो शुभ अशुभ दोनों प्रकारके भावोंका त्याग करते हैं (ते वि हु णाणि हवंति) वे ही निश्चय करके ज्ञानी हैं।

भावार्थ—पुण्य पापकर्म दोनों ही वंधन हैं, पुण्यको सोनेकी तथा पापको लोहेकी वेड़ी कह सक्ते हैं। दोनों ही कर्म संसार वासमें रोकनेवाले हैं। जब दोनों वेड़ियोंका संगठन होता है तब ही यह जीव स्वाधीन मोक्षसुखको पाता है। अतएव ज्ञानीको उचित है कि पुण्य पाप दोनों ही प्रकार वंधनोंको हेय समझे। मंद कषायके भावोंको शुभोपयोग व तीव्र कषायके भावोंको अशुभोपयोग कहते हैं। दोनों हीसे बन्ध होता है। चार घातीय कर्म या वंध दोनों उपयोगोंसे होता है।

अघातीयमें सातावेदनीयादि पुण्य प्रकृतियोंका वंध शुभ भावोंसे व असातावेदनीयादि पाप प्रकृतियोंका वंध अशुभ भावोंसे होता है। मंद कषायसे आयुके सिवाय सर्व ही कर्मोंमें स्थिति थोड़ी व तीव्र कषायसे स्थिति अधिक पड़ती है। आयुकर्ममें नरककी स्थिति तीव्र कषायसे अधिक व मंदकषायसे कम पड़ती है। तब तिर्यंच, मनुष्य, देव तीन आयुकी स्थिति मंदकषायसे अधिक व तीव्र कषायसे कम पड़ती है। किन्तु अनुभाग पापकर्मोंमें अर्थात् चार घातीय व असातावेदनीयादि पापकर्मोंमें तीव्र कषायसे अधिक पड़ता है, मंदकषायसे कम पड़ता है किन्तु सातावेदनीयादि पुण्यकर्मोंमें तीव्र कषायसे कम व मन्द कषायसे अनुभाग अधिक पड़ता है। पापकर्मके फलसे नरक, तिर्यंच या क्षुद्र मानव भवोंमें दुःख भोगना पड़ता है। पुण्यके फलसे देवगतिमें या उत्तम मानव भवमें पांच इन्द्रियोंके भोगकी प्रचुर सामग्रीका लाभ होता है।

संसारी प्राणीके भाव निमित्ताधीन प्रायः होते हैं। विषयभोगकी अधिक सामग्री पाकर उनके भोगनेकी तीव्र लालसा होती है। अज्ञानी प्राणी विषयभोगोंमें लीन हो जाते हैं। विषयभोगकी तृष्णा विषयभोगसे और बढ़ जाती है तब विषयभोगोंमें अधिक मगन हो जाते हैं तब आत्माका हित भूल जाते हैं। विषयासक्त मानव अनेक प्रकारके अन्यायसे धनका सञ्चय करते हैं व इच्छित भोगोंकी प्राप्तिका यत्न करते हैं, नहीं मिलनेपर दुःखी होते हैं, मिलनेपर भोग करके तृष्णा अधिक बढ़ा लेते हैं, वियोग होनेपर शोक करते हैं।

पुण्यके फलसे प्राप्त विषयभोगोंके भीतर फँस जानेसे विषयी मानव नरक निगोदादिमें चले जाते हैं। देवगतिवाले भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी व दूसरे स्वर्ग पर्यंतके देव मरके एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, वनस्पति कायमें जन्म ले लेते हैं। बारहवें स्वर्ग तकके देव पंचेन्द्रिय पशुतक हो जाते हैं। नौग्रैवेयिक तकके देव मानव जन्मते हैं, विषयभोगोंकी आकुलता सो तृष्णा रोग है, उस रोगसे पीड़ित प्राणी घबड़ाकर विषयभोगोंमें तृष्णाके शमनके लिये जाता है। भोग करके क्षणिक तृप्ति उस समय पाकर फिर और अधिक तृष्णाको बढ़ा लेता है। दुःखोंके साधनोंमें जो आकुलता होती है वैसी ही आकुलता तृष्णारूपी रोगके बढ़नेमें होती है।

इस जीवने वारवार देवगति तथा मनुष्यगतिके पांच इंद्रियोंके विषयभोग किये हैं, परंतु तृष्णाकी दाह शमन न होसकी। इसलिये ज्ञानीजन विषयसुखको हेय समझते हैं, तब विषयसुखके कारण पुण्यकर्मको हेय जानते हैं, तब पुण्यबन्धके कारण शुभोपयोगको भी हेय समझते हैं। मात्र शुद्धोपयोगकी भावना करते हैं जिससे वर्तमानमें भी अतीन्द्रिय सुख होता है, कर्मोंका क्षय होता है व मोक्षमार्ग तय होता है। शुद्धोपयोगमें ठहरनेकी शक्ति नहीं होनेपर ज्ञानी जीव शुभो-

पयोगमें वर्तते हैं, परन्तु पुण्यकी इच्छा नहीं रखते हैं। वस्तु स्वभावसे पुण्यबंध होता है। इसलिये बंधकारक शुभोपयोगसे विरक्त रहकर शीघ्र ही शुद्धोपयोग पानेका यत्न किया करते हैं।

प्रवचनसारमें कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं—

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणाम समुब्भवाणि विविहाणि।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ॥ ७४ ॥
ते पुण उदिण्ण तण्हा दुहिदातण्हाहि विसयसोक्खाणि।
इच्छंति अणुहवंति य आमरणं दुःखसंतत्ता ॥ ७५ ॥

भावार्थ—शुभोपयोगसे बांधे हुए नानाप्रकार पुण्यकर्म देवपर्यन्त शरीरोंको विशेष सामग्रीका संयोग मिलाकर विषयोंकी तृष्णा पैदा कर देते हैं। वे देवादि तृष्णाके कारण दुःखी होते हैं। तृष्णाके रोगसे पीड़ित होकर विषयसुख चाहते हैं। मरणपर्यंत भोगते रहते हैं तौभी दुःखोंसे संतापित रहते हैं, तृष्णा नहीं मिटती है।

भावनिर्ग्रंथ ही मोक्षमार्गी है।

जइया मणु णिग्गंथु जिय तइया तुहुँ णिग्गंथु।
जइया तुहुँ णिग्गंथु जिय तो लब्भइ सिवपंथु ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थ—(जिय जइया मणु णिग्गंथु) हे जीव ! जब तेरा मन निर्ग्रंथ है (तइया तुहुं णिग्गंथु) तब तू सच्चा निर्ग्रंथ है (जिय जइया तुहु णिग्गंथु) हे जीव ! जब तू निर्ग्रन्थ है (तो सिवपंथु लब्भइ) जो तूने मोक्षमार्ग पालिया।

भावार्थ—निर्ग्रंथ पद ही साधुपद है। संयमका साधन साधु ही कर सक्ता है, क्योंकि वही आरम्भ परिग्रहको त्यागकर अहिंसादि

पांच महाव्रतोंको यथार्थ पाल सक्ता है। गृहस्थावस्थामें आरम्भ परिग्रहके कारण हिंसादि पांच पापोंके विकल्प नहीं मिटते हैं। मनमें निश्चलताका बाधक परिग्रहकी चिंता है। उत्तम धर्मध्यान प्रत्याख्यान कषायके उदयसे व निमित्त पूर्ण वैराग्यके न होनेसे गृहस्थीके नहीं होसक्ता है। इसी लिये तीर्थंकरादि महापुरुषोंने भी गृहस्थपद त्यागकर साधुपद धारण किया।

बाहरी परिग्रहका त्याग इसलिये जरूरी है कि परिग्रह मूर्छाभावके पैदा करनेके वे निमित्त हैं। इसी ममताके त्यागके लिये महापुरुष स्त्री, पुत्र, धन, राज्य संपदाको त्यागकर प्रकृति रूपमें होजाते हैं। वस्त्राभूषण त्यागकर बालकके समान नग्न होजाते हैं। जहांतक वस्त्रका ग्रहण है वहांतक परिग्रहका पूर्ण त्याग नहीं है। दिशाओंको ही जहां वस्त्र कल्पा जावे वही दिगम्बर या निर्ग्रंथ भेष है। यह निर्ग्रंथका नग्न भेष जहां मोरपिच्छिका जीवदयाके लिये व काठका कमंडल शौचके लिये या कभी शास्त्र ज्ञानके लिये रक्खा जाता है। अन्तरंग, निर्ग्रंथ होनेका निमित्त साधन है। निमित्तके विना उपादान काम नहीं करता है। जब आग पानीका निमित्त होता है तब ही चावल पककर भात बनता है।

अन्तरंगमें मनको ग्रंथरहित करना चाहिये। मनसे सर्व रागद्वेष मोह हटाना चाहिये। बुद्धिपूर्वक चौदह प्रकारके अन्तरंग परिग्रहका त्याग होना चाहिये। मिथ्यादर्शन, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद भावोंका त्याग करके सम्यग्दृष्टी कष्ट दिये जाने पर भी उत्तम क्षमावान, विद्या व तप संयम होने पर भी परम कोमल, मन वचन कायका वर्तन सरल रखके परम आर्जव गुणयुक्त, सर्व पर वस्तुका लोभ त्यागके परम सन्तोषी व पवित्र, हास्य रहित गम्भीर, रति व

अरति रहित समभावी, शोक रहित परम प्रसन्न, भय रहित निर्मल, घृणा रहित वस्तु स्वभावके मर्मी, तीन वेद भाव रहित परम ब्रह्मचारी रहना योग्य है।

मनके भीतरसे सर्व ममताका, रागद्वेषका मैल निकालकर फेंक देना चाहिये, परम वीतराग, समदर्शी, सर्व प्राणी मात्रपर करुणा-भाव, परम सन्तोषी, आत्मरस पिपासु, विषयरस विरत होना ही भाव निर्ग्रंथ पद है। धान्यका बाहरी छिलका हटाए बिना भीतरका पतला छिलका दूर नहीं हो सक्ता, शुद्ध चावल नहीं मिल सक्ता। कोई बाहरी छिलका ही हटावे, भीतरी नहीं हटावे तौ वह शुद्ध चावल नहीं पा सकेगा, इसी तरह बाहरी परिग्रहके त्याग बिना अन्तरंग रागभाव नहीं मिट सक्ता। बाहरी निर्ग्रंथ हुए बिना अन्तरंग निर्ग्रंथ नहीं हो सक्ता। यदि कोई बाहरी निर्ग्रंथ हो जावे परन्तु भीतरसे निर्ग्रंथ न हो, वीतरागी न हो, समदर्शी न हो, आत्मानंद रसिक न हो तो वह सच्चा निर्ग्रंथ नहीं है।

भाव निर्ग्रंथ ही वास्तवमें मोक्षका मार्ग है, केवल व्यवहारचारित्र मोक्षमार्ग नहीं है। रत्नत्रयमई अन्तरंग स्वानुभव रमणरूप निश्चय-चारित्र है, वही यथार्थ शिवपंथ है, इसीपर चलकर ज्ञानी मोक्ष-नगरमें पहुंच जाते हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥ ११६ ॥
निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसंगानाम्।
कर्त्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादिभावनया ॥ १२६ ॥
बहिरङ्गादपि संगाद्यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥ १२७ ॥

भावार्थ—मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार अन्तरंग ग्रन्थ हैं। अपनी शक्तिसे इन सर्व अन्तरंग परिग्रहका त्याग करे। मार्दव, शौच आदि भावनासे भावको पवित्र रखे, क्योंकि बाहरी परिग्रहसे अनुचित असंयम होता है, इसलिये सर्व ही सचित्त व अचित्त परिग्रहको त्याग करे। उभय प्रकार निर्ग्रंथ होजावे।

देहमें भगवान् होता है।

जं वडमज्झहँ बीउ फुडु बीयहँ बडु वि हु जाणु।
तं देहहँ देउ वि मुणहि जो तइलोय-पहाणु ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थ—(जं वडमज्झहँ बीउ फुडु) जैसे वर्गतके वृक्षमें उसका बीज स्पष्टपने व्यापक है (बीयहँ वडु वि हु जाणु) वैसे वर्गतके बीजमें वर्गतके वृक्षको भी जानो (तं देहहँ देउ वि मुणहि) तैसे इस शरीरमें उस देवको भी अनुभव करो (जो तइ-लोय-पहाणु) जो तीन लोकमें प्रधान है।

भावार्थ—अपना आत्मा अपने शरीरमें व्यापक है-शरीर प्रमाण है। शरीर-प्रमाण आकार लिये शरीरमें है। जैसे वर्गतमें बीज व बीजमें वर्गत व्यापक है। यह आत्मा स्वयं तीन लोकमें मुख्य पदार्थ परमात्मा देव है। ज्ञानीको यह विचारना चाहिये कि मेरा आराधने योग्य या ध्यान करने योग्य मेरा ही आत्मा है। आसन लगाकर बैठ जाओ तब यही विचार करें कि जैसा इस मेरे शरीरका आकार है, वैसा ही आकार मेरे आत्मीक प्रभुका है।

आत्मा असंख्यात प्रदेशी होकर भी शरीरप्रमाण रहता है। आत्मा देवको तैजस, कार्मण, औदारिक तीनों शरीरोंसे भिन्न देखे। सर्व रागादि भावोंसे भिन्न देखे। कर्मके निमित्तसे होनेवाले औदयिक,

औपशमिक, क्षायोपशमिक, भावोंसे भिन्न एक शुद्ध पारिणामिक स्वभावधारी देखे। द्रव्य दृष्टिसे जीवके साथ कर्मोंका संयोग नहीं दिखता है तब कर्मकी अपेक्षासे होनेवाले भाव भी नहीं दिखते हैं। क्षायिक भाव यद्यपि अपने ही आत्माके निज भाव हैं परंतु कर्मोंके क्षयसे प्रगटे हैं, इस दृष्टिसे कर्म सापेक्ष होजाते हैं। कर्मोंकी अपेक्षा न लेनेवाले द्रव्यार्थिक नयमें इस क्षायिक भावका भी विचार नहीं आसक्ता है। अनादिसे अनंतकालतक सब वस्तुको अपने मूलस्वभावमें दिखानेवाला द्रव्यार्थिक नय है।

इस दृष्टिसे देखते हुये आत्माके साथ न कभी कर्मका सम्बन्ध था, न है, न होगा। तीनकालमें एक स्वरूपमें शुद्ध स्फटिकमणिके समान दिखनेवाला यह आत्मा है। यद्यपि कर्मोंके संयोगसे नर नारक पशु देव बार बार हुआ, यह विचार पर्यायकी दृष्टिसे है तौ भी द्रव्यदृष्टिसे यह आत्मा जैसाका तैसा बना रहा। इस आत्माने अपने स्वरूपको कुछ भी खोया नहीं। पर्याय दृष्टिसे यह चंचल दिखता है। इसमें मन वचन कायके निमित्तसे प्रदेशोंका कम्पन होता है व योगशक्ति कर्म नोकर्मको ग्रहण करती है तथापि द्रव्यदृष्टिसे वह मन वचन कायसे रहित है, चंचलता रहित परम निश्चल है, कर्म नोकर्मको ग्रहण नहीं करता है। परके ग्रहण व स्वगुणके त्यागसे रहित है।

भेद दृष्टिसे यह आत्मा अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व इन छः प्रकारके सामान्य गुणोंसे व ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यग्दर्शन, चारित्र आदि शुद्ध गुणोंका धारी है तौ भी अभेद दृष्टिसे यह एकरूप अखंड सर्व गुणोंका पिंड एक शुद्ध द्रव्य ही दिखता है। यद्यपि पर्याय दृष्टिसे रागद्वेप मोहादि विभावोंसे संतापित व अशांत दिखता है तौ भी द्रव्यदृष्टिसे यह बिलकुल विभावोंसे रहित परम शांत दिखता है। द्रव्यार्थिकनयसे अपने शरी-

-रके भीतर शुद्ध स्वरूपी अपने आत्माको देखना चाहिये। वैसे ही जगतमें सर्व आत्माओंको एकाकार शुद्ध देखना चाहिये। छः द्रव्योंमें पुद्गलादि पांच अचेतन हैं, उनपर शत्रुता मित्रता नहीं होसकती। आत्मा मात्र सचेतन है।

जब सर्वको एकसमान शुद्ध देखा गया तब न कोई मित्र है, न कोई शत्रु है, सर्वको व अपनेको समान देखते हुए रागद्वेषका पता नहीं रहता है। समभाव व शांत रस बहता है। निर्ग्रंथ मुमुक्षुको उचित है कि इस तरह समभावमें रमण करके सामायिक चारित्रको पाले। स्वानुभवमें लीन होकर सर्व नयोंके विचारसे भी रहित होकर आत्मानंदमें मस्त होजावे। यही आत्मसमाधि है।

समाधिशतकमें कहा है—

आत्मानमन्तरं दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥ ७९ ॥
अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जो अपने आत्माको भीतर देखकर व शरीरादिको अपनेसे बाहर देखकर शरीर व आत्माके भेदविज्ञानसे आत्माको शुद्ध अभेद जानकर उसीके अनुभवका अभ्यास करता है वह मुक्त होजाता है। ज्ञानी विचारता है कि जो इंद्रियोंसे झलकता है वह सब अचेतन जड़ है। जो चेतन आत्माएं हैं वे इंद्रियोंसे दिखती नहीं तब फिर मैं किसपर प्रसन्न रहूं व किसपर रोष करूँ? मैं वीतरागी व समभावी ही रहता हूं।

आप ही जिन हैं यह अनुभव मोक्षका उपाय है।

जो जिण सो हउँ सो जि हउँ एहउ भाउ णिभंतु।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थ—(जो जिण सो हउं) जो जिनेन्द्र परमात्मा है वह मैं हूं (सो जि हउं) वही मैं हूं (एहउ णिभंतु भाउ) ऐसी ही शंका रहित भावना करे (जोइया) हे योगी! (मोक्खहं कारण अण्णु तंतु ण मंतु ण) मोक्षका उपाय यही है और कोई तंत्र या और कोई मंत्र नहीं है।

भावार्थ—मोक्षका उपाय संक्षेपमें यही है कि अपने आत्माको निश्चय नयसे जैसाका तैसा समझे। मूल स्वभावसे यह आत्मा स्वयं जिनेन्द्र परमात्मा है। कर्म रहित आत्माको जिनेन्द्र कहते हैं। अपना आत्मा निश्चयसे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित है, व्यवहार नयसे या पर्यायकी दृष्टिसे मेरा आत्मा कर्म सहित अशुद्ध है परन्तु शुद्ध होनेकी शक्ति रखता है। कारण समयसार है। और श्री जिनेन्द्रका आत्मा शुद्ध व कर्म समयसार है। यह भेद दिखता है परन्तु निश्चय नयसे या द्रव्यदृष्टिसे यह भेद नहीं दिखता है।

आत्मा परमात्मा सब तरह समान है। केवल सत्ताकी अपेक्षा भिन्नता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जो एक आत्माका है वही दूसरी आत्माका है। सर्व आत्माओंका चतुष्टय समान है, सदृश है, एक नहीं है–एक समान है। जैसे हजार गेहूंके दाने समान आकार व गुणोंके हों वे सब समान हैं तौभी सब दाने अलग २ हैं। हरएक आत्माका द्रव्य अपने अनंतगुण व पर्यायोंका अभेद व अखण्ड पिंड है।

हरएक आत्मा क्षेत्रसे असंख्यात प्रदेशी है, हरएक आत्मा

समय २ परिणमनशील है । शुद्ध स्वभावमें सदृश परिणमन अगुरु-लघुत्व गुणके द्वारा कर रहा है । हरएक आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र आदि शुद्ध भावोंका धारी है तब निश्चयसे अपने आत्माको परमात्मारूप देखना ही व अनुभव करना ही वीत-रागभावकी प्राप्तिका उपाय है । जहां वीतरागता जितने अंश होती है उतने अंश कर्मोंका संवर व उनकी निर्जरा होती है ।

नूतन कर्मका न आना व पुराने बांधे हुए कर्मोंका झड़ना ही मोक्ष होनेका उपाय है । सोऽहं मन्त्रके द्वारा अपने भीतर यही भावना भावे कि मैं ही परमात्मा हूं । मेरा कोई सम्बन्ध रागादि भावोंसे व पापपुण्यसे व किसी प्रकारके कर्मसे या मन, वचन, कायकी क्रियासे नहीं है ।

मैं परम निर्मल अपने स्वभावमें रहनेवाला हूं । वास्तवमें जो कोई अरहंत व सिद्ध परमात्माको ठीक ठीक पहचानता है वह आत्माके द्रव्य, गुण, पर्यायको ठीक २ जानता है । पर वस्तुसे दृष्टि संकोच करके अपने ही आत्मापर दृष्टि जमाकर रखनेसे आत्माका ध्यान होजाता है । यही कर्म ग्रास करने योग्य माना है । यही स्वानुभवकी कला है, यही तन्त्र है, यही मन्त्र है, और कोई मन्त्रतन्त्र नहीं है जिससे आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सके । बाहरी चारित्र मनको संकल्प विकल्पोंसे हटानेके लिये आवश्यक है । पर कार्योंकी चिंताका अभाव करना जरूरी है । इसलिये पूर्ण व शुद्ध आत्मध्यानके लिये निर्ग्रंथ होना योग्य है । बाहरी व अन्तरंग परि-ग्रहका त्याग करके निर्जन स्थानोंमें ध्यानका अभ्यास करना जरूरी है।

अनेकांतके ज्ञानसे विभूषित रहे कि पर्यायकी अपेक्षा मैं कर्म सहित हूं, अशुद्ध हूं, द्रव्यकी अपेक्षा कर्मरहित शुद्ध हूं । दोनों अपेक्षाओंका ज्ञान रखके पर्यायकी दृष्टिसे उपयोगको हटाले, द्रव्यकी

दृष्टिसे उपयोगको जोड़े तब अपनेको ही जिन भगवान समझे व ऐसी ही भावना करे। भावना करते करते जब उपयोग उपयोगवान आत्मामें घुल जायगा, एकमेक होजायगा, लवणकी डली जैसे पानीमें घुल जाती है वैसे उपयोग रम जायगा, ध्याता ध्येयका भेद मिट जायगा व स्वानुभव होजायगा तब द्रव्य दृष्टिका विचार भी बंद होजायगा, अर्हंत भावमें ठहर जायगा, यही मोक्षका उपाय है।

प्रवचनसारमें कहा है—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥ ८० ॥
जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥ ८१ ॥

भावार्थ—जो कोई अरहंत भगवानको द्रव्य, गुण, पर्यायोंके द्वारा यथार्थ जानता है वही अपने आत्माको पहचानता है, उसीका दर्शन मोह या मिथ्यात्व भाव दूर होजाता है। ऐसा मोहरहित सम्यग्दृष्टी जीव भलेप्रकार अपने आत्माके तत्वको पाकर यदि राग द्वेष छोड़कर वीतराग होजाता है तो वह अपने आत्माको शुद्ध कर लेता है।

आत्माके गुणोंकी भावना करे।

बे ते चउ पंच वि णवहँ सत्तहँ छह पंचाहँ।
चउगुण-सहियउ सो मुणह एयइँ लक्खण जाहँ ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ—(सो) उस अपने आत्माको (बे ते चउ पंच वि णवहं सत्तहं छह पंचाह चउगुण सहियउ मुणह) दो, तीन, चार, पांच, नव, सात, छः, पांच और चार गुण सहित जाने (जाहं

एयई लक्खण) इस परमात्माके या आत्माके ये ही लक्षण हैं।

भावार्थ—आत्माके ध्यानके लिये आत्माके स्वरूपकी भावना करनी योग्य है। निश्चयसे यह आत्मा एक सत् पदार्थ है, ज्ञायक अखण्ड प्रकाशरूप है। केवल अनुभव योग्य है। व्यवहार नयसे यह अनेक प्रकार विचारा जासक्ता है। दो प्रकार विचार करें तो यह गुण पर्यायवान है, अपने भीतर अनेक गुण व पर्यायोंको रखता है या यह ज्ञान दर्शन स्वरूप है। यह एक ही काल अपनेको व सर्व परपदार्थोंको देखने जाननेवाला है। तीन प्रकार विचार करें तो यह उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। समय २ पर्यायोंके पलटनेमें उत्पत्ति विनाश करते हुए भी अपने स्वभावसे अविनाशी है, अन्यथा यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप है।

चार प्रकार विचार करें तो यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप, इन चार आराधनास्वरूप है या यह अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य चार अनंत चतुष्टय स्वरूप है। या यह सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध चार भाव प्राणोंका धारी है। या यह आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका स्वामी है। पांच प्रकार विचार करें तो यह अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र तथा अनंत वीर्य स्वरूप है या इससे औपशमिक, क्षयोपशमिक, क्षायिक, औदयिक व पारिणामिक पांच भावोंमें परिणमनकी शक्ति है या यह आत्मा अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु पांच परमेष्टी पद धारी है या यह आत्मा नारक, पशु, देव, मनुष्य, सिद्ध गति इन पांच गतियोंमें जानेकी शक्ति रखता है। छःप्रकार विचार करें तो यह अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, अनंत सुख, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र या गुण स्वरूप है या पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर ऊपर नीचे छः दिशा-

ओंमें जानेकी शक्ति धारी है। अथवा यह आत्मा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व व अगुरुलघुत्व इन छः सम्यक्त गुणोंका धारी है।

यदि सात प्रकार विचार करें तो यह आत्मा अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनंत ज्ञानचेतना, अनंत वीर्य, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र, इन सात गुणस्वरूप है। अथवा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्तिनास्ति, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, इन सात भंगोंसे सिद्ध होता है। या इस जीवके कारण जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्वोंकी व्यवस्था होती है। वा यह आत्मा नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत सात नयोंसे विचारा जाता है।

नौ प्रकार विचार करे तो यह आत्मा नौ केवल लब्धिरूप है। अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतदान, अनंतलाभ, अनंतभोग, अनंत-उपभोग, अनंतवीर्य, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्ररूप है। या यह आत्मा पुण्यपाप सहित सात तत्व ऐसे नौ पदार्थोंमें तिष्ठता है। जीवकी अपेक्षा नौ पदार्थोंका विचार है। इस तरह आत्माको अनेक गुणोंका व स्वभावका धारी विचार करे जिससे वस्तुका विचार समभावसे हुआ करे, रागद्वेषको व सांसारिक विकल्पोंको जीता जासके। गुणोंकी भावना करते करते ही स्वानुभव शक्ति होती है। विकल्प रहित भावमें आना ही स्वानुभव है।

समयसारकलशमें कहा है—

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः।

तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक-

मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥ २४–११ ॥

भावार्थ—यह आत्मा नानाप्रकारकी शक्तियोंका समुदाय है। एक एक नयसे एक एक गुणकी पर्याय या शक्तिका विचार करनेसे आत्माका खंड रूप विचार होता है इसलिये खंड विचारको छोडकर मैं अपनेको ऐसा अनुभव करता हूं कि यह अखंड है तौभी अनेक भेदोंको रखता है, एक है, परम शांत है, निश्चल है, चैतन्यमई ज्योति स्वरूप है।

दोको छोड़कर दो गुण विचारे।

बे छंडिवि बे गुण सहिउ जो अप्पाणि वसेइ।

जिणु सामिउ एमइं भणइ लहु णिव्वाणु लहेइ ॥७७॥

अन्वयार्थ—(जो बे छंडिवि) जो दोको अर्थात् राग द्वेषको छोड़कर (बे गुण सहिउ अप्पाणि वसेइ) ज्ञानदर्शन दो गुणधारी आत्मामें तिष्ठता है (लहु णिव्वाणु लहेइ) वह शीघ्र ही निर्वाण पाता है (एमइं जिणु सामिउ भणइ) ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।

भावार्थ—बन्धके मूल कारण रागद्वेष हैं उनका त्याग करे। त्याग करनेका क्रम यह है कि पहले मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय सम्बन्धी रागद्वेषको छोड़े। मिथ्यादृष्टी जीवके भीतर पर पदार्थको आत्मा माननेकी भूल करता है जिससे वह परमें अहंकार व ममकार भाव करता है। इन्द्रियजनित पराधीन सुखको सच्चा सुख मानता है। इस मिथ्याभावके कारण जिन विषयोंके सेवनसे इन्द्रियसुखकी कल्पना करता है उन पदार्थोंमें रागभाव करता है व

जिनसे विषयभोगमें हानि पड़ती है व जो विषय रुचते नहीं हैं उनसे द्वेष करता है। रागद्वेषके चार प्रकार हैं-

चार कषाय नौ नोकषायमें लोभ, मानकषायको व हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद इन पांच नोकषायको राग कहते हैं। तथा क्रोध व मानकषायको व अरति, शोक, भय, जुगुप्सा चार नोकषायको द्वेष कहते हैं। अनन्तानुबंधी सम्बन्धी रागद्वेष, अप्रत्याख्यान कषाय सम्बंधी रागद्वेष, प्रत्याख्यान सम्बन्धी रागद्वेष संज्वलन सम्बन्धी रागद्वेष इस तरह रागद्वेषके चार भेद हैं।

मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी रागद्वेषके मिटानेके लिये सम्यग्दर्शनका लाभ जरूरी है। इस सम्यक्तके पानेका उपाय अपने आत्माके यथार्थ स्वभावका ज्ञान है कि यह आत्मा ज्ञानदर्शन स्वभावका धारी है, सूर्यके समान स्वपर प्रकाशक है, सर्वज्ञ व सर्वदर्शी है, पूर्ण वीतराग है, पूर्ण आनंदमय है, स्वयं परमात्मारूप है, आठ कर्म, रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्मसे भिन्न है। अतीन्द्रिय सुख ही सच्चा सुख है, ऐसी प्रतीति लाकर वारवार अपने ज्ञान दर्शन स्वभावधारी आत्माकी भावना करते रहनेसे मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषायका उपशम, क्षयोपशमका क्षय होजायगा। तब यह जीव सम्यग्दर्शन गुणको प्रकाश कर सकेगा, मूढ़ता चली जायगी, सम्यग्ज्ञान होजायगा। तब इसे निर्वाणपदपर पहुंचनेकी योग्यता होजायगी, संसारसागरसे पार होनेकी तीव्र रुचि होजायगी।

बारह प्रकार कषाय व नौ नोकषायका उदय अभी है, इसलिये चारित्रमें कमी है। अविरत सम्यक्दृष्टीके इक्कीस प्रकार चारित्र मोहनीयके उदयसे राग द्वेष होजाता है उसको वह रोग जानता है। आत्मबलकी कमीसे गृहस्थके योग्य विषयभोग करता है व धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ सेवन करता है। परंतु इकदम मन, वचन, कायकी-

क्रियाको आत्माका कर्तव्य नहीं जानता है। भावना त्यागकी रखता है। २१ कषायोंकी शक्ति घटानेके लिये यह देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय व सामायिकके द्वारा अपने आत्माके शुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावका मनन करता है। आत्मानुभवका अभ्यास करता है। इस आत्मीक पुरुषार्थसे जब अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय नहीं रहता है, केवल १७ कषायका उदय रहता है तब वह श्रावकके चारित्रको स्वीकार करके श्रावक ही होजाता है।

जैसे २ प्रत्याख्यान कषायका उदय आत्मानुभवके अभ्याससे कम होता जाता है वह ग्यारह प्रतिमा रूपसे चारित्र बढ़ाता रहता है। जब प्रत्याख्यान कषायका उदय भी नहीं रहता है तब केवल तेरह कषायोंके उदयको रखकर वस्त्रादि परिग्रह त्याग कर साधु होजाता है।

साधुपदमें धर्मध्यानके अभ्याससे कषायोंका बल कम करता है। उपशम श्रेणी पर शुक्लध्यानके द्वारा १३ कषायोंको दबाकर वीतरागी होजाता है। क्षपकश्रेणीमें इनका क्षय करके वीतरागी होजाता है। तब वह मोक्षगामी क्षपकश्रेणीपर ही चढ़कर क्षीण-मोह गुणस्थानमें आकर शेष तीन घातीय कर्मोंका क्षय करके केवली भगवान अरहंत परमात्मा होजाता है। ज्ञानदर्शन गुणकी भावना करते करते अनंत ज्ञान व अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, अनंत सुखको प्रकट करदेता है।

इस तरह राग द्वेष त्याग करके ज्ञान दर्शन गुणवाले आत्माको प्राप्त करे।

समयसार कलशमें कहा है—

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्नमैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारं॥८॥५.

भावार्थ—महान ज्ञानके लक्षणधारी शुद्ध निश्चयनयके द्वारा जो सदा ही अपने आत्माके एक स्वभावका अनुभव करते हैं वे रागादि भावोंसे छूटकर बंध रहित शुद्ध आत्माको देख लेते हैं।

तीनको छोड़ तीन गुण विचारे।

तिहिं रहियउ तिहिं गुण-सहिउ जो अप्पाणि वसेइ।
सो सासय-सुह-भायणु वि जिणवरु एम भणेइ ॥७८॥

अन्वयार्थ—(तिहिं रहियउ) तीन राग द्वेष मोहसे रहित होकर (तिहिं गुण-सहिउ अप्पाणि जो वसेइ) तीन गुण सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र सहित आत्मामें जो निवास करता है (सो सासय-सुह-भायणु वि) सो अविनाशी सुखका भाजन होता है (जिणवरु एम भणेइ) जिनेन्द्र ऐसा कहते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी जीवको यह निश्चय होता है कि आठों ही बंध आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं। इनमें मोहनीय कर्म मुख्य है इसीके उदय या प्रभावसे जीवका उपयोग राग द्वेप मोहसे मलीन हो जाता है व सर्व ही कर्मका बंध इन राग द्वेप मोहकी मलीनतासे होता है। जैसे विवेकी जीव मलीन पानीमें निर्मली डालकर मिट्टीको पानीसे अलग करके निर्मल पानीको पीता है वैसे ही ज्ञानी जीव भेदविज्ञानके बलसे रागद्वेप मोहको आत्मासे भिन्न करके वीतराग विज्ञानमय आत्माका अनुभव करता है। रागद्वेप मोहके हटानेके लिये ज्ञानी जीव मोहनीय कर्मसे, रागद्वेप मोह भावोंसे तथा उनके उत्पन्न करनेवाले बाहरी द्रव्योंसे परम उदास हो जाता है।

व्यवहारनयसे देखनेपर संसारी जीवोंमें भेद दिखता है। मित्र, शत्रुका, मातापिताका, पुत्र-पुत्रीका, स्वामी सेवकका, ध्याता

ध्येयका, सुन्दर असुन्दरका, रोगी निरोगीका, धनिक निर्धनका, विद्वान मूर्खका, वलवान निर्बलका, कुलीन अकुलीनका, साधु गृहस्थका, राजा प्रजाका, देव नारकीका, पशु मानवका, स्थावर त्रसका, सूक्ष्म बादरका, पर्याप्त अपर्याप्तका, प्रत्येक साधारणका, पापी पुण्यात्माका, लोभी सन्तोषीका, मायावी व सरलका, मानी व विनयवालेका, क्रोधी व कपटवालेका, स्त्री पुरुषका, बालक व वृद्धका, अनाथ व सनाथका, सिद्ध व संसारीका, ग्रहणयोग्य व त्यागनेयोग्यका भेद दिखता है तब विषयभोगका लोलुपी व कषायका धारी जीव इष्टसे राग व अनिष्टसे द्वेष करता है। यह सब बाहरी व्यवहारमें दीखनेवाला जगत रागद्वेष मोहको पैदा करनेका निमित्त हो जाता है। इसलिये ज्ञानीको रागद्वेष मोह भावोंकी मलीनताके न पानेके लिये निश्चयनयसे जगतको देखना चाहिये। तब सर्व ही छः द्रव्य अपने मूल स्वभावमें अलग अलग दीख पड़ेंगे।

सर्व पुद्गल परमाणुरूप, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, असंख्यात कालाणु सब ही अपने २ स्वभावमें दीख पड़ेंगे तथा सर्व ही जीव एक समान शुद्ध दीख पड़ेंगे। आप भी अपनेको शुद्ध देखेगा तब समभाव होजायगा। रागद्वेष मोहका बाहरी निमित्त बुद्धिसे निकल गया तो आस्रव बिना उन भावोंका भी निरोध हो जाता है। इस तरह ज्ञानी जीव आत्मानुभवके लिये रागद्वेष मोहको दूर करे, फिर अपने आत्माके तीन गुणोंको ध्यावे।

सम्यक्त ज्ञान चारित्र तीनों ही आत्माके गुण हैं। आत्मा स्वभावसे यथार्थ प्रतीतिका धारी है। आपको आप, परको पर यथार्थ श्रद्धान करनेवाला है व सर्व लोकालोकके द्रव्य गुणपर्यायोंको एक साथ जाननेवाला है। व चारित्र गुणसे यह परम वीतराग है, रत्नत्रय स्वरूप यह आत्मा अभेद दृष्टिसे एकरूप है। शुद्ध स्फटिकके

समान निर्मल है। परम निरंजन, निर्विकार, परम ज्ञानी, परम शांत व परमानंदमय है। इसतरह बारबार अपने आत्माको ध्यावे। तब परिणामोंकी थिरता होनेपर स्वयं आत्मानुभव प्रगट होगा, यही मोक्षका मार्ग है।

आत्मानुभवके समय अतीन्द्रिय आनंदका स्वाद आयगा। इसी स्वादको लेते हुए आत्मानुभव करते हुए क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर अरहंत परमात्मा होकर अनंतसुखका भोगनेवाला होजाता है।

समयसारकलशमें कहा है—

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकं।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्ध चिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०—१

भावार्थ—मैं अपनेसे ही अपने आत्मीक शुद्ध रससे पूर्ण चेतनप्रभुका अनुभव करता हूं। मैं केवल शुद्ध ज्ञानका भंडार हूं। मेरा मोह कर्मसे बिलकुल कोई सम्बन्ध नहीं है।

चारको त्याग चार गुणसहित ध्यावे।

चउ कसाय सण्णा रहिउ चउ गुण सहियउ वुत्तु।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं जिम परु होहि पवित्तु ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थ—(चउ कसाय) चार क्रोधादि कषाय (सण्णा) चार संज्ञा आहार भय मैथुन परिग्रह (रहिउ) रहित (चउ गुण सहियउ अप्पा वुत्तु) व दर्शन ज्ञान सुख वीर्य चार गुण सहित आत्मा कहा गया है (जीव तुहुं सो मुणि) हे जीव तू! उसका ऐसा मनन कर (जिम परु पवित्तु होहि) जिससे तू परम पवित्र हो जावे।

भावार्थ—आत्माको मलीन करनेवाले चार कषाय हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ चारित्र मोहनीय कर्मकी प्रकृतियां हैं जब इनका उदय होता है तब क्रोधादि भाव प्रगट होते हैं। वे कषाय आत्माके स्वभाव नहीं हैं। आत्माके तत्वको इनसे रहित परम वीतरागी जाने व साधक स्वयं भी इन कषायोंके होनेका निमित्त बचावे, सदा ही शांत भावसे व सम भावसे रहनेका उद्यम करे। व्यवहारमें गौण भाव रक्खे।

निश्चयनयसे जगतको देखनेका अधिक अभ्यास करे। वस्तु स्वरूपको विचार करके किसी अपराधीपर क्रोध न करके उसको सुधारनेका प्रयत्न करे। जैसे रोगीपर दया रखनी चाहिये वैसे अपराधीपर दया रखनी चाहिये।

उसको ठीक मार्गपर चलानेका उद्यम करना चाहिये। क्रोध शीघ्रतासे विना विचारे निर्बलपर ही आ जाता है। यदि कुछ समय विचारको दिया जावे तो कारण विचार लेनेपर निर्बलपर दया आ जावेगी। क्षणभंगुर गृहलक्ष्मी आदिका व विद्याका व तपका मान कदापि न करना चाहिये। फलके भारसे वृक्ष जैसे झुके रहते हैं वैसे ही ज्ञानीको सम्पत्ति विद्या व तप बल होनेपर विशेप कोमल व विनयवान होना चाहिये। परको ठगनेका भाव मनसे अलग करके मायाचारसे नहीं वर्तना चाहिये। सरल सीधा सत्य व्यवहार ज्ञानीको रखना चाहिये। लोभ मनको मैला रखता है, सन्तोषसे उसे जीतना चाहिये।

आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञाएं हैं। लोभ कषाय, भय नोकषाय, वेद नोकषाय ये संज्ञाएं होती हैं। आत्माका स्वभाव इनसे बाहर है, आत्माका स्वभाव परम निस्पृह है, ज्ञानीको सन्तोषके द्वारा आहार संज्ञाको, निर्भयताके द्वारा भयको, ब्रह्मचर्यके द्वारा

मैथुनको व अपरिग्रह व तृष्णारहित भावसे परिग्रह संज्ञाको जीतना चाहिये। आत्माको उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच उन चार गुण सहित व ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य चार अनंत चतुष्टय सहित ध्याना चाहिये।

पवित्र होनेका उपाय पवित्रका ध्यान करना है। कषाय रहित व संज्ञाओंसे रहित शुद्धात्मा मैं हूं व सर्व ही विश्वकी आत्माएं शुद्ध हैं, इस तरह भावना करनेसे स्वानुभवका लाभ होता है। स्वानुभवको ही धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान कहते हैं।

कषाय ही कर्मोमें स्थिति व अनुभाग बंधके कारण हैं तब वीतरागभाव कर्मोंकी स्थिति व अनुभागको सुखानेवाले हैं। जैसे अग्निकी तापसे अशुद्ध सुवर्ण शुद्ध होता है वैसे ही आत्मध्यानकी प्राप्तिके प्रतापसे अशुद्धात्मा पवित्र होजाता है। जैसे मलीन वस्त्र वस्त्रपर ध्यान लगानेसे मशाला रगड़नेपर साफ होता है वैसे ही यह कर्मोंसे मलीन आत्मा ज्ञान वैराग्यके मशालेके साथ ध्यान पूर्वक रगड़नेसे या स्वानुभवके अभ्यासमे शुद्ध होता है। ममुक्षुको निरन्तर आत्माके उपवनमें रमण करना चाहिये। आत्मानुशासनमें कहा है—

हृदयसरसि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाधे वसति खलु कषायग्राहचक्रं समंतात्।
श्रयति गुणगणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कं समदमयमशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व।२१३

भावार्थ—गम्भीर व निर्मल मनके सरोवरके भीतर जब तक चारों तरफसे कषाय रूपी मगरमच्छोंका वास है तब तक गुणोंके समूह शंका रहित होकर वहां नहीं ठहर सक्ते। इसलिये तू समताभाव, इंद्रिय दमन व विनयके द्वारा उन कषायोंके जीतनेका यत्न कर।

पांचके जोड़ोंसे रहित व दश गुण सहित आत्माको ध्यावे।

वे-पंचहँ रहियउ मुणहि वे-पंचहँ संजुत्तु।

वे-पंचहँ जो गुणसहिउ सो अप्पा णिरु वुत्तु ॥ ८० ॥

अन्वयार्थ—(वे-पंचहँ रहियउ) दो प्रकार पांचोंसे रहित होकर अर्थात् पांच इन्द्रियोंको रोककर व पाँच अव्रतोंको त्यागकर (वे-पंचहँ संजुत्तु मुणाहि) दो प्रकार पांच अर्थात् पांच इंद्रिय-दमनरूप संयम व पांच महाव्रत सहित होकर आत्माका मनन करो (जो वे-पंचहँ गुणसहिउ सो अप्पा णिरु वुत्तु) जो दश गुण उत्तम क्षमादि सहित है व अनंतज्ञानादि दश गुण सहित है उसको निश्चयसे आत्मा कहा जाता है।

भावार्थ—आत्माका मनन निश्चिन्त होकर करना चाहिये। पांच इंद्रियोंके विषयोंमें उलझा हुआ उपयोग आत्माका मनन नहीं कर सकता। इसलिये पांच इंद्रियोंको संयममें रखना चाहिये। इन्द्रियविजयी होना चाहिये व जगतके आरम्भसे छूटनेके लिये हिंसा असत्य, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह इन पांच अविरत भावोंसे विरक्त होकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इन पांच महाव्रतोंको पालना चाहिये। साधुपदमें द्रव्य व भाव दोनों रूपसे निर्ग्रंथ होकर एकाकी भावसे शुद्ध निश्चयनयके द्वारा अपने शुद्धात्माका मनन करना चाहिये।

भेद दृष्टिसे आत्माका मनन करते हुए उसको दश लक्षणरूप विचारना चाहिये। यह आत्मा क्रोध विकारके अभावसे पृथ्वीके समान उत्तम क्षमा गुण धारी है, मानके अभावसे उत्तम मार्दव गुण

धारी है, मायाके अभावसे उत्तम आर्जव गुण धारी है, असत्य ज्ञानके अभावसे उत्तम सत्य धर्म धारी है। लोभके अभावसे उत्तम शौच गुण धारी है, असंयमके अभावसे स्वरूपमें रमणरूप उत्तम संयम गुण धारी है। सर्व इच्छाओंका अभाव होनेसे आत्माका एक शुद्ध वीतराग भावसे तपना एक उत्तम गुण है। यह आत्मा परम तपस्वी है, यह आत्मा अपनी शुद्ध परिणतिको या आत्मानंदको आपके लिये दान करता है, यही इसका उत्तम त्याग धर्म है। इस आत्माके उत्तम आकिंचन्य गुण है। इस आत्माके भीतर अन्य आत्माओंका, पुद्गल द्रव्यका, धर्म, अधर्म, काल, आकाशका अभाव है, यह पूर्ण अपरिग्रहवान है, परम असंग है। यह आत्मा उत्तम ब्रह्मचर्य गुणका धारी है, निरन्तर अपने ब्रह्मभावमें मगन रहनेवाला है। इसतरह दश लक्षणोंको विचारे अथवा अपने आत्माको दश गुण सहित विचारे।

यह आत्मा अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र, अनंत दान, अनंत लाभ, अनंत भोग, अनंत उपभोग, अनंत वीर्य, अनंत सुख, इन दश विशेष गुणोंका धारी परमात्मा स्वरूप है। यह सर्वज्ञ व सर्वदर्शी होकर भी आत्मज्ञ व आत्मदर्शी है। यह ज्ञेयकी अपेक्षा सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहलाता है। शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारी होकर निरन्तर आत्म प्रतीतिमें वर्तमान है। सर्व कषाय भावोंके अभावसे परम वीतराग यथाख्यात चारित्रसे विभूषित है। आपके आनंदको आपको देता है, अनंत दान करनेवाला है, निरंतर स्वात्मानंदका लाभ करना ही अनंत लाभ है। स्वात्मानंदका ही निरंतर भोग है अपने आत्माका ही बार बार उपभोग है। गुणोंके भीतर परिणमन करते हुए कभी भी खेद नहीं पाता यही अनंत वीर्य है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह व अन्तराय कर्मोंसे रहित होकर अनंतसुखका समुद्र है।

अभेदनयसे एक अखण्ड आत्माको ध्यावे तब स्वानुभवका लाभ होगा । यही आत्मदर्शन है व यही सुखशांति प्रदायक भाव है । यही आत्मसमाधि है, यही निश्चय रत्नत्रयकी एकता है । मुमुक्षु जीवको निश्चिन्त होकर परम प्रेमभावसे अपने आत्माका ही आराधन करना चाहिये । बृहत सामायिक पाठमें कहा है—

व्यावृत्येन्द्रियगोचरोरुगहने लोलं चरिष्णुं चिरं
दुर्वारं हृदयोदरे स्थिरतरं कृत्वा मनोमर्कटं ।
ध्यानं ध्यायति मुक्तये श्रमनैर्निर्मुक्तभोगस्पृहो
नोपायेन विना कृता हि विधयः सिद्धिं लभंते ध्रुवं ॥५४॥

भावार्थ—दुर्वार मन रूपी बन्दर चिरकालसे लोलुपी होकर पांच इंद्रियोंके महान वनमें रमण कररहा था, उसको वहांसे रोककर अपने हृदयके भीतर स्थिर रूपसे बांधकर रखे । तथा सर्व भोगोंकी अभिलाषा याग करके, परिश्रम करके केवल मोक्षके ही हेतु आत्माका ध्यान करे । क्योंकि उपायके विना कार्यकी सिद्धि नहीं होती । उपायसे निश्चय काम सिद्ध होता है ।

आत्मरमणमें तप त्यागादि सब कुछ हैं ।

अप्पा दंसणु णाणु मुणि अप्पा चरणु वियाणि ।
अप्पा संजमु सील तउ अप्पा पच्चक्खाणि ॥ ८१ ॥

अन्वयार्थ—(अप्पा दंसणु णाणु मुणि) आत्माको ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान जानो (अप्पा चरणु वियाणि) आत्माको ही सम्यक्चारित्र समझो (अप्पा संजमु सील तउ) आत्मा ही संयम है, शील है, तप है, (अप्पा पच्चक्खाणि) आत्मा ही प्रत्याख्यान या त्याग है ।

भावार्थ—आत्माके स्वभावमें रमणता होनेपर ही सर्व ही मोक्षके साधन निश्चयनयसे प्राप्त हो जाते हैं। व्यवहारनयसे देवशास्त्र गुरुका तथा जीवादि सात तत्वोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। निश्चयसे वह आत्माका ही निज गुण है। जहां श्रद्धा व रुचि सहित आत्मामें थिरतासे तिष्टना होता है वहीं भाव निक्षेपरूप यथार्थ परिणमनशील सम्यग्दर्शन है। व्यवहारमें आगम ज्ञान सम्यग्ज्ञान है. निश्चयसे ज्ञानमें अपने अत्माका शुद्ध स्वभाव झलकना ही सम्यग्ज्ञान है।

व्यवहारमें साधु या श्रावकका महाव्रत या अणुव्रतरूप आचरण सम्यक्चारित्र है। निश्चयसे वीतराग भाव ही सम्यक्चारित्र है। जहां आत्मामें स्थिरता है वहां निश्चय सम्यक्चारित्र है। व्यवहारमें पांच इन्द्रिय व मन निरोध इन्द्रिय संयम व पृथ्वीकायादि छः प्रकार प्राणियोंकी रक्षा प्राणिसंयम है। निश्चयसे अपने ही शुद्ध स्वभावमें अपनेको संयमरूप रखना, बाहर कहीं भी रागद्वेष न करना आत्माका धर्म संयम है।

व्यवहारमें मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनाको नौ प्रकार कामविकारको टालकर शील पालना ब्रह्मचर्य है। निश्चयसे ब्रह्मस्वरूप आत्मामें ही चलना निश्चय ब्रह्मचर्य है, सो आत्मारूप ही है। व्यवहारसे बारहप्रकार तप पालना तप है। निश्चयसे आत्माके शुद्ध स्वरूपमें तपना तप है। आत्मीक भावमें प्रकाश पानेके लिये ये तप सहाई हैं। तपस्वीको, योगीको उचित है कि इन्द्रियदमन व मन, वचन, कायकी शुद्धिके लिये उपवास करता रहे, भोजन ऊनोदर करे, मात्रासे कम ले. जिससे ध्यान स्वाध्यायमें प्रमाद न आवे। निद्राको विजय करे व शरीर निरोगी रहे।

भिक्षा लेनेके लिये कोई नियम ऐसा ले जिससे गृहस्थको कोई आरंभ विशेष न करना पड़े व अपने परिणामोंकी जांच हो कि नियम

न पूरा होनेपर यह सन्तोषसे निराहार रह सके, सो वृत्तिपरिसंख्यान तप है। जिह्वा इन्द्रियके वश करनेको व शरीरमें मद न बढ़ने देनेके लिये व रागके घटानेके लिये दूध, दही, घी, तेल, लवण, शक्कर इन छहोंको या कमको साधु त्यागकर नित्य आहार करते हैं।

शरीरकी स्थितिके लिये मात्र धर्मसेवनार्थ आहार सन्तोषसे करते हैं सो रस परित्याग है। साधुजन स्त्री, पुरुष, नपुंसक, पशु, आदि, भावोंमें विचारके निमित्त कारण जहां न हों ऐसे एकांतस्थानमें शयन व आसन करते हैं व ध्यान स्वाध्यायकी सिद्धि करते हैं सो विविक्त-शयासन तप है। शरीरके सुखिया व आलसी स्वभावको मिटानेके लिये कठिन २ निर्जन स्थानोंमें आसन जमाकर ध्यान करते हैं।

नदीतट, वृक्षतल, पर्वत, गुफामें बैठकर नग्न तन होते हुए शीत ताप सहते हैं। दूसरोंको दीखता है कि कायको क्लेश देरहे हैं परंतु शीघ्र आत्मानंदमें मगन रहते हैं सो कायक्लेश तप है। जैसे कपड़ेपर मैल लगनेपर पानीसे धोकर साफ किया जाता है वैसे मन, वचन काय सम्बंधी कोई दोष होजानेपर उसका प्रायश्चित्त लेकर व प्रतिक्रमण करके शुद्ध करना, भावोंको निर्मल करना सो प्रायश्चित्त तप है। रत्नत्रय धर्मकी व धर्म धारकोंकी भक्ति रखना व व्यवहारमें विनयशील रहना विनय तप है।

अन्य साधुको थका हुआ, रोगी, व अशक्त देखकर शरीरसे व उपदेशसे तथा गृहस्थोंको व जगतके प्राणियोंको धर्मोपदेशसे उनकी आत्माओंको शांति व संतोष पहुंचाना वैय्यावृत्य तप या सेवाधर्म है। आत्मज्ञानकी निर्मलताके लिये व छः द्रव्योंके गुण पर्यायोंका विशेष ज्ञान होनेके लिये जिनवाणीके ग्रंथोंका पठन पाठन मनन व कंठस्थ करना स्वाध्याय तप है। यह बड़ा ही उपकारी है।

अन्तरंग विभावोंसे बाहरमें शरीरादि व पर वस्तुओंसे विशेष ममताका त्याग सो ब्रह्मचर्य तप है। धर्मध्यानका एकांतसें अभ्यास करना सो ध्यान तप है। इन बारह प्रकारके तपोंमें वर्तते हुए अपने आत्माको तपना सो ही निश्चय तप है। नियम या यम रूपसे किन्हीं भोजन पानादिका व किन्हीं वस्तुओंका त्याग करना व्यवहार प्रत्याख्यान है।

अपने आत्माको सर्व परद्रव्यसे व परभावोंसे भिन्न अनुभव करना सो निश्चय प्रत्याख्यान है। अभिप्राय यह है कि जब यह उपयोग अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपमें रमण करके स्वानुभवमें रहता है तब ही वास्तवमें रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है। तब ही यद्यपि संयम है, शील है, तप है, प्रत्याख्यान है, अतएव आत्मस्थ रहना योग्य है।

समयसारमें कहा है—

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥ १८ ॥

भावार्थ—निश्चयसे मेरे ज्ञानमें, दर्शनमें, चारित्रमें आत्मा ही है। जब मैं रत्नत्रयमें रमण करता हूं तब आत्माहीके पास पहुंचता हूं। त्याग भावमें रहना भी आत्मामें तिष्ठना है। आस्रव निरोध संवर भावमें या एकाग्र योगाभ्यासमें भी आत्मा ही सन्मुख रहता है।

पर भावोंका त्याग ही सन्यास है।

जो परयाणइ अप्प परु सो परु चयइ णिभंतु।
सो सण्णासु मुणेहि तुहुँ केवल-णाणि उत्तु ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थ—(जो अप्प परु परयाणइ) जो आत्मा व परको पहचान लेता है (सो णिभंतु परु चयइ) वह विना किसी भ्रांतिके

परको त्याग कर देता है (तुहुं सो सण्णासु मुणेहि) तू उसे ही सन्यास या त्याग जान (केवल-णाणिं उत्तु) ऐसा केवलज्ञानीने कहा है।

भावार्थ—अन्तरंगमें पर भावोंके ममत्वके त्यागको सन्यास कहते हैं। वाहरी परिग्रहका त्याग अन्तरंग त्यागभावका निमित्त साधक है।

इस सन्यासका प्रारंभ सम्यग्दृष्टी अविरतिके हो जाता है। सम्यग्दृष्टी भले प्रकार जानता है कि मेरा स्वामीपना मेरे ही एक आत्मासे है, मेरे आत्माका अभेदरूप द्रव्यत्व मेरा द्रव्य है, मेरे आत्माका असंख्यातप्रदेशी क्षेत्र मेरा क्षेत्र है, मेरे आत्माके गुणोंका समय २ परिणमन मेरा काल है, मेरे आत्माके शुद्ध गुण मेरा भाव है, मैं सिद्धके समान शुद्ध निरञ्जन निर्विकार हूं, मैं पूर्ण ज्ञानदर्शनवान हूं, पूर्ण आत्म वीर्यका धनी हूं, परम आनन्दमय अमृतका अगाध सागर हूं। मैं परम कृतकृत्य हूं, जीवनमुक्त हूं।

मेरा कोई सम्बन्ध न अन्य आत्माओंसे है न पुद्गलके कोई परमाणु व स्कंधसे है। न धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्यसे है, न मेरेमें आठ कर्म हैं, न शरीरादि हैं, न रागादि भाव हैं, न मेरेमें इन्द्रियके विषयोंकी अभिलाषा है, न मैं इन्द्रियसुखको सुख जानता हूं। मैं अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय सुखको सच्चा ज्ञान व सुख जानता हूं। सो मेरा धन मेरे पास है। इस तरह सम्यग्दृष्टी त्यागी श्रद्धा व ज्ञान परिणतिकी अपेक्षा परम सन्यासी है, परम त्यागी है। जैसे कोई प्रवीण पुरुष अपने भीतर होनेवाले रोगोंको पहचानकर व उनसे अहित जानकर उन रोगोंसे पूर्णपने उदासीन हो जावे वैसे सम्यक्ती जीव खास कर्मोंके संयोगसे होनेवाले रागादि भाव व शरीरादि रोगोंको रोग व आत्माके लिये हानिकारक जानकर उनसे

पूर्ण वैरागी होजाता है। अब रोग निवारणका उद्यम करना ही रोगीके लिये शेष रहा है सो प्रवीण रोगी बड़े भावसे प्रवीण वैद्य द्वारा बताई हुई औषधिको सेवन करता हुआ धीरे २ निरोगी होजाता है। उसी तरह सम्यक्ती जीव चारित्र मोहनीयके विकारोंको दूर करनेके लिये पूर्णपने कटिवद्ध होजाता है। यह भी उसने श्रीगुरु परम वैद्यसे जाना है कि भावकर्मके रोगको मिटानेके लिये सत्तामें बैठे कर्मोंको नाश करनेके लिये व नवीन रोगके कारणसे बचनेके लिये शुद्धात्मानुभव ही एक परम औषधि है। यह सम्यक्ती समय निकालकर स्वानुभव करता रहता है। कषायोंके अनुभागको सुखाता रहता है। आत्मबल बढ़नेपर व मन्दकषायके उदय होनेपर यह अधिक समय व थिरता पानेके लिये श्रावकके चारित्रको निमित्त कारण जानकर धारण कर लेता है। धीरे २ जैसे २ रागभाव बढ़ता है वह श्रावककी ग्यारह श्रेणीरूप प्रतिमाओंपर चला जाता है। जब स्वानुभवकी शक्ति इतनी बढ़ा लेता है कि एक अन्तर्मुहूर्तमें अधिक स्वानुभवसे बाहर नहीं रह सके, घड़ी २ पीछे बारबार आत्म-तत्वका स्वाद लेवे व गमनका कोई प्रपंच नहीं रुचे। आत्मरसमें मानो उन्मत्त होजावे तब बाहरी सकल त्याग करके सन्यासी या निर्ग्रंथ होजाता है। श्रद्धान व ज्ञानकी अपेक्षा तो सन्यासी अविरत सम्यक्तके चौथे गुणस्थानमें ही होगया था तब छठे सातवें गुणस्थानमें रहकर चारित्रकी अपेक्षा भी सन्यासी होगया है। निर्ग्रंथपदमें रहकर दिनरात स्वानुभवका अभ्यास करता है। यदि तद्भव मोक्षगामी होता है तो क्षायिक श्रेणीपर चढ़कर शीघ्र ही चार घातीय कर्मोंका क्षय करके केवलज्ञानी होजाता है। यहां तात्पर्य यह है कि आत्माके सिवाय सर्व परके साथ राग द्वेष मोहका त्याग ही सन्यास है।-

समयसारकलशमें कहा है—

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव-
न्नैःकर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥ १०–४ ॥

भावार्थ—मोक्षके चाहनेवाले महात्माको उचित है कि सर्व ही क्रियाकांडको व मन वचन कायकी क्रियाका ममत्व त्याग देवे व जहां आत्माके निज स्वभावके सिवाय सर्वका त्याग हो वहां पुण्य व पापके त्यागकी क्या बात? इन दोनोंका त्याग है ही। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आदि स्वभावमें रहना ही मोक्षका मार्ग है। इस मार्गमें जो रहता है उसके पास कर्मरहित भावसे प्राप्त व आत्मीक रससे पूर्ण ऐसा केवलज्ञान स्वयं दौड़कर आजाता है।

रत्नत्रय धर्म ही उत्तम तीर्थ है।

रयणत्तय-संजुत्त जिउ उत्तिमु तित्थु पवित्तु।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥८३॥

अन्वयार्थ—(जोइया) हे योगी! (रयणत्तयसंजुत्त जिउ उत्तिमु पवित्तु तित्थु) रत्नत्रय सहित जीव उत्तम व पवित्र तीर्थ है (मोक्खहं कारण) यही मोक्षका उपाय है (अण्णु तंतु ण मंतु ण) और कोई तंत्र या मंत्र नहीं है।

भावार्थ—कर्मबन्धसे छूटनेका उपाय या भवसागरसे पार होनेका उपाय रत्नत्रय धर्म है। इसके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। निश्चय रत्नत्रय साक्षात् मोक्षमार्ग है या उपादान कारण है।

व्यवहार रत्नत्रय उपादानके प्रकाशके लिये बाहरी निमित्त है। कार्यकी सिद्धि उपादान और निमित्त दोनों कारणोंके होने पर होती है। मलीन सुवर्ण आग व मसालोंका निमित्त पाकर स्वयं साफ होता है। मलीन वस्त्र मसाले व पानीका निमित्त पाकर स्वयं उजला होता है। चावल आग पानीका निमित्त पाकर स्वयं भात बन जाता है। चनेके दाने चक्कीका निमित्त पाकर स्वयं चूर्ण होजाते हैं। पानीका निमित्त पाकर तिलोंमेंसे तेल निकलता है।

मिट्टी स्वयं घड़ा रूप हो जाती है, कुम्हारका चाक आदि निमित्त है। कार्यरूप स्वयं उपादान कारण हो जाता है। जबतक कार्य न हो तबतक वह निमित्त सहायक होता है फिर निमित्त बिलकुल अलग रह जाता है। आत्मा अपनी शुद्धिमें या उन्नतिमें आप ही उपादान कारण है, निमित्त शरीरादि अनेक बाहरी क्रिया है। यदि उनसे शरीर वज्रवृषभनाराच संहनन, उत्तम आर्य क्षेत्र, चतुर्थ दुखमा सुखमा काल, व साधुका बाहरी निर्ग्रंथ भेष व चारित्र न हो तो मोक्षके लिये आत्माका भाव विशुद्धिको नहीं पाता है। अतएव व्यवहार रत्नत्रयके आलम्बनसे निश्चय रत्नत्रयका आराधन कार्यकारी है। यह अपना आत्मा द्रव्य स्वभावसे परम शुद्ध है, ज्ञाताद्रष्टा है, अनंत वीर्य व अनंत सुखका सागर है, परम वीतराग है, सर्व अन्य द्रव्योंकी सत्तासे रहित है।

स्वयं ज्ञानचेतनामय है, परम निराकुल है। यही परमात्मा देव है ऐसा दृढ़ श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है। इसकी प्राप्तिका उपाय अन्तरंग निमित्त अनंतानुबंधी कषाय व मिथ्यात्वका उपशम है व बाहरी उपाय देव शास्त्र गुरुका श्रद्धान व जीवादि सात तत्वोंका पक्का श्रद्धान है तथा आत्मा व परका भेद विज्ञान पूर्वक विचार है। मन वचन कायकी सर्व क्रिया निमित्त है। अन्तरंग व बहिरंग

निमित्त होनेपर निश्चय सम्यग्दर्शन आत्माकी ही भूमिकासे उपज जाता है। आत्मा ही उपादान कारण है। आत्माका आत्मारूप यथार्थ ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है। आगम द्वारा तत्वोंका व द्रव्योंका मनन व्यवहार सम्यग्ज्ञान है, निमित्त है। आत्माके अभ्याससे व गुरुके उपदेशके निमित्तसे भीतर उपादान आत्मासे ज्ञानका प्रकाश होता है। अंतरंग निमित्त ज्ञानावर्णीय व दर्शनावर्णीय व अंतरंग कर्मका क्षयोपक्षम है।

आत्माका आत्माके भीतर आत्माके द्वारा ही परके आलम्बन रहित रमण करना निश्चय सम्यक्चारित्र है। निमित्त साधन अंतरंग चारित्र मोहनीय कर्मका उपशम है, बाहरी साधन श्रावकका एकदेश व साधुका सकल चारित्र है।

आत्मानुभव ही तीर्थ है, जहाज है, वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीन आत्मीक धर्मोंसे रचित है। इस जहाजपर जो आत्मा आप ही चढ़कर उस जहाजको अपने ही आत्मारूपी समुद्रपर चलाता है वह आप ही मोक्षद्वीपको पहुंच जाता है। वह द्वीप भी आप ही है, अपना पूर्णभाव कार्य है, अपूर्णभाव कारण है। इस तरह जो कोई निश्चिन्त होकर आत्माका सतत अनुभव करता है वही परमानन्दका स्वाद पाता हुआ व कर्मोंका संवर व उनकी निर्जरा करता हुआ उन्नति करता जाता है, यही कर्तव्य है।

तत्वार्थसारके उपसंहारमें अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥ २ ॥
श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः ॥ ३ ॥

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मना।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः॥ ४॥

भावार्थ—मोक्षमार्ग निश्चय तथा व्यवहारसे दो प्रकारका है। निश्चय मार्ग साध्य है, व्यवहार साधन है। अपने ही शुद्ध आत्माका श्रद्धान ज्ञान व सर्व परसे उदासीन भावरूप उपेक्षा या स्व रूपमें लीनता ऐसा निश्चय रत्नत्रय स्वरूप आत्माका शुद्ध भाव निश्चय मार्ग है। षट् पदार्थोंकी अपेक्षासे श्रद्धान ज्ञान व त्याग करना व्यवहार रत्नत्रय मोक्षमार्ग है। व्यवहारके सहारे निश्चयको प्राप्त करना चाहिये।

रत्नत्रयका स्वरूप।

दंसणु जं पिच्छियइ बुह अप्पा विमल महंतु।
पुणु पुणु अप्पा भावियए सो चारित्त पवित्तु॥८४॥

अन्वयार्थ—(अप्पा विमल महंतु) यह आत्मा मलरहित शुद्ध व महान् परमात्मा है (जं पिच्छियइ बुह दंसणु) ऐसा जो श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है व ऐसा जानना सो ज्ञान है (पुणु पुणु अप्पा भावियए सो चारित्त पवित्तु) बारबार इस आत्माकी भावना करनी सो पवित्र या निश्चय शुद्ध चारित्र है।

भावार्थ—अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप जानकर श्रद्धान करना चाहिये। यह आत्मा द्रव्य परिणमनशील है गुणोंका समूह है। गुणोंमें स्वभाव परिणमन होना द्रव्यका धर्म है। परिणमन शक्तिसे ही गुणोंकी समय२ पर्यायें होती हैं, व्यवहारनयसे यह अपना आत्मा कर्म सहित मलीन दिखता है। कर्मोंके संयोगसे चौदह गुण-स्थान व चौदह मार्गणारूप आत्माकी अवस्थाएँ जो होती हैं वे आत्माका निज शुद्ध स्वभाव नहीं हैं। जब शुद्ध निश्चयनयसे जाना

जावे तो यह आत्मा यथार्थमें जैसा मूल द्रव्य है वैसा जाननेमें आता है।

यह आत्मा सत् पदार्थ है, कभी न जन्मा न कभी नाश होगा, स्वतः सिद्ध है, किसीने उसको पैदा नहीं किया, न यह किसीको पैदा करता है। यह लोक अनादिकालसे है, छः द्रव्योंके समूहको लोक कहते हैं। वे सब द्रव्य अनादिसे अनंत कालतक सदा ही बने रहते हैं। अनंत जीव हैं। अनंतानंत पुद्गल हैं, असंख्यात कालाणु हैं, एक धर्मास्तिकाय है, एक अधर्मास्तिकाय है, एक आकाश है। आत्मा–आत्मारूपसे सब समान हैं तथापि हरएक आत्माकी सत्ता दूसरी आत्माकी सत्तासे निराली है।

अपने आत्माको एकाकी देखे, इसमें न आठ कर्मोंका बंध है न इसमें रागादि विकारी भाव है, न कोई स्थूल औदारिक व वैक्रियिक शरीर है। यह आत्मा शुद्ध स्फटिकमणिके समान परम निर्मल है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, आदि गुणोंका सागर है। यह आत्मा न किसीका उपादान कारण है, न किसीका निमित्त कारण है। संसार दशामें आत्मा शरीर नामकर्मके उदयसे चंचल होकर मन, वचन, कायके द्वारा योगोंमें परिणमन करता है व कषायके उदयसे शुभ व अशुभ उपयोग होता है। ये योग व उपयोग ही लौकिक कार्योंमें निमित्त हैं। कुम्हार घड़ा पकाता है। मिट्टी घड़ेका उपादान कारण है, कुम्हारका मन, वचन, काय योग व अशुद्ध उपयोग निमित्त कारण है। शुद्ध आत्मामें न योगोंका कार्य है न कोई शुभ या अशुभ उपयोग है। आत्मा स्वभावसे अकर्ता व अभोक्ता है। न तो परभावोंका कर्ता है न परभावोंका भोक्ता है। आत्मा स्वभावसे अपनी शुद्ध परिणतिका कर्ता है व सहज शुद्ध सुखका भोक्ता है। यह आत्मा परम निराकुल व समभावका धारी परम पवित्र निश्चल

रहनेवाला परम पदार्थ परमात्मा है। मैं ऐसा ही हूं। ऐसा निश्चय अनुभव पूर्वक होना ही सम्यग्दर्शन गुणका प्रगट होना है।

सो मिथ्यात्व कर्म व अनंतानुबंधी कषायके उपशम विना नहीं होता है। शास्त्रोंको ठीक ठीक जाननेपर भी जहांतक स्वानुभव न हो वहां तक ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है। सम्यग्दर्शनके प्रकाश होते ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान होजाता है। मुमुक्षुको उचित है कि आत्माके श्रद्धान व ज्ञानमें वार वार रमण करे। वार वार भावना भावे। भावनामें चलना सो चारित्र है। जहाँ आत्मा आपसे आपमें स्थिर होजाता है वहां रत्नत्रयकी एकता होती है। वही मोक्षमार्ग है। रत्नत्रय धर्म निज आत्माका स्वभाव ही है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥ २१६॥
सम्यक्त्वचरित्रबोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम्॥ २२२॥

भावार्थ—अपने आत्माका निश्चय सम्यग्दर्शन है। अपने आत्माका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। अपने आत्मामें स्थिरता सम्यक्-चारित्र है। इन तीनोंसे कर्मबंध नहीं होता है। निश्चय व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग यही आत्माको परमपदमें पहुंचा देता है।

आत्मानुभवमें सब गुण हैं।

जहिं अप्पा तहिं सयल-गुण केवलि एम भणंति।
तिहि कारणएं जोइ फुडु अप्पा विमलु मुणंति॥ ८५॥

अन्वयार्थ—(जहिं अप्पा तहिं सयल-गुण) जहां आत्मा

है वहां उसके सर्व गुण हैं। (केवलि एम भणंति) केवली भगवान ऐसा कहते हैं (तिहि कारणएं जोइ फुडु विमलु अप्पा मुणंति) इस कारण योगीगण निश्चयसे निर्मल आत्माका अनुभव करते हैं।

भावार्थ—शुद्धात्माका जहां श्रद्धान है, ज्ञान है व उसीका ध्यान है अर्थात् जहां शुद्धात्माका अनुभव है, उपयोग पांच इंद्रिय व मनके विषयोंसे हट कर एक निर्मल आत्माहीकी तरफ तन्मय है वहीं यथार्थ मोक्षमार्ग है।

जब आत्माका ग्रहण होगया तब आत्माके सर्व गुणोंका ग्रहण होगया, क्योंकि द्रव्यके सर्व गुण उसके भीतर ही रहते हैं। मिश्रीको ग्रहण करनेसे मिश्रीके सर्व गुण ग्रहणमें आजाते हैं। आमको ग्रहण करनेसे आमके स्पर्शादि सर्व गुण ग्रहणमें आजाते हैं। इसी तरह आत्माके ग्रहण होते हुये आत्माके सर्व गुण ग्रहणमें आजाते हैं।

एक एक गुणका ग्रहण करनेसे आत्माका एक एक अंश ग्रहणमें आयगा, सर्व आत्मा ग्रहणमें नहीं आयगा। परंतु अखण्ड व अभेद एक आत्माको ग्रहण करते हुए उसके भीतर व्याप कर रहे हुये सर्व गुण ग्रहणमें आजायंगे। इसलिये योगीगण निश्चल होकर एक निज आत्माको ही ध्याते हैं। आत्माका ध्यान करते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनों रत्नत्रय हैं। वहीं सम्यक् तप है। आत्माके भीतर रमण करनेवाला रागद्वेषके अभावसे निश्चय अहिंसा व्रतका पालक है। सर्व असत् पर पदार्थोंके त्यागसे व सत् निज पदार्थके यथार्थ ग्रहणसे आत्मामें ही निश्चय सत्य व्रत है।

पुद्गलादिकी गुण पर्यायकी स्थितिको ग्रहण न करके अपनी आत्मीक सम्पदामें सन्तोष रखनेसे आत्मामें ही निश्चय अचौर्य व्रत है। आत्माके सिवाय पर पदार्थमें न जाकर एकाग्र बने, पर ब्रह्म स्वरूप आत्मामें ही विहार करनेसे आत्मामें ही निश्चय ब्रह्मचर्य व्रत

है। रागादि सर्व विभावोंके व मूर्छाके त्यागसे आत्माके एक असंग भावमें रमण करनेसे आत्मामें ही परिग्रह त्याग व्रत है। आत्मा आत्मामें सत्य भावसे जब ठहरा है तब वहां निश्चयसे सामायिक है। जब आत्माका अनुभव करते हुए वीतरागता होती है तब गत कालके बन्धे हुए कर्मोंसे वीरागता होती है व वे कर्म स्वयं निर्जराको प्राप्त होते जाते हैं, इसलिये वहीं निश्चय प्रतिक्रमण है।

आत्मामें जब रमणता है तब भावी होनेवाले विभावोंका भी त्याग है, इसलिये निश्चय प्रत्याख्यान है। आत्मा अपने आत्माके गुणोंमें या गुणी आत्मामें परम एकाग्र भावमें लीन है। यही निश्चय स्तुति है। आत्मा आत्माका ही आराधन व विनय कर रहा है। यही निश्चय वंदना है।

आत्मासे शरीरादि सर्व परद्रव्योंसे मोह त्याग दिया है व आपसे आपमें थिरता की है, यही निश्चय कायोत्सर्ग है। मन, वचन, कायके सर्व विकारोंसे भिन्न होकर आत्मा आत्मामें ही गुप्त किलेमें बिराजित है, यही तीन गुप्तिका पालन है। पांचों इंद्रियोंके विषयोंसे उपयोग रुककर एक आत्मामें ही तन्मय हो यही पांच इन्द्रिय निरोध संयम है।

क्रोधादि चारों कषायोंसे रहित आत्मामें विराजमान होनेसे पूर्ण उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच धर्म है। आत्मा परम शांत है, परम कोमल है, परम सरल है, परम शुचि है। आत्माके दर्शन गुण है, वीर्यगुण है, आनन्दगुण है, ज्ञानचेतना है, सर्व ही शुद्ध गुणोंका निवास आत्मामें है। जिसने आत्माका आराधन किया उसने सर्व आत्मीक गुणोंका आराधन कर लिया। आत्माके ध्यानसे ही आत्माके गुण विकसित होते हैं। श्रुतज्ञानकी पूर्णता होती है। अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञानकी रिद्धि प्रगट होती

है, केवलज्ञानका लाभ होता है। निर्वाणका परम उपाय एक आत्माका ध्यान है। **तत्वानुशासन**में कहा है—

योो मध्यस्थः पश्यंति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा ।
दृगवगमचरणरूपस्स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः ॥३२॥

भावार्थ—जो वीतरागी आत्मा आत्माके भीतर आत्माके द्वारा आत्माको देखता व जानता है वह स्वयं सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्ररूप होता है। इसलिये निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।

एक आत्माका ही मनन कर।

एक्कलउ इंदिय रहियउ मण वय काय ति-सुद्धि ।
अप्पा अप्पु मुणेहि तुहुं लहु पावहि सिव-सिद्धि ॥८६॥

अन्वयार्थ—(एक्कलउ) एकाकी निर्ग्रंथ होकर (इंदिय रहियउ) पांचों इन्द्रियोंसे विरक्त होकर (**मण वय काय ति-सुद्धि**) मन वचन कायकी शुद्धिसे (**तुहुं अप्पा अप्पु मुणेहि**) तू आत्माके द्वारा आत्माका मनन कर (**सिव-सिद्धि लहु पावहि**) मोक्षकी सिद्धि शीघ्र ही कर सकेगा।

भावार्थ—आत्माका मनन निश्चिन्त होकर करना चाहिये। इसलिये गृहस्थीका त्याग जरूरी है। गृहस्थके व्यवहार धर्म, पैसा कमाना, काम भोग करना, इन तीनों कामोंके लिये मन वचन कायको चंचल व राग द्वेषसे पूर्ण व आकुलित रखना पडता है व पांचों इन्द्रियोंके भोगोंमें उलझना पडता है।

जब सर्व चिंताएं न रहेगी तब ही मन स्थिर होकर संकल्प विकल्पसे रहित होकर अपने आत्माके शुद्ध स्वभावका मनन कर

सकेगा। अतएव निर्ग्रंथ पद धारण करके निराकुल होजाना चाहिये। स्त्री पुत्रादि कुटुम्बकी चिंताओंसे मुक्त होजाना चाहिये। परिग्रह व आरम्भका त्याग विना यथाजातरूप धारे नहीं होसक्ता। इसलिये बालकके समान नग्न व निर्विकार होजाना चाहिये। प्राकृतिक जीवनमें आजाना चाहिये। तिल तुष मात्र परिग्रह नहीं रखना चाहिये। शरदी, गर्मी, डांस, मच्छर आदि बाईस परीसहोंके सहनेकी शक्ति प्राप्त करना चाहिये। ऊंचा आत्मध्यान, निर्ग्रंथ व निर्विकार हुये विना हो नहीं सक्ता। जहां तक काम विकारकी वासना न मिटे, स्त्री पुरुषका भेद न मिटे, लज्जाका भाव दिलसे न हटे वहां तक इस ऊंचे पदको ग्रहण न करे।

श्रावक पदमें रहकर एकदेश आत्मध्यानका साधन करे। निर्वाणका साक्षात् उपाय निर्ग्रंथ पद ही है। इस ही पदको धारकर सर्व ही प्राचीनकालके तीर्थंकरोंने व महात्माओंने उक्त प्रकारका आत्मध्यान करके धर्मध्यान व शुक्लध्यान करके निर्वाण लाभ किया था। सर्व चिंताओंसे रहित एकाकी होना जरूरी है। अपने आत्माको एकाकी समझना चाहिये। इसका संयोग पुद्गलसे अनादिकालका होने पर भी यह बिलकुल उससे निराला है। यह शुद्ध चैतन्यमय मूर्ति है। न तो कर्मोंका न शरीरादिका न रागादि भावकर्मोंका कोई सम्बन्ध इस आत्मासे है न अन्य आत्माओंका कोई सम्बंध है। हरएक आत्माकी सत्ता निराली है, मैं एकाकी सदासे हूं व रहूंगा। एकत्वकी भावना सदा भावे। पांचों इंद्रियोंके विषयोंका पूर्ण विजयी होना चाहिये।

जहांतक इंद्रियोंके विषयोंकी लालसा न छूटे वहां तक गृहस्थमें स्त्रीसहित रहकर ही यथाशक्ति आत्माका मनन करे। जब लालसा विषयोंकी न रहे, मनसे विषय, विकार निकलजावे व अतिंद्रिय

आत्मीक सुखका प्रेम बढ़ जावे व अभ्यास भी ऐसा होजावे कि आत्मीक रसके स्वाद विना और सब विषय रसके स्वाद फीके भासे तब ही वह जिन या जितेंद्रिय होकर आत्माका मनन कर सक्ता है। मनकी शुद्धि हो। मनमेंसे रागद्वेष मोहको हटाया जावे। वीतरागताके रसका रसिक मनको बनाया जावे। सर्व ही अपध्यानोंको दूर किया जावे। आर्त रौद्रध्यानोंसे मनको निर्मल किया जावे। मनमें सहज वैराग्य प्राप्त किया जावे, कष्ट व उपसर्ग आनेपर मनको सहनशील बनाया जावे।

क्रोध, मान, माया, लोभके आक्रमणोंसे मनको बचाया जावे, वचनोंका प्रयोग केवल आवश्यक धर्मोपदेशोंमें किया जावे। मौन रहनेकी आदत डाली जावे। स्त्रीकथा, भोजन कथा, देशकथा, नृपति कथासे विरक्त रहा जावे। भाषा मीठी अमृत समान स्वपर प्रिय धर्मरस गर्भित बोली जावे, वचन शुद्धि पाली जावे।

शरीरको शुद्ध निर्विकार रक्खा जावे, स्नानादि त्यागकर शृङ्गार व शोभा रहित व शांत रक्खा जावे। निश्चयमें रस नीरस आहार जो प्राप्त हो उसको ऊनोदर लेकर शरीरको रोग रहित व हलका रक्खा जावे। इस तरह मन, वचन, कायको शुद्ध रखके निर्जन स्थानोंमें तिष्ठकर एकाकी शुद्ध अतीन्द्रिय आत्माका मनन या अनुभव किया जावे। इसी उपायसे मोक्षकी सिद्धि होगी।

आत्मानुशासनमें कहा है—

मुहुः प्रसार्य्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान् ।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥ १७७ ॥

भावार्थ—आत्मज्ञानी मुनिको योग्य है कि वारवार सम्यग्ज्ञानको भीतर फैला रखे। पदार्थोंको जैसाका तैसा देखते हुए, रागद्वेष न करते हुए समताभावसे आत्माको ध्यावे।

सहज स्वरूपमें रमण कर ।

जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि तो बंधियहि णिभंतु ।
सहज-सरूवइ जइ रमहि तो पावहि सिव सन्तु ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थ—(जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि) यदि तू बन्ध मोक्षकी कल्पना करेगा (तो णिभंतु बंधियहि) तो निःसन्देह तू बन्धेगा (जइ सहज-सरूवइ रमहि) यदि तू सहज स्वरूपमें रमण करेगा (तो सन्तु सिव पावहि) तो शांत मोक्षको पावेगा ।

भावार्थ—निर्वाणका उपाय एक शुद्धात्मानुभव है, जहां मनके विकल्प या विचार सब बन्द हो जाते हैं, काय स्थिर होती है, वचन नहीं रहता है वहां ही स्वानुभवका प्रकाश होता है। इसीको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। यहीं आत्मस्थभाव है, यहीं यथार्थमें मोक्षका मार्ग है, यहीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्रकी एकता है, यहीं रागद्वेष रहित वीतरागभाव है, यहीं परम समता है, यही एक अद्वैतभाव है, यही संवर व निर्जरा तत्व है। अतएव ज्ञानीको व्यवहारनयके विचारको तो बिलकुल छोड़ देना चाहिये ।

व्यवहारनयसे ही यह देखा जाता है कि आत्मामें कर्मोंका बन्ध है, आत्माके साथ शरीर है। आत्मामें क्रोध, मान, माया, लोभ भाव हैं। आत्मा अशुद्ध है, इसको शुद्ध करना है। मोक्षका लाभ करना है। हम चौथे, पांचवे, छठे या सातवे गुणस्थानमें हैं। गुणस्थानोंकी उन्नति करके अरहन्त व सिद्ध होना है। हम मनुष्यगतिमें हैं, हम सैनी पंचेन्द्रिय हैं, त्रस हैं, मन वचन काय योगोंके धारी हैं, हम पुरुषवेदी हैं, हमारे कषाय भाव

हैं, हमारे मति श्रुत ज्ञान हैं, हमारे असंयम या देश संयम या सकल संयम है, हमारे चक्षु या अचक्षु दर्शन है, हमारे शुभ या अशुभ लेश्या है, हम भव्य हैं, हम सम्यग्दृष्टी हैं, हम सैनी हैं, हम आहारक हैं। इसतरह गुणस्थान तथा मार्गणा स्थानोंका विचार या कर्मोंके आस्रव भावोंका विचार व चार प्रकार बंधका विचार या संवर व निर्जराके कारणोंका विचार यह सब व्यवहार नयके द्वारा विचार चंचल है, शुभोपयोगमय है अतएव बंधके कारण हैं। क्योंकि इन विचारोंमें संसार दशा त्यागने योग्य व मोक्ष दशा ग्रहण योग्य भासती है। संसारसे द्वेष व मोक्षमें राग है। वीतराग दशाको पानेके लिये व्यवहार नयके सर्व विचारोंको बंद रखके केवल निश्चय नयके द्वारा अपनेको व जगतको देखना चाहिये, तब यह जगत छह शुद्ध द्रव्यों-का समुदाय दीखेगा। सर्व ही परमाणु रूप पुद्गल अबंध दीखेंगे व सर्व ही जीव शुद्ध वीतराग दीखेंगे। इस तरह देखनेसे राग द्वेषके कारण सर्व ही द्रव्य दृष्टिमेंसे निकल जायंगे। समताभाव आजायगा। फिर केवल अपने ही आत्माको द्रव्यरूप शुद्ध देखें।

जहां तक विचार है वहांतक मनका विकल्प है। जब विचार करते करते मन थिर होजायगा तब सहज स्वरूपमें रमण होजायगा व स्वानुभव होजायगा। इसीसे बहुत कर्मोंकी निर्जरा होती है। इसीके लाभको मोक्षमार्ग जानो। जब जब स्वानुभव है तब तब मोक्षमार्ग है। स्वानुभवके सिवाय मनके विचारको व शास्त्र पाठको या कायके वर्तनको या महाव्रत अणुव्रत पालनको मोक्षमार्ग कहना यथार्थ नहीं है, व्यवहार मात्र है। जैसे तलवार सोनेकी म्यानमें है उसको सोनेकी तलवार कहना।

लाल रंगके मिलनेसे पानीको लाल कहना, अग्निके संयोगसे

पानीको उष्ण कहना, घीके संयोगसे घड़ेको घीका घड़ा कहना, वैसे मन, वचन, कायकी क्रियाको मोक्षमार्ग कहना व्यवहार है। साधक अवस्थामें यह स्वानुभव बहुत अल्पकाल रहता है। वज्रवृषभनाराच संहननके धारीमें यदि मुहूर्तसे कुछ कम देर तक होजावे तो चार घातीय कर्मके बंधन कट जावे और केवलज्ञानका लाभ होजावे।

स्वानुभवके छुटनेपर साधकको निश्चयनय या द्रव्यार्थिकनयके द्वारा शुद्ध तत्वका विचार करना चाहिये। यदि उपयोग न जमे तो व्यवहारनय या पर्यायार्थिकनयके द्वारा सात तत्व, बारहभावना, दश धर्म, गुणस्थान, मार्गणा आदिका विचार करे, शास्त्र पढ़ें, उपदेश दें आदि व्यवहार धर्मको करे, परंतु भावना यही रखे कि मैं शीघ्र ही स्वानुभवमें पहुँच जाऊं। इस उपायसे जो कोई तत्वज्ञानी सहजात्म स्वरूपको मनन करेगा वही परम शांत निर्वाणके सुखका भाजन होगा। समयसारमें कहा है—

जह बंधे चिन्तंतो बंधणवद्धो ण पावदि विमोक्खं।
तह बंधे चिंतन्तो जीवोवि ण पावदि विमोक्खं ॥२११॥

जह बंधे भित्तूणय बंधणवद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे भित्तूणय जीवो संपावदि विमोक्खं ॥ २१२ ॥

भावार्थ—जैसे कोई बंधनमें बंधा है वह बंधकी चिंता किया करे तो चिंता मात्रसे वह बंधसे नहीं छूट सक्ता वैसे ही कोई जीव यह चिंता करे कि यह कर्मबन्ध है, कर्मसे मुक्त होना है वह इस चिंतासे मुक्त नहीं होगा। जैसे बंधनमें बंधा पुरुष बंधको काट करके ही बंधसे छूटेगा वैसे ही भव्य जीव बंधको छेद करके ही मुक्त होगा। बंधके छेदका उपाय एक स्वानुभव है।

सम्यग्दृष्टि सुगति पाता है।

सम्माइट्ठी-जीवडहँ दुग्गई-गमणु ण होइ।

जइ जाइ वि तो दोसु णवि पुव्व-क्किउ खवणेइ ॥८८॥

अन्वयार्थ—(सम्माइट्ठी-जीवडहं दुग्गई-गमणु ण होइ) सम्यग्दृष्टी जीवका गमन खोटी गतियोंमें नहीं होता है (जइ जाइ वि तो दोसु णवि) यदि कदाचित् खोटी गति जावे तो हानि नहीं पुव्व-क्किउ खवणेइ) वह पूर्वकृत कर्मका क्षय करता है।

भावार्थ—आत्माके शुद्ध स्वरूपकी गाढ़ रुचि व अतिंद्रिय सुखको परमप्रेम रखनेवाले भव्यजीवको सम्यग्दृष्टि कहते हैं वह मोक्षके नगरका पथिक बन जाता है। संसारकी तरफ पीठ रखता है उसके भीतर आठ लक्षण या चिह्न प्रगट होजाते हैं—

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा उपसमोभक्ति।

वच्छलं अणुकंपा गुणट्ठ सम्मत जुत्तस्स ॥

(१) संवेग—धर्मसे प्रेम।

(२) निर्वेद—संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य। संसारके भीतर चारों गतियोंमें आकुलता है, यह शरीर कारागार है, इन्द्रियोंके भोग अतृप्तिकारी व नाशवन्त हैं।

(३) निन्दा—

(४) गर्हा—आत्मबलकी कमीसे व कषायके उदयसे लाचार होकर जो उसे लौकिक कार्योंमें प्रवर्तना पड़ता है व आरंभादि करना पड़ता है उसीके लिये वह अपने मनमें अपनी निंदा करता रहता है व दूसरोंसे भी अपनी कमीकी निंदा करता रहता है। वह तो निर्वाणके लाभको ही उत्तम जानता है। वहांतक अपनी मन, वचन, कायकी क्रियाको त्यागनेयोग्य समझता है।

(५) उपशम—शांत भाव सम्यक्तीके भीतर रहता है। ज्ञानपूर्वक हरएक काम करता है। आत्मानुभवके प्रतापसे सहज शांत भाव जागृत रहता है। एकदम क्रोधादिमें नहीं परिणमता है, विपरीत कारणोंपर कर्मोंका उदय फल विचार लेता है।

(६) भक्ति—सम्यक्ती जिनेन्द्रदेव, निर्ग्रंथ गुरु, जिनवाणीकी गाढ़ भक्ति रखता है। स्तुति, वंदना, पूजा, स्वाध्याय किया करता है। उनको मोक्षका सहकारी जानता है।

(७) वात्सल्य—साधर्मी भाई व बहनोंपर धार्मिक प्रेम रखता है, धर्मभावसे उनकी सेवा करता है।

(८) अनुकम्पा—प्राणी मात्रपर दयाभाव रखता है। मन, वचन, कायसे किसी प्राणीको कष्ट देना नहीं चाहता है। शक्तिको न छिपाकर प्राणीमात्रका हित करता है।

किसी प्राणीके साथ अन्यायका व्यवहार नहीं करता है। ऐसा तत्वज्ञानी जीव दुर्गति लेजानेवाले पाप कर्मोंको नहीं बांधता है।

मिथ्यात्व गुणस्थानमें बंधनेवाली १६ सोलहका, अर्थात् १–मिथ्यात्व, २–हुंडक संस्थान, ३–नपुंसक वेद, ४–असंप्राप्त संहनन, ५–एकेन्द्रिय, ६–स्थावर, ७–आताप, ८–सूक्ष्म, ९–साधारण, १०–अपर्याप्त, ११–द्वेन्द्रिय, १२–तेन्द्रिय, १३–चौन्द्रिय, १४–नरकगति, १५–नरकगत्यानुपूर्वी, १६–नरक आयु-का।

तथा सासादन गुणस्थान तक बंधनेवाली २५ पच्चीसका अर्थात् ४ अनंतानुबंधी कषाय, ५ स्त्यानगृद्धि, ६ निद्रा निद्रा, ७ प्रचला प्रचला, ८ दुर्भग, ९ दुस्वर, १० अनादेय, ११–१४ चार संस्थान न्यग्रोधादि, १५–१८ चार संहनन वज्रनाराचादि, १९ अप्रशस्त विहायोगति, २० स्त्रीवेद, २१ नीच गोत्र, २२ तिर्यंचगति, २३ तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, २४ तिर्यंच आयु, २५ उद्योत, की। इसतरह ४१

प्रकृतियोंका बंध नहीं करता है। वह तो देवगति या मनुष्यगतिमें ही जन्म लेता है। यदि तिर्यंच या मनुष्य सम्यक्ती हुआ तो स्वर्गका देव होता है। यदि नारकी व देव सम्यक्ती हुआ तो उत्तम मनुष्य होता है।

सम्यक्त लाभ होनेके पहले यदि मनुष्य या तिर्यंचने नरकआयु व तिर्यंच आयु या मनुष्यायु बांधली हो तो सम्यक्त सहित पहले नर्क, व भोगभूमिमें तिर्यंच व मनुष्य जन्मता है। वहां भी समभावसे दुःख सुख भोग लेता है। सम्यक्ती सदा ही सुखी रहता है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें कहा है—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥ ३५ ॥
ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः ।
महाकुला: महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥ ३६ ॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शनसे शुद्ध जीव व्रत रहित होनेपर भी ऐसा पाप नहीं बांधते जिससे नारकी हो, तिर्यंच हो, नपुंसक हो, स्त्री हो, नीच कुलमें पैदा हो, अंगहीन हो, अल्पायु हो, या दरिद्री हो।

सम्यग्दर्शनसे पवित्र जीव ओज, तेज, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि व विजयको पानेवाले महाकुलवान, महाधनवान मनुष्योंमें मुख्य होते हैं।

सम्यग्दृष्टीका श्रेष्ठ कर्तव्य ।

अप्प-सरूवहँ जो रमइ छंडिवि सहु ववहारु ।
सो सम्माइट्ठी हवइ लहु पावइ भवपारु ॥ ८९ ॥

अन्वयार्थ—(जो सहु ववहारु छंडिवि) जो सर्व व्यवहारको छोड़कर (अप्प-सरूवहँ रमइ) अपने आत्माके स्वरूपमें रमण

करता है (सो सम्माइट्ठी हवइ) वही सम्यग्दृष्टी है (लहु पावइ भवपारु) वह शीघ्र ही संसारसे पार होजाता है।

भावार्थ—जिसको निर्वाण ही एक ग्रहणयोग्य पद दिखता है, जो चारों गतियोंकी सर्व कर्मजनित दशाओंको त्यागनेयोग्य समझता है, जो अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यके लाभको परम लाभ समझता है, जो निश्चयसे जानता है कि मैं सर्व शुद्ध सिद्ध सम हूं, व्यवहार दृष्टिमें कर्मका संयोग है सो त्यागने योग्य है, जो संसार वासमें क्षण मात्र भी रहना नहीं चाहता है वही सम्यग्दृष्टि है। वह जानता है कि निर्वाणका उपाय मात्र एक अपने ही शुद्ध आत्माके शुद्ध स्वभावमें रमण है। आत्मानुभव है। इसका निश्चितपने अभ्यास तब ही संभव है जब सर्व व्यवहारको त्याग दिया जावे, गृहस्थके प्रबंधको हटा दिया जावे।

स्त्री पुत्रादि कुटुम्बकी चिंताको मेट दियाजावे। धन, धान्य, भूमि मकानादि परिग्रहको त्याग दिया जावे। तीर्थंकरके समान यथाख्यात रूप नग्न दिगम्बर पद धारण किया जावे, जहां बालकके समान सरल व शांत भावमें रहकर निर्जन स्थानोंमें आत्माका अनुभव किया जावे। साधुपदमें उतना ही व्यवहार रह जाता है जिससे भिक्षावृत्ति द्वारा शरीरका पालन हो व जब उपयोग आत्मीक भावमें न रमे तब शुद्धात्माके स्मरण करानेवाले शास्त्रोंके मननमें व धर्मचर्चामें स्तुति वंदना पाठादि पढ़नेमें उपयोगको रखा जावे।

व्यवहार धर्मध्यान व धर्मकी प्रभावना करना इतना व्यवहार रहता है। आहार विहार व व्यवहार धर्मको करते हुए साधु इस व्यवहारसे भी उदास रहते हैं आत्म वीर्यकी कमीसे वर्तते हैं। जैसे२ आत्म ध्यानकी शक्ति बढ़ती जाती है वैसे २ यह व्यवहार भी छूटता जाता है, तौभी साधुपदमें इतनी अधिक आत्मरमणताका अभ्यास

होजाता है कि एक अंतर्मुहूर्तसे अधिक आत्मानुभवसे बाहर नहीं रहता है।

साधुके जबतक वह उपशम या क्षपकश्रेणीपर न चढ़े, छठा व सातवां दो गुणस्थान होते हैं। हरएकका काल एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं है। व्यवहार धर्म व क्रियाका पालन छठे गुणस्थानमें होता है। आहार, विहार, निद्राका, व निहारका कार्य छठे गुणस्थानमें होता है। यदि इन व्यवहार कार्योंमें अन्तर्मुहूर्तसे अधिक समय लगे तो बीच बीचमें सातवां गुणस्थान क्षणभरके लिये आत्मानुभवरूप होजाता है।

सम्यग्दृष्टीके गृह त्याग व साधुपदका ग्रहण तब ही होता है जब उसके भीतर प्रत्याख्यानावरण कषायके उदय न होनेपर सहसा वैराग्य जग जाता है। वह दृढ़ता पूर्वक विना परिणामोंकी उच्चता प्राप्त हुए किसी ऊंची क्रियाको धारण नहीं करता है। जबतक सहज वैराग्य न आवे वह परिणामोंके अनुसार श्रावक पदके भीतर रहकर यथासंभव दर्शन प्रतिमासे लेकर उद्दिष्टत्याग ग्यारहवीं प्रतिमा तकके चारित्रको पालकर आत्मानुभवके लिये अधिक २ समय निकालता है। क्रम क्रमसे व्यवहारको घटाता है व निश्चयमें रमणको बढ़ाता है।

यह श्रावकका पंचम गुणस्थान भी तब ही होता है जब सम्यक्तीके भीतर अप्रत्याख्यान कषायके उदय न होनेपर एकदेश सहज वैराग्य पैदा हो जाता है। यदि ऐसा भाव न हो तो यह चौथे गुणस्थानमें ही रहकर यथासम्भव समय निकालता है। जब वह सर्व व्यवहार मन, वचन, कायकी क्रियाको छोड़कर शुद्धात्माका मनन करके स्वानुभव करता है, व्यवहारकी चिंता अधिक होनेसे वह अधिक समय स्वानुभवमें नहीं ठहर सक्ता है। प्रयत्न एक यही रहता है कि स्वानुभव दशामें अधिक रहूं। कषायके उदयसे व

आत्मवीर्यकी कमीसे वह लाचार हो जाता है। सम्यग्दृष्टीका लक्ष्य एक निर्वाण ही हो जाता है। वह अवश्य निर्वाणपुरमें पहुंच जायगा।

देवसेनाचार्य तत्वसारमें कहते हैं—

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्ववावडो चित्तो।
उग्गतवंपि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ॥ ३३॥

भावार्थ—जबतक चित्त परद्रव्यके व्यहहारमें रहता है व संलग्न है, तबतक भव्यजीव कठिन २ तप करता हुआ भी मोक्षको नहीं पाता है परंतु शुद्ध आत्मीक भावोंका लाभ होनेपर वह शीघ्र ही मोक्षको पालेता है।

सम्यक्ती ही पंडित व मुखिया है।

जो सम्मत्त-पहाण वुहु सो तइलोय-पहाणु।
केवल-णाण वि लहु लहइ सासय-सुक्ख-णिहाणु॥९०॥

अन्वयार्थ—(जो सम्मत्त-पहाण) जो सम्यग्दर्शनका स्वामी है (वुहु) वह पंडित है (सो तइ लोय पहाणु) वही तीन लोकमें प्रधान है। सासय सुक्ख णिहाणु केवल-णाण वि लहु लहइ) सो अविनाशी सुखके निधान केवलज्ञानको शीघ्र ही पालेता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सर्व गुणोंमें प्रधान है। इसके होते हुए ज्ञान सम्यग्ज्ञान व चारित्र सम्यक्चारित्र होजाता है। जैसे १के अंक सहित विन्दी सफल होती हैं, नहीं तो निष्फल, है वैसे सम्यक्त सहित ज्ञान व चारित्र मोक्षकी तरफ लेजानेवाले हैं। यदि सम्यक्त न हो तो केवल पुण्य बांधके संसारके भ्रमणके ही कारण हैं।

जैसे मूल विना वृक्ष नहीं, नीव विना घर नहीं वैसे ही सम्यक्तके बीज विना धर्मरूपी वृक्ष नहीं उगता है। जिसको अनेक

शास्त्रोंका ज्ञान हो, परंतु सम्यक्त न हो तो वह ज्ञानी पंडित नहीं है। सम्यक्तके होते हुए ही वह ज्ञानी है, उसका शास्त्र ज्ञान सफल है। द्वादशांगवाणीका सार यही है-जो अपने आत्माको परद्रव्यांसे परभावोंसे भिन्न व शुद्ध द्रव्य जाना जावे व शंका रहित विश्वास लाया जावे। यही निश्चय सम्यग्दर्शन है।

तीन लोककी सम्पदा सम्यग्दर्शनके लाभके समान कुछ नहीं है। एक नीच चाण्डाल पुरुप यदि सम्यग्दर्शन सहित है तो वह पूज्यनीय देव है, परंतु एक नवम ग्रैवेयिकका अहमिंद्र सम्यक्तके विना पूज्य नहीं है। एक गृहस्थ सम्यग्दर्शन सहित हो तो वह उस मुनिसे उत्तम है जो मिथ्यादर्शन सहित चारित्र पालता है। सम्यग्दर्शन सहित नरकका वास भी उत्तम है। सम्यग्दर्शन रहित स्वर्गका वास भी ठीक नहीं है।

सम्यग्दर्शनका इतना महात्म्य इसीलिये कहा गया है कि इसके लाभमें अनादिकालका अन्धेरा मिट जाता है व प्रकाश होजाता है। जो संसार प्रिय भासता था वह त्यागनेयोग्य भासने लगता है। जो सांसारिक इन्द्रिय सुख ग्रहण करनेयोग्य भासता था वह त्यागने योग्य भासता है। जिस अतीन्द्रिय स्वाधीन सुखकी खबर ही नहीं थी उसका पता लग जाता है व उसका स्वाद भी आने लगता है। सम्यग्दृष्टीके भीतर सच्चा ज्ञान होता है कि मेरा आत्मद्रव्य परम शुद्ध ज्ञातादृष्टा परमात्मस्वरूप है। मेरी सम्पत्ति मेरे ही अविनाशी ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुण हैं। मेरा अहंभाव अब अपने आत्मामें है व ममकार भाव अपने ही गुणोमें है। पहले में कर्मजनित अपनी अवस्थाओंको अपनी मानता था कि मैं नारकी हूं, तिर्यंच हूं, मनुष्य हूं, देव हूं। मैं सुन्दर हूं, असुन्दर हूं, रोगी हूं, निरोगी हूं, क्रोधी हूं, मानी हूं, मायावी हूं, लोभी हूं, स्त्री हूं, पुरुप हूं, नपुंसक हूं, शोकी

हूं, भयवान हूं, दुःखी हूं, सुखी हूं, पुण्यका कर्ता हूं, पापका कर्ता हूं, परोपकारी हूं, दानी हूं, तपस्वी हूं, विद्वान हूं, व्रती हूं, श्रावक हूं, मुनि हूं, राजा हूं, प्रधान हूं। इसी तरह पर वस्तुओंको अपनी मानकर ममकार करता था कि मेरा धन है, खेत है, मकान है, ग्राम है, राज्य है, मेरे वस्त्र हैं, आभूषण हैं, मेरी स्त्री है, मेरे पुत्र पुत्री है, मेरी भगिनी है, मेरी माता है, मेरा पिता है, मेरी सेना है, मेरे हाथी घोड़े हैं, मेरी पालकी है। इस अहंकार ममकारमें अन्धा होकर रात दिन कर्मजनित संयोगोंमें ही क्रीड़ा किया करता था। इष्टके ग्रहण व अनिष्टके त्यागमें उद्यमी था। इस अज्ञानका नाश होते ही सम्यक्तीका परभावोंमें अहंकार व परपदार्थोंमें ममकार विलकुल दूर होजाता है।

वह ग्रहस्थीमें जबतक रहता है तबतक कर्मोंके उदयको उदय मानकर सर्व गृहस्थ संबंधी लौकिक क्रियाको अपने आत्मीक कर्तव्यसे भिन्न जानता है। लिप्त नहीं होजाता है। भीतर वैरागी रहता है। कषायका उदय जब शमन होता है तब गृह त्यागकर साधु हो जाता है। सम्यक्ती जीव सदा ही भेद विज्ञानके द्वारा अपने शुद्धात्माको भिन्न ध्याता है। धीरे२ आत्माको निर्मल करता है। सम्यक्ती साधु ही क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर मोहका व शेष ज्ञानावरणादिका पूर्ण क्षय करके केवलज्ञानी अरहंत परमात्मा होजाता है तब अविनाशी अनंत सुखका भोगनेवाला होजाता है। सम्यक्तके समान कोई मित्र नहीं है, यही सच्चा मित्र है जो संसारके दुःखसे छुड़ाकर निर्वाणमें पहुंचा देता है।

आत्मानुशासनमें कहा है—

समबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम्॥ १५॥

भावार्थ—शांत भाव, ज्ञान, चारित्र, तपका मूल्य कंकड़ पाषा-

णके समान सम्यग्दर्शनके विना तुच्छ है। यदि सम्यग्दर्शन सहित हो तो उनका मूल्य महान रत्नके समान होजाता है।

आत्मामें स्थिरता संवर व निर्जराका कारण है।

अजरु अमरु गुण-गण-णिलउ जहि अप्पा थिरु ठाई।
सो कम्मेहि ण बंधियउ संचिय-पुव्व विलाइ ॥९१॥

अन्वयार्थ—(जहि अजरु अमरु गुण-गण-णिलउ अप्पा थिरु ठाई) जहां अजर अमर गुणोंका निधान आत्मा स्थिर होजाता है (सो कम्मेहि ण बंधियउ) वहां वह आत्मा नवीन कर्मोंसे नहीं बंधता है (पुव्व संचिय विलाइ) पूर्वमें संचितकर्मोंका क्षय करता है।

भावार्थ—यह आत्मा निश्चयसे जन्म, जरा, मरणसे रहित अविनाशी है तथा सामान्य व विशेष गुणोंका समूह है। कर्मोंसे व शरीरोंसे भिन्न जब अपने आत्माको देखा जाता है तो वह शुद्ध ही दिखता है। जैसे मिट्टी सहित पानीको जब पानीके स्वभावकी अपेक्षा देखा जावे तो पानी शुद्ध ही दिखता है। भेदविज्ञानकी शक्तिसे अपने आत्माको कर्मोंसे भिन्न व कर्मोदयजनित भावोंसे भिन्न सहज ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यका सागर निरंजन परमात्मादेव ही देखना चाहिये। सम्यग्दृष्टीको ऐसा ही श्रद्धान होता है।

इस श्रद्धान व ज्ञानके वलसे सम्यग्दृष्टी जीव अपने आत्मामें स्थिर होनेका पुरुषार्थ करता है। जबतक स्वानुभव या आत्मामें थिरता प्राप्त करता है तबतक पूर्व बांधे कर्मोंकी निर्जरा बहुत होती है। गुणस्थानोंकी रीतिके अनुसार बंध नियमित प्रकृतियोंका होता है। तथापि घातीय कर्मोंमें अनुभाग बहुत अल्प पड़ता है। अघातीयमें पाप कर्मोंका बंध नहीं होता है, पुण्य कर्मोंका ही होता है। उनमें

अनुभाग अधिक पड़ता है, स्थिति आयुके सिवाय सात कर्मोकी कम पड़ती है।

बंधका उदय सूक्ष्मसांपराय दशवें गुणस्थान तक चलता है। क्योंकि वहांतक लोभ कषायका उदय है। यहींतक सांपरायिक आस्रव है। यहींतक उपयोगकी चंचलता है। उपशांत कषायका काल अन्तर्मुहूर्त है। यहां वीतरागता है। क्षीणकषायमें भी वीतरागता है, सयोग केवलीमें भी वीतरागता है। इन तीनों गुणस्थानोंमें योगोंकी चंचलता है। इसमें ईर्यापथ आस्रव एक सातावेदनीय कर्मका होता है। कर्म आते हैं, फल देकर चले जाते हैं।

जहां आत्मामें थिरता है वहां विशेष कर्मोंकी निर्जरा होती है। क्षीणमोह गुणस्थानमें थिरतारूप एकत्व वितर्क अविचार नामका दूसरा शुक्लध्यान पैदा होजाता है तब एक ही अन्तर्मुहूर्तमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्मकी निर्जरा होजाती है। और यह आत्मा अरहन्त परमात्मा होजाता है। तेरहवें व चौदहवेंमें आत्मामें परम स्थिरता है इससे बंध नहीं होता है। पुरातन कर्म झड़ते जाते हैं। चौदहवेंके अन्तमें यह आत्मा कर्म रहित होकर सिद्ध होजाता है।

आत्मामें थिरता होनेका काम चौथे गुणस्थानमें प्रारम्भ होजाता है। वहां स्वरूपाचरण चारित्र है जो अनंतानुबंधी कषायके उदयके न होनेपर प्रगट होजाता है।

पांचवें देशसंयम गुणस्थानमें अप्रत्याख्यान कषायका उदय नहीं है इससे स्वरूपाचरणमें अधिक स्थिरता होती है। व निर्मलता भी होती है। पंचम गुणस्थानमें ग्यारह श्रेणियां हैं, उनमें चढ़ते हुए जैसे २ प्रत्याख्यान कषायका उदय मन्द होता है वैसे २ स्वरूपमें स्थिरता अधिक होती जाती है।

प्रमत्त गुणस्थानमें प्रत्याख्यान कषायका उदय नहीं रहता है तब और भी अधिक स्वरूपाचरणमें थिरता होती है। अप्रमत्तमें संज्वलन कषायका मंद उदय है तब प्रमाद भावसे रहित अधिक निश्चलता होती है। अपूर्वकरण गुणस्थानमें और भी संज्वलन मंद पड़ जाता है तब अधिक स्थिरता होती है। अनिवृत्तिकरणमें बहुत ही मंद कषाय होती हैं तब और भी अधिक थिरता होती है।

सूक्ष्मसांपरायमें केवल सूक्ष्म लोभका उदय है, अधिक थिरता व शांति है। इसतरह जैसे जैसे राग द्वेष विकार दूर होते जाते हैं वैसे वैसे आत्मामें स्थिरता बढ़ती जाती है। शुद्धात्माके स्वभावमें स्थिर होना या आत्मीक आनंदका पान करना ही एक उपाय है, जिससे संवर व निर्जरा होकर मोक्षका उपाय बनता है। इसलिये मुमुक्षुको पुरुषार्थ करके अपने ही शुद्धात्माकी भावना नित्य करना चाहिये।

इष्टोपदेशमें कहा है—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥ ४९ ॥

भावार्थ—मोक्षके प्रेमियोंका कर्तव्य है कि वे आत्माके ही सम्बन्धमें प्रश्न करें, उसीका प्रेम करें व उसीको देखें व अनुभव करें। वह आत्मज्योति अज्ञानसे रहित है, परम ज्ञानमय है व सबसे महान है।

आत्मरमी कर्मोंसे नहीं बन्धता।

जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणि-पत्त कया वि।
तह कम्मेंहिं ण लिप्पियइ जइ रइ अप्प-सहावि ॥९२॥

अन्वयार्थ—(जह कमलणि-पत्त कया वि सलिलेण ण

लिप्पियइ) जैसे कमलिनीका पत्ता कभी भी पानीसे लिप्त नहीं होता (तह जइ अप्प-सहावि रइ कम्मंहिं ण लिप्पियइ) वैसे ही यदि आत्मीक स्वभावमें रत हो तो जीव कर्मोंसे लिप्त नहीं होता है।

भावार्थ—आत्मामें लीन भव्यजीव मोक्षमार्गी है। रत्नत्रयकी एकताको रखता है। वीतराग व समभावमें लीन होता है। रागद्वेष विहीन होता है। इससे कर्मोंसे नहीं बंधता है। बंधनाशक वीतराग भाव है। बंधकारक रागद्वेष मोह है। मोह मिथ्यात्व भावको कहते हैं। रागद्वेप कपायको कहते हैं। सम्यक्ती चौथे गुणस्थानमें हो तो अपने आत्मरमणताकी गाढ़ श्रद्धावश ४१ इकतालीस प्रकृतिका बंध नहीं करता है, उनको हम पहले गिना चुके हैं। सम्यक्ती नरक, तिर्यंचगति लेजानेवाली कर्मप्रकृतियोंको नहीं बांधता है। फिर जैसे२ गुणस्थानोंमें चढ़ता है, आत्मरमणताकी शक्ति विशेप प्रगट होजाती है, तब और अधिक बंधको घटाता जाता है। बंधकी इससे १२० प्रकृतियें गिनी गई हैं।

ज्ञानावरणीयकी ५ + दर्शनावरणीयकी ९ + वेदनीयकी २ + मोहनीयकी २६ (सम्यक्त व मिश्रका बंध नहीं होता है) + आयुकी ४ + नामकी ६७ पांच बंधन, पांच संघातन गिनके पांच शरीरके साथ मिला दिये वर्णादि २० की अपेक्षा चार ही जानें इस तरह १०+१६=२६ कर्म ९३ में घट गए + गोत्रकी २ + अन्तरायकी ५=१२०-ये प्रकृतियां नीचे लिखे प्रकार गुणस्थानोंमें व्युच्छित्ति पाती हैं। जिन गुणस्थानमें जितनी प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति है वे प्रकृतियां आगेके गुणस्थानोंमें नहीं बंधती हैं—

गुणस्थान	व्युच्छित्ति संख्या	नाम
(१) मिथ्यात्व—	१६–	मिथ्यात्व, हुण्डक संस्थान, नपुंसक वेद, असं० संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आताप, सूक्ष्म,

साधारण, अपर्याप्त, बेइंद्रिय, तेंद्रिय, चौइंद्रिय, नरकगति, नरक गत्या०-नरक आयु-१६ ।

(२) सासादन—२५ अनन्तानुबन्धी ४ कषाय, स्त्यानगृद्धि, निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, नग्रोधादि ४ संस्थान, वज्रनाराचादि ४ संहनन, अप्रशस्त विहायोगति, स्त्री वेद, नीचगोत्र, तिर्यंचगति, तिर्यंच गत्या०, उद्योत, तिर्यंच आयु=२५

(३) मिश्र ० ०

(४) अविरत सम्यक्त—१० अप्रत्याख्यान कषाय ४, वज्रवृषभ नाराच संहनन, औदारिक शरीर, औ० अंगोपांग, मनुष्यगति, मनुष्यगत्या०, मनुष्य आयु=१०

(५) देशविरत— ४–प्रत्याख्यान कषाय ४

(६) प्रमत्तविरत—६–अथिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयश, अरति, शोक=६

(७) अप्रमत्तविरत—१ देवायु

(८) अपूर्वकरण—३६ निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्त, विहायोगति, पंचेन्द्रिय, तैजस, कार्मण, आहारक शरीर, अहारक अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, देवगति, देवगत्या०, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, वर्णादि ४, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उश्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, आदेय, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा=३६

(९) अनिवृत्तिकरण–५, पुंवेद, संज्वलन कषाय ४ =५

(१०) सूक्ष्मसांपराय–१६, ज्ञानावरण ५, दर्शना० ४, अन्तराय ५, यश, उच्च गोत्र=१६

(११) उपशांत कषाय—० ०

(१२) क्षीणकषाय—०

(१३) सयोगकेवली–१ सातावेदनीय।

१२०

आत्मानुभवके प्रतापसे कर्मबन्ध घटता जाता है। अयोग-केवली पूर्ण आत्मरमी हैं। योगोंकी चंचलता नहीं है इससे कोई कर्मका बंध नहीं होता है। समयसारकलशमें कहा है—

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः।

तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥ ७–३ ॥

भावार्थ—ज्ञानीके राग द्वेष मोह नहीं होते इसलिये ज्ञानीको बन्ध नहीं होता, वे ही बन्धके कारण हैं। आत्मरमण तत्वसे वीत-रागभाव बढ़ता है, वन्ध रुकता है।

समसुख भोगी निर्वाणका पात्र है।

जो समसुक्ख णिलीणु बुहु पुण पुण अप्पु मुणेइ।

कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाणु लहेइ ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थ—(जो बुहु सम सुक्ख णिलीणु पुण पुण अप्पु मुणेइ) जो ज्ञानी सम सुखमें लीन होकर वार वार आत्माका अनुभव करता है (सो वि फुडु कम्मक्खउ करि लहु णिव्वाणु लहेइ) वही प्रगटपने कर्मोंका क्षय करके शीघ्र ही निर्वाणको पाता है।

भावार्थ—निर्वाणका उपाय कष्ट सहन नहीं है किंतु समभा-

वके साथ सुखका भोग है। अपने आत्माका आत्मारूप श्रद्धान, ज्ञान व उसीमें चर्या अर्थात् आत्मानुभव ही निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष-मार्ग है। वहां आत्मा, आत्मामें ही रत होता है, मनके विचार बंद होजाते हैं, वचन व कायकी क्रिया थिर होजाती है। परिणाम रागद्वेषसे रहित सम व शांत होजाते हैं तब ही आत्मस्थितिके होते ही आत्मीक सुखका स्वाद आता है।

जैसे मिश्रीके खानेसे मीठेपनका, नीमके खानेका कडुवापनका लवणके खानेसे खारेपनका स्वाद आता है, वैसे ही आत्माके शुद्ध स्वभावमें रमण करनेसे आत्मानंदका स्वाद आता है। उसी समय पूर्व बांधे हुये कर्मोंकी स्थिति घटती है। आयुकर्मको छोड़कर शेषकी स्थिति कम होती है। पापकर्मोंका रस सूखता है, वे विशेष गिरने लगते हैं, विना फल दिये चले जाते हैं, पुण्यकर्मोंका रस बढ़ता है, वे प्रचुर फल देकर जाते हैं। घातीयकर्म निर्बल पड़ते हैं, नवीन कर्मोंका भी संवर होता है। आत्मानुभवके समय गुणस्थानकी परि-पाटीके अनुसार जिन२ घातीय कर्मकी प्रकृतियोंका बंध होता है, उनमें स्थिति व अनुभाग अल्प पड़ता है। अघातीयमें पुण्यक-र्मका बंध है, कम स्थिति व अधिक रसदार होता है। जब आस्रव कम व निर्जरा अधिक तब मोक्षमार्गका साधन होता है।

सच्चे सुखका भोग सम्यग्दृष्टीको भलेप्रकार आत्माके सन्मुख होनेसे होता है। आत्मध्यान ही मोक्षमार्ग है। आत्मध्यानी ही गुणस्थानोंकी श्रेणीपर चढ़ सक्ता है। मुमुक्षुको एक आत्मध्यानका ही अभ्यास करना चाहिये। इसके दो भेद हैं—**निर्विकल्प आत्मध्यान, सविकल्प आत्मध्यान।** निर्विकल्प आत्मध्यानके द्वारा निर्विकल्प आत्मध्यान होता है। निर्विकल्प ध्यान ही वास्तवमें ध्यान है। यही मोक्षका साक्षात् उपाय है। सविकल्प ध्यान अनेक प्रकार हैं। निश्चय नयसे अपने

आत्मीक तत्वका विचार करना यह निकट साधन है। आत्माके गुणोंकी भावना करते करते यकायक थिरता होती है। निश्चय नयसे अपने आत्माको ही शुद्ध देखे व जगतकी सर्व आत्माओंको भी शुद्ध देखे। शेष पांच द्रव्योंको मूल स्वभावमें देखे। इस दृष्टिके दीर्घ अभ्याससे राग द्वेष न रहेंगे, द्वेष भावकी मात्रा घटती जायगी।

व्यवहार नयके द्वारा देखनेसे पूजक पूज्य, बंध मोक्षकी कल्पना होती है। निश्चय नयसे आप ही पूज्य है, आप ही पूजक है, बंध मोक्षका विकल्प ही नहीं है। त्रिकाल शुद्ध आत्माका दर्शन निश्चय नय कराता है। निश्चय नयका विचार भी सविकल्प ध्यान है। साधककी निर्बलतासे साधु हो या गृहस्थ हो जब उपयोग निश्चयनयके विचारमें थिर नहीं हो तो फिर व्यवहारनयसे पिंडस्थ, पदस्थ रूपस्थ ध्यानके द्वारा व पांच परमेष्ठीके स्वरूपके मनन द्वारा—ॐ, अर्हं, ह्रीं, श्रीं मंत्रके द्वारा ध्यान करे।

कदाचित् इसमें भी उपयोग न जमे तो अध्यात्मिक ग्रंथ पढ़ें, स्तुति पढ़ें, भक्ति या वंदना करे, उपदेश देवे, ग्रंथ लिखे, साधु-सेवा करे, अशुभ भावोंसे बचनेके लिये शुभ भावोंमें वर्तना व व्यवहारधर्मके भेदोंकी साधना सब सविकल्प धर्मध्यान है। गृहस्थीका मन जब निश्चयनयके विचारमें न लगे तो वह देवपूजादि छः कर्मोंका साधन करे। निष्काम भावसे जगत मात्रकी सेवा करे, तीर्थयात्रा करे, सर्व ही प्रकारके व्यवहार धर्मको करके उपयोगको अशुभसे बचाकर शुद्ध भावमें चढ़नेका प्रयत्न करे। निश्चय व व्यवहार धर्म दोनोंकी डोरीको हाथमें रखकर साधन करे। निश्चयधर्मको उपादान साधन व व्यवहारको निमित्त साधन जाने। जो कोई निर्वाणका लक्ष्य रखके सब सुखको भोगता हुआ आत्मानुभवका अभ्यास करे वह शीघ्र ही निर्वाणका लाभ करेगा।

समयसारकलशमें कहा है—

अत्यन्तं भावयित्वा विरतमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः ।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥४०—१०॥

भावार्थ—कर्म करनेके प्रपंचसे व कर्मफलसे निरन्तर विरक्त भावकी भलेप्रकार भावना करे। सर्व प्रकार अज्ञान चेतनाको नाश-करनेके भावको भलेप्रकार नाश करावे। अपने आत्मीक रससे पूर्ण अपने स्वभावको जानकर ज्ञानचेतनाको या आत्मानुभूतिको आनंद सहित केल करावे, व सर्वकाल शांत रसका ही पान करे। यही ज्ञानीको प्रेरणा है।

आत्माको पुरुषाकार ध्यावे।

पुरिसायार-पमाणु जिय अप्पा एहु पवित्तु ।
जोइज्जइ गुण-गण-णिलउ णिम्मल-तेय-फुरंतु ॥ ९४ ॥

अन्वयार्थ—(जिय) हे जीव! (एहु अप्पा पुरिसायार-पमाणु पवित्तु गुणगणणिलउ णिम्मलतेय-फुरंतु जोइज्जइ) इस अपने आत्माको पुरुषाकार प्रमाण, पवित्र, गुणोंकी खान, व निर्मल तेजसे प्रकाशमान देखना चाहिये।

भावार्थ—आत्माकी भावना करनेके लिये शिक्षा दी है कि आत्माको ऐसा विचारना चाहिये कि उसका आत्मा अपने पुरुषके आकार प्रमाण है, सर्व शरीरमें व्यापक है। यदि पद्मासनसे बैठे तो आत्माको पद्मासन विचारे। यदि कायोत्सर्ग आसनसे खड़ा हो तो आत्माको उसी प्रकारका विचारे। यद्यपि आत्मा असंख्यात प्रदेशी

है तौभी जिस शरीरमें रहता है, शरीरके आकारप्रमाण प्रायः करके रहता है। जैसे दीपकका प्रकाश जैसा वर्तन होता है वैसा व्याप कर रहता है। इस आकारके धारी आत्माको पवित्र देखें कि यह निर्मल जलके समान शुद्ध स्फटिकके समान परम शुद्ध है। इसमें न कर्मोंका मैल है न रागादि विकारोंका मैल है न अन्य किसी शरीरका मैल है। द्रव्यार्थिक नयसे आत्माको सदा ही निरावरण देखे। न यह कभी बंधा था न बंधा है न कभी बंधेगा। फिर देखे कि सामान्य व विशेष गुणोंका सागर है। यह ज्ञाताद्रष्टा है, वीतराग है। परमानन्द मय है, परम वीर्यवान है, शुद्ध सम्यक्त गुण धारी है, परम निर्मल तेजमें चमक रहा है। इस प्रकार अपने शरीरमें व्यापक आत्माको वार वार देखकर चित्तको रोके। यह ध्यानका प्रकार है। ध्याताको परम निश्चिन्त होना चाहिये। उत्तम ध्याता निर्ग्रंथ साधु होते हैं। परिग्रहका स्वामीपना होनेसे ध्यानके समय उसकी चिंता वाधा करती हैं। इसलिये साधुगण सर्व परिग्रहका त्याग करके धन कुटुम्ब क्षेत्रादिके रक्षणादिके विकल्पोंसे शून्य होते हैं। देशव्रती मध्यम ध्याता है, अविरत सम्यक्ती जघन्य ध्याता है। ध्याताको सम्यग्ज्ञान होना ही चाहिये। क्योंकि जबतक अपने आत्माके शुद्ध स्वभावका श्रद्धान नहीं होगा तब तक उसका प्रेम नहीं होगा। प्रेमके विना उसमें आसक्ति या थिरता नहीं होगी। ध्याताको यह श्रद्धान होना ही चाहिये कि मैं ही परमात्मा रूप हूं, मुझे जगतके इंद्र चक्रवर्ती आदि पदोंसे कोई राग भाव नहीं है, केवल निर्वाणका ही ध्येय है।

माया मिथ्या निदान तीन शल्योंसे रहित, सर्व शंकाओंसे रहित, परम निष्पृही, सर्व तृष्णा रहित होना चाहिये। ध्यानके समय सम्यग्ज्ञान व वैराग्यकी मूर्ति होजाना चाहिये। ऐसा ध्याता ध्यानको ध्यानेके लिये निराकुल क्षोभ रहित स्थानमें बैठे। जितना

आत्मा स्वयं कभी रागादि भावोंमें परिणमन नहीं करता है। यदि मोहनीय कर्मकी रागादि प्रकृतियोंका उदय होता है तब ही रागादि रूप परिणमता है। यह स्फटिकके समान स्वच्छ परिणमनशील है।

देहादिरूप मैं नहीं हूं, यही ज्ञान मोक्षका बीज है।

देहादिउ जो परु मुणइ जेहउ सुण्णु अयासु।
सो लहु पावइ (?) बंभु परु केवलु करइ पयासु ॥५८॥

अन्वयार्थ—(जेहउ अयासु सुण्णु) जैसे आकाश पर पदार्थोंके साथ सम्बन्ध रहित है, असंग अकेला है (देहादिउ जो परु मुणइ) वैसे ही शरीरादिको जो अपने आत्मासे पर जानता है (सो परु बंभु लहु पावइ) वही परम ब्रह्म स्वरूपका अनुभव करता है (केवलु पयासु करइ) व केवलज्ञानका प्रकाश करता है।

भावार्थ—जैसे आकाशके भीतर एक ही क्षेत्रमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, असंख्यातकालाणु, अनंत जीव, अनंतानंत पुद्गला-द्रव्य रहते हैं तथापि उनकी परिणतिसे आकाशमें कोई विकार या दोष नहीं होता है—आकाश उनसे बिलकुल शून्य, निर्लेप, निर्विकार बना रहता है, कभी भी उनके साथ तन्मय नहीं होता है।

आकाशकी सत्ता अलग व आकाशमें रहे हुए चेतन अचेतन पदार्थोंकी सत्ता अलग रहती है वैसे ही ज्ञानीको समझना चाहिये कि आत्मा आकाशके समान अमूर्तीक है, आत्माके सर्व असंख्यात प्रदेश अमूर्तीक हैं। मेरी आत्माके आधारमें रहनेवाले तैजस शरीर, कार्मण शरीर, औदारिक शरीर व शरीरके आश्रित इन्द्रियां, मन व वचन तथा उनके परिणमनसे सब मेरे आत्मासे भिन्न हैं।

बंधप्राप्त कर्मोंके उदयसे होनेवाले तीव्र कषाय या मंदकषायके

होना चाहिये। इसका एक ही अर्थ है तथा आत्माका व परका ज्ञान व श्रद्धान करके जैसा यथार्थ स्वरूप है वैसा जाने, फिर निःप्रयोजन जानकर परको छोडकर केवल अपने आपको ही जाने व देखे।

आत्मज्ञानी सर्व शास्त्रोंका ज्ञाता है।

जो अप्पा सुद्धु वि मुणइ असुइ-सरीर-विभिन्नु।
सो जाणइ सत्थइँ सयल सासय-सुक्खहँ लीणु ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थ—(जो असुइ सरीर विभिन्नु) जो कोई इस अपवित्र शरीरसे भिन्न (सासय-सुक्खहँ लीणु) व अविनाशी सुखमें लीन (सुद्धु वि अप्पा मुणइ) शुद्ध आत्माका अनुभव करता है (सो सयल सत्थइँ जाणइ) वही सर्व शास्त्रोंको जानता है।

भावार्थ—शास्त्रोंका ज्ञान तब ही सफल है जब अपने आत्माको यथार्थ पहचान ले, उसकी रुचि प्राप्त करले व उसके स्वभावका स्वाद आने लग जावे। क्योंकि शुद्धात्माका अनुभव ही मोक्षमार्ग है। शुद्ध स्वरूपकी भावनासे ही आत्मा शुद्ध होते होते परमात्मा होजाता है। जिनवाणीके अभ्यासका भलेप्रकार उद्योग करके अपने आत्माको यथार्थ जाननेका हेतु रक्खे।

वर्तमानमें यह अपना आत्मा कर्म संयोगसे मलीन दिख रहा है व इसकी यह मलीनता प्रवाहरूपसे अनादि है। मलीन पानीको दो दृष्टियोंसे देखना योग्य है। व्यवहारनयसे यह पानी मैला ही है। क्योंकि मिट्टी मिली है व मिट्टीकी मलीनताने जलकी स्वच्छताको छिपा दिया है। निश्चयनयसे देखा जावे तो मिट्टी भिन्न है, पानी भिन्न है, तब वह जल स्वभावमें निर्मल दिखता है। इसी तरह यह आत्मा

कर्म पुद्गलोंके संयोगसे व्यवहारनयसे अशुद्ध ही झलकता है, कर्मोंने इसके शुद्ध स्वभावको ढक दिया है।

निश्चय नयसे यही आत्मा इस अपवित्र औदारिक शरीरसे व तैजस व कार्मण शरीरसे व रागादि विकारी भावोंसे भिन्न परमानंदमयी ही परम शुद्ध ज्ञाता दृष्टा परमात्मा रूप दीखता है। यही दृष्टि ध्याताके लिये परम उपकारी है। अतएव जिनवाणीके भीतर दोनों नयोंकी मुख्यतासे आत्माके स्वरूपके बतानेवाले ग्रंथोंका भलेप्रकार अभ्यास करे। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष इन सात तत्वोंको समझनेसे व्यवहार नयसे आत्माके अशुद्ध स्वरूपका व अशुद्धसे शुद्ध होनेका सर्व ज्ञान होता है।

द्रव्यसंग्रह तथा तत्वार्थसूत्र ये दो ग्रंथ बड़े उपयोगी हैं, इनका सूक्ष्मतासे अभ्यास करके इनकी टीकाएं देखें–बृहत् द्रव्यसंग्रह व सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक। विशेष जाननेके लिये गोम्मटसार जीवकांड व कर्मकांडका भलेप्रकार अभ्यास करे व आचार शास्त्रोंसे मुनि व श्रावककी बाहरी क्रियाके पालनेकी विधि जाने। मूलाचार व रत्नकरंड श्रावकाचारका मनन करे। महान् पुरुषोंके जीवन चरित्रको भी जाने कि उन्होंने मोक्षमार्गका किसतरह साधन किया था। कर्म सापेक्ष आत्माकी अवस्थाका ठीक परिचय प्राप्त करे। फिर निश्चय नयकी मुख्यतासे आत्माको जीतनेके लिये महान् योगी श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, अष्टपाहुड, समयसार, नियमसारका भलेप्रकार अभ्यास करे, परमात्म-प्रकाशका मनन करे, तब दर्पणके समान विदित होगा कि मेरे ही शरीरके भीतर परमात्मादेव विराजमान हैं।

शास्त्रोंके ज्ञानके लिये व्याकरण व न्यायको भी जाने। तब शब्द ज्ञान व युक्तिका ज्ञान ठीक २ होगा व अन्य दर्शनवालोंके मतसे

जिन दर्शनको तुलना करके जाननेकी योग्यता प्राप्त होगी। जो केवल व्यवहारनयसे ही आत्माको जाने, निश्चयनयसे न जाने, उसको अपने शुद्ध तत्वका निश्चय नहीं होगा और जो व्यवहारको न जाने, केवल निश्चयको ही जाने, वह अशुद्धताके मेटनेका उपाय नहीं कर सकेगा।

दोनों नयोंसे विरोध रहित ज्ञान जब होगा तब ही भेदविज्ञान झटेगा। भेदविज्ञानके अभ्यास विना तत्वज्ञानका लाभ नहीं होगा, तत्वज्ञान विना आत्माका यथार्थ मनन व अनुभव नहीं होगा। सम्यग्दर्शनका लाभ नहीं होगा। जो शास्त्रोंको पढ़कर व्यवहार-मगन रहे व आत्मीक आनंदका स्वाद न ले उसका परिश्रम सफल नहीं होगा। हेतु शास्त्रोंके पढ़नेका केवल एक अपने आत्माका यथार्थ ज्ञान है। पुरुषार्थ-सिद्ध्युपायमें कहा है—

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥ ७ ॥

भावार्थ—मुनिराजोंने अज्ञानीको समझानेके लिये असत्यार्थको या अशुद्ध पदार्थको कहनेवाले व्यवहारनयका उपदेश किया है। परंतु जो केवल व्यवहारनयके विस्तारको जाने व निश्चयनयके नियमको न जाने वह जिनवाणीका यथार्थ ज्ञाता नहीं होसक्ता। बालकको बिलाव दिखाकर सिंह बतादिया जाता है। यदि कभी उसे सिंहका ज्ञान न कराया जावे तो वह बालक बिलावको ही सिंह समझा करेगा, उसी तरह यदि निश्चयका ज्ञान न कराया जावे तो निश्चयको न जाननेवाला व्यवहारको ही निश्चय व सत्य व मूल पदार्थ समझ बैठेगा।

परभावका त्याग कार्यकारी है।

जो णवि जाणइ अप्पु परु णवि परभाउ चएइ।
सो जाणउ सत्थइँ सयल ण हु सिवसुक्खु लहेइ ॥९६॥

अन्वयार्थ—(जो अप्पु परु णवि जाणइ) जो कोई आत्माको व परपदार्थको नहीं जानता है (परभाउ णवि चएइ) व परभावोंका त्याग नहीं करता है (सो सयल सत्थइं जाणइ) वह सर्व शास्त्रोंको जानता है तौ भी (सिवसुक्खु ण हु लहइ) मोक्षके सुखको नहीं पावेगा।

भावार्थ—अनेक शास्त्रोंके पढ़नेका फल भेदविज्ञानकी प्राप्ति है। अनादिकालसे आत्माका व सूक्ष्म कर्म पुद्गलोंका संयोग संबंध ऐसा गाढ़ है कि कोई भी समय देखो आत्माके एक एक प्रदेशमें अपने पुद्गलकर्म वर्गणाएं पाई जाती हैं। उन कर्मोंका उदय भी हर-एक समय है, हर समय मोह व राग द्वेषसे उसकी अनुभूति मलीन होरही है। इसको कभी भी आत्माके शुद्ध ज्ञानका अनुभव नहीं आता है। यह कर्मचेतना व कर्मफल चेतनामें ही लवलीन है। यह प्राणी अपनी इंद्रियोंकी तृष्णाकी पूर्तिमें मन वचन कायसे अनेक काम करनेमें तन्मय रहता है।

धन कमानेका, मकान बनानेका, वस्त्र सीने सिलानेका, आभूषण बनवानेका, शृंगार करनेका, रसोई बनानेका, सामग्री एकत्र करनेका, बाधकोंको दूर रखनेका, परिग्रहकी रक्षाका आदि उद्यममें तल्लीन होकर कर्मचेतना रूप वर्तता है। जब असाताका तीव्र उदय आजाता है तब दुःख व सुखमें तन्मय होकर कर्मफलचेतनारूप होजाता है। उन्मत्तकी तरह जगतके पदार्थोंमें आसक्त रहता है, विषयसुखकी रात दिन चाह किया करता है।

इसने कभी भी यह नहीं जाना कि मैं आत्मा द्रव्य पुद्गलसे सर्वथा भिन्न हूं। मैं न पशु हूं, न पक्षी हूं, न मानव हूं, न रागीद्वेषी हूं। मैं तो परम वीतरागी ज्ञान दर्शन सुख वीर्यका धारी कर्मकलंक रहित परमात्मा हूं। और सब प्रकारके भाव व पदार्थ उससे निराले हैं। जिन भावोंमें अनादिकालसे आपा माना किया उन ही भावोंको पर जाननेकी व अपने शुद्ध वीतराग विज्ञानयम भावको पहचाननेकी आवश्यक्ता है। अतएव शास्त्रोंके पढ़नेका फल यही है जो अपने आत्माको आत्मारूप व परको पररूप जाने।

जिसकी बुद्धिमें भेद विज्ञानका प्रकाश न हो उसका शास्त्र-ज्ञान मोक्षमार्गमें लाभकारी नहीं होगा। भेद विज्ञान होनेपर यह प्रतीति जमनी चाहिये कि सच्चा आनंद मेरे ही आत्माका गुण है। जैसे मिश्रीका स्वाद पानेके लिये मिश्री खानेमें उपयोगको जोड़ना पड़ता है। यदि उपयोग न थिर हो तो मिश्रीका स्वाद नहीं आएगा।

इसी तरह आत्मानंदके पानेके लिये कर्मकलंक रहित वीतरागी व ज्ञाताद्रष्टा अपने आत्माके भीतर श्रद्धा व ज्ञान सहित रमण करना पड़ेगा। तब अन्य सर्व पदार्थोंमें व भावोंमेंसे उपयोगको हटाना पड़ेगा। इसलिये परम सुखको अनंतकालके लिये निरन्तर भोग कर-नेके लिये ज्ञान व वैराग्य सहित आत्माका अनुभव प्राप्त करना चाहिये। जाने तो यह कि मैं निराला शुद्ध आत्माद्रव्य हूं। मैं ही परमेश्वर हूं, मैं ही परमदेव हूं, मैं ही उपासना करने योग्य हूं, व अपनी ही आराधनासे ही मोक्षका लाभ होगा। अद्वैत निर्विकल्प ध्यान ही संवर व निर्जराका कारण है। वैराग्य यह कि इस जगतके भोग विषके समान त्यागनेयोग्य हैं। लौकिक कोई पद इष्ट नहीं है, एक शिवपद कल्याणकारी है महान् वैराग्य यही है कि

तीन लोककी सम्पत्तिसे उदासीनता आजावे। एक निज स्वभावसे ही प्रेम उत्पन्न होजावे। ज्ञान व वैराग्य विना रत्नत्रयधर्मका स्वाद नहीं आयगा। मोक्षके सुखका उपाय निजात्मीक सुख या वेदन है। आत्मानंदका अनुभव ही ध्यानकी आग है जो कर्मोंको जलारही है। मुमुक्षुको योग्य है कि जिनवाणीका अभ्यास करके आत्माको व परपदार्थोंको ठीक ठीक जाने। जानकर परमसमभावी होगा। जैसे सूर्यका काम केवल जगतको प्रकाश करना है, किसीसे रागद्वेष करना नहीं है, समभावसे निर्विकार रहना है वैसा ही आत्माका स्वभाव समभावसे पदार्थोंको यथार्थ जानना है, किसीसे रागद्वेप नहीं करना है। जो समभावमें तिष्ठकर निज आत्माको ध्याता है वही निर्वाणके सुखको पाता है। **बृहत् सामायिक पाठमें** कहा है—

भवति भविनः सौख्यं दुःखं पुराकृतकर्मणः
　स्फुरति हृदये रागो द्वेषः कदाचन मे कथं।
मनसि समतां विज्ञायेत्थं तयोर्विदधाति यः
　क्षपयति सुधीः पूर्व्वं पापं चिनोति न नूतनं ॥१०२॥

भावार्थ—प्राणीको सांसारिक सुख दुःख अपने पूर्वमें वांधे कर्मोंके उदयसे होता है। तब ज्ञानीके मनमें किस तरह राग द्वेष पैदा होसक्ता है ? ज्ञानी रागद्वेपका स्वरूप जानकर उनको त्यागकर समताको मनमें धारण करता है। इसी उपायसे वह पूर्व पापको नाश करता है व नये कर्मका संग्रह नहीं करता है।

परम समाधि शिवसुखका कारण है।

वज्जिय सयल-वियप्पइँ परम-समाहि लहंति।
जं विंदहिं साणंदु क वि सो सिव-सुक्खं भणंति ॥९७॥

अन्वयार्थ—(सयल-वियप्पइं वज्जिय) सर्व विकल्पोंको त्यागने पर (परम समाहि लहंति) जो परम समाधिको पाते हैं (जं क वि साणंदु विंदहि) तव कुछ आनंदका अनुभव करते हैं सिव सुक्खं भणंति) इसी सुखको मोक्षका सुख कहते हैं।

भावार्थ—मोक्षका सुख आत्माका पूर्ण स्वाभाविक सुख है जो सिद्धोंको सदाकाल निरन्तर अनुभवमें आता है। ऐसे सुखका उपाय भी आत्मीक आनंदका अनुभव करना है। सुखी आत्मा ही पूर्ण सुखी होता है। आत्मीक सुखके स्वाद पानेका उपाय अपने ही शुद्ध आत्मामें निर्विकल्प समाधिका प्राप्त करना है।

तत्वज्ञानीको उचित है कि वह प्रथम गाढ़ विश्वास करे कि मैं ही सिद्ध सम शुद्ध हूं। मेरा द्रव्य कभी स्वभावसे रहित नहीं हुआ। कर्मोंके मैलसे स्वभाव रुक रहा है, परंतु भीतरसे नाश नहीं हुआ। जैसे मिट्टीके मिलनेसे पानीकी निर्मलता ढक जाती है, नाश नहीं होती है। निर्मली फल डाल देनेपर मिट्टी नीचे बैठ जाती है पानी साफ दिखता है। यह आत्मा अनादिसे आठ प्रकारके कर्मोंसे मिला है तो भी अपना स्वभाव बना हुआ है। सम्यग्दृष्टी जीव शुद्ध निश्चय नयके द्वारा अपने आत्माके साथ रहनेवाले सर्व संयोगोंको दूर करके आत्माको शुद्ध देखते हैं।

आगम ज्ञानकी श्रद्धापर जब अपने आत्माको बार बार शुद्ध भाया जाता है तब भावनाके दृढ़ संस्कारसे गाढ़ रुचि होजाती है। यही सम्यक्त है तब उपयोग स्वयं परसे छूटकर अपने आत्मामें ठहर जाता है। स्वानुभवकी कला सम्यक्त होते ही जग जाती है। इस समय काया थिर होती है, वचन विलास नहीं होता है, मनका चिन्तवन बंद होजाता है। यदि विकल्पोंसे रहित परम समाधि होती है, उसी समय आत्मीक आनन्दका स्वाद आता है।

इसीसे कर्मकी निर्जरा भी अधिक होती है। इसीको ध्यानकी आग कहते हैं।

सम्यक्तीको स्वानुभवके करनेकी रीति मिल जाती है। इसीको मोक्षका उपाय जानकर सम्यक्ती वारवार स्वानुभवका अभ्यास करके आत्मानन्दका भोग करता है। यदि कोई सम्यक्ती निर्ग्रन्थ मुनि हो व वज्रवृषभनाराच संहननका धारी हो और उसका स्वानुभव यथा-योग्य एक अंतर्मुहूर्त तक जमा रहे तो वह चार घातीय कर्मोंका क्षय करके परमात्मा होजावे। एक साथ ही अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्यको प्रकाश करले।

आत्मवीर्यकी कमीसे सर्व ही सम्यक्ती ऐसा नहीं कर सकते हैं तब शक्तिके अनुसार गृहस्थमें यदि रहते हैं तो समय निकाल कर आत्मानुभवके लिये सामायिकका अभ्यास करते हैं। अधिक देरतक सामायिक नहीं हो सकती है इसलिये सम्यक्ती गृहस्थ देरतक जिन-पूजा करते हैं, जिनेन्द्र गुण गान करते करते स्वानुभव पा लेते हैं। कभी अध्यात्म ग्रन्थोंका मनन करते हैं, कभी अध्यात्म चर्चा करते हैं कभी अध्यात्मीक भजन गाते हैं।

परिणामोंको पापके भावोंसे बचानेके लिये श्रावक बारह व्रत पालते हैं। निराकुल स्वच्छ भावोंके होनेपर ही स्वानुभवका काल अधिक रहता है। जब वैराग्य अधिक होजाता है तब सम्यक्ती गृह त्याग करके साधु होजाता है, तब परिग्रहके त्याग होनेपर व आरंभ न करनेपर निराकुलता विशेष प्राप्त होती है। क्षोभ रहित मन ही निश्चयनयके द्वारा सर्व जीवोंको समान देखकर रागद्वेषको जीतता है। वीतरागी होकर वारवार आत्मानुभव करता है। आत्मानुभवसे सच्चा आत्मीक आनंद पाता है। इसी उपायसे यह साधक मोक्षमार्गको तय करता हुआ बढ़ता जाता है, कभी न कभी निर्वाणका लाभ कर

लेता है। तत्वानुशासनमें कहा है—

समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नानुभूयते।
तदा न तस्य तद्ध्यानं मूर्छावान्मोह एव सः॥ १६९॥
तदेवानुभवंश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरं॥ १७०॥

भावार्थ—समाधिभावमें तिष्ठकर जो ज्ञान स्वरूप आत्माका अनुभव न हो तो वह उसके ध्यान नहीं है वह मूर्छावान या मोही है। जब ध्यान करते हुए आत्माका अनुभव प्रगट होता है तब परम एकाग्रता मिलती है तथा तब ही वह वचनोंके अगोचर आत्मीक आनंदका स्वाद भोगता है।

आत्मध्यान चार प्रकार है।

जो पिंडत्थु पयत्थु बुह रूवत्थु वि जिण-उत्तु।
रूवातीतु मुणेहि लहु जिम परु होहि पवित्तु॥९८॥

अन्वयार्थ—(बुह) हे पंडित! (जिण-उत्तु जो पिंडत्थु पयत्थु रूवत्थु वि रूवातीतु मुणेहि) जिनेन्द्र द्वारा कहे गए जो पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, व रूपातीत ध्यान हैं उनका मनन कर (जिम लहु परु पवित्तु होहि) जिससे तू शीघ्र ही परम पवित्र हो जावे।

भावार्थ—जैसे मैले वस्त्रको ध्यानपूर्वक रगड़नेसे साफ होता है वैसा ही यह अशुद्ध आत्मा आत्माके ध्यानसे शुद्ध होजाता है। ध्यान करनेकी अनेक रीतियाँ हैं। ज्ञानार्णव ग्रन्थमें पिंडस्थान, चार प्रकारके ध्यानोंका विस्तारसे वर्णन है। यहां संक्षेपमें कहा जाता है—

(१) पिंडस्थ—पिंड शरीरको कहते हैं उसमें विराजित

आत्माका ध्यान सो पिंडस्थध्यान है। इसकी पांच धारणाएं हैं- पृथ्वी, अग्नि, पवन, जल, तत्व रूपवती।

(१) पृथ्वी धारणा—ध्याता ऐसा विचारे कि मध्यलोक एक क्षीर सागर है, उसके बीचमें जम्बूद्वीपके बराबर एक हजार पत्तोंका एक कमल है, उस कमलके बीचमें मेरु पर्वतके समान कर्णिका है। मेरु पर्वतके पांडुक वनमें पांडुक शिला है उसपर स्फटिकमणिका सिंहासन है, उसपर मैं कर्मोंके क्षय करनेके लिये पद्मासन बैठा हूं। इतना स्वरूप ध्यानमें जमा लेना पृथ्वी धारणा है।

(२) अग्नि धारणा—वही ध्याता वहीं बैठा हुआ यह सोचे कि मेरे नाभिके स्थानपर एक १६ पत्तोंका कमल है उसपर १६ स्वर लिखे हैं-अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। कमलके बीचमें ह्रैं अक्षर लिखा है, दूसरा कमल हृदय-स्थानमें नीचेके कमलके ऊपर उल्टा आठ पत्तोंका विचारे। यही ज्ञानावरणीय आठ कर्म हैं ऐसा जाने। ह्रैं की रेफसे धूमा निकला फिर आगकी लौ होगई और कर्मोंके कमलको जलाने लगा।

इसी आगकी एक शाखा मस्तकपर आई व शरीरको सब तरह त्रिकोण रूपमें होगई। इस त्रिकोणमें र र र र र र अक्षर अग्निमय प्राप्त हैं। बाहरके तीन कोनोंपर अग्निमय स्वस्तिक, भीतर तीन कोनों पर ॐ ह्रैं अग्निमय लिखा विचारे, यह बाहरकी आग शरीरको जला रही है इसतरह कर्म व शरीर जलकर राख होरहे हैं ऐसा ध्यान करे।

(३) पवन धारणा—पवन वेगसे चलकर मेरे चारों तरफ घूमने लगी। गोल मंडल बन गया। उसमें स्वाय स्वाय स्वाय लिखा विचारे। यह मंडल राखको उड़ा रहा है, आत्मा स्वच्छ हो-रहा है।

(४) जल धारणा—काले काले मेघोंसे पानी बरस रहा है

अर्धचन्द्राकार जल मंडल मेरे ऊपर होगया प प प प प लिखा है यह जलकी धाराएं मेरे आत्माको धोरही हैं, सब रज दूर होरही हैं ऐसा विचारे।

(५) तत्व रूपवती—आत्मा विलकुल साफ होगया, सिद्धके समान हो गया। परम शुद्ध शरीरके प्रमाण आत्माको देखे। यही पिंडस्थ ध्यान है।

(२) पदस्थ ध्यान—पदोंके द्वारा ध्यान करना। जैसे ॐ को या ह्रीं को मस्तकपर, भौहोके वीचमें, नाककी नोकपर, मुँहमें, गलेमें, हृदयमें या नाभिमें विराजमान करके देखे व पांच परमेष्टीके गुण कभी कभी विचार करे।

(२) एक आठ पत्तोंका कमल हृदयमें विचारे। एक पत्तेपर णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः। इन आठ पदोंको विराजित करके एक एक पदका ध्यान क्रमसे करे।

(३) रूपस्थ ध्यान—अपनेको समवसरणमें श्री अरहंत भगवानके सामने खड़ा देखे। अरहंत भगवान पद्मासन परम शांत विराजित हैं उनके स्वरूपका दर्शन करे। अथवा किसी ध्यानमय तीर्थंकरकी प्रतिमाको मनमें लाकर उसका ध्यान करे।

(४) रूपातीत—सिद्ध भगवानके पुरुपाकार ज्ञानानन्दमय स्वरूपका ध्यान करे। जब मन एकाग्र होता है वीतरागता प्रगट होती है तब बहुत कर्म झड़ते हैं, आत्मा आत्मध्यानके उपायसे ही परम पवित्र परमात्मा होजाता है।

तत्वानुशासनमें कहा है—

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥ १९१ ॥

भावार्थ—जिन भावसे व जिस रूपसे आत्मज्ञानी आत्माको ध्याता है उसीसे वह तन्मय होजाता है, जैसे रंगकी उपाधिसे स्फटिक पाषाण तन्मय होजाता है।

सामायिक चारित्र कथन।

सव्वे जीवा णाणमया जो सम-भाव मुणेइ।
सो सामाइउ जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थ—(सव्वे जीवा णाणमया) सर्व ही जीव ज्ञान-स्वरूपी है ऐसा (जो समभाव मुणेइ) जो कोई समभावको मनन करता है (सो फुडु सामाइउ जाणि) उसीके प्रगटपने सामायिक जानो (एम जिणवर भणेइ) ऐसा श्री जिनेन्द्र कहते हैं।

भावार्थ—समभावकी प्राप्तिको सामायिक कहते हैं। यह भाव तव ही संभव है जब इस विश्वको निश्चयनयसे या द्रव्यार्थिक नयसे देखा जावे। पर्यायार्थिक या व्यवहारनयकी दृष्टिको बंद कर दिया जावे। जगतमें नाना भेद पर्यायकी अपेक्षासे दीखते हैं। चार गति नाम कर्मके उदयसे जीव नारकी, पशु, मानव व देव दिखते हैं।

जाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, पंचेन्द्रिय सब दीखते हैं। जीवोंकी अन्तरंग व बहिरङ्ग अवस्थाएं आठ कर्मोंके उदयसे विचित्र दीखती हैं। मोहनीय कर्मके उदयसे जीव शरीरासक्त, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, हास्य सहित, रतिवान, शोकी, अरतिवान, भयभीत, जुगुप्सा सहित, स्त्रीवेदी, पुंवेदी, नपुंसकवेदी, तीव्रकषायी, मन्दकषायी, पापी, पुण्यात्मा दीखते

हैं। हिंसक, दयावान, असत्यवादी, सत्यवादी, चोर व ईमानदार, कुशील व ब्रह्मचारी, परिग्रहवान व परिग्रह रहित, मोहकी तीव्रतासे या मन्दतासे दीखते हैं। ज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशम कम व अधिक होनेसे कोई मन्द ज्ञानी, कोई तीव्र ज्ञानी, कोई शास्त्रोंके विशेष ज्ञाता, कोई अल्पज्ञाता, कोई शीघ्र स्मृतिवान, कोई अल्प स्मृतिवान दीखते हैं।

दर्शनावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे कोई चक्षु रहित, कोई चक्षुवान दीखते हैं। अन्तराय कर्मके क्षयोपशमसे कोई विशेष आत्मबली, कोई कम आत्मबली दीखते हैं। नाना जीवोंके नानाप्रकारके परिणाम घातीय कर्मोंके कारण दीखते हैं। आयुकर्मके उदयसे कोई दीर्घायु, कोई अल्पायु दीखते हैं। कोई जन्मते हैं, कोई मरते हैं। नामकर्मके कारण, कोई सुन्दर, कोई असुन्दर, कोई सुडौल शरीरी, कोई कुडौल शरीरी, कोई बलवान, कोई निर्बल, कोई रोगी, कोई निरोगी, कोई स्त्री, कोई पुरुष, कोई अन्धे, कोई बहिरे, कोई काने, कोई लंगड़े, कोई सुन्दर चाल चलनेवाले, कोई बुरी चाल चलनेवाले दीखते हैं। गोत्र कर्मके उदयसे कोई उच्चकुली, कोई नीचकुली दीखते हैं।

वेदनीय कर्मके उदयसे कोई धनवान, कोई निर्धन, कोई बहुकुटुम्बीजन, कोई कुटुम्ब रहित, कोई इन्द्रिय भोग सम्पन्न, कोई भोग रहित, कोई विशाल मकानका वासी, कोई वृक्षतल निवासी, कोई सवस्त्र साभूषण, कोई आभूषण रहित, कोई सुखी; कोई दुःखी दीखते हैं। आठ कर्मोंके उदयसे यह जगतका नाटक होरहा है। प्राणी इन्द्रियके विषयोंके लोभी हैं व आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, संज्ञाओंमें मूढ़ हैं। इसके कारण इष्ट पदार्थोंमें राग व अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष करते हैं।

व्यवहारदृष्टि रागद्वेष होनेका निमित्त सामने रखती है। निश्चय

दृष्टिसे सब ही जीव चाहे सिद्ध हो या संसारी समान दीखते हैं। कर्म रहित, शरीर रहित, रागद्वेष रहित सब ही समान ज्ञानी, परम सुखी, परम सन्तोषी, परम शुद्ध, एकाकार दीखते हैं। जितने गुण एक आत्मामें हैं उतने गुण दूसरी आत्माओंमें हैं। सत्ता सब आत्माकी निराली होने पर भी स्वभावमे सब समान दीखते हैं। पुद्गल सब परमाणुरूप दीखते हैं। धर्म, अधर्म, काल, आकाश चार अमूर्तीक द्रव्य स्वभावसे झलकते हैं। छोटे बड़े, सुन्दर असुन्दर, स्वामी सेवक, आचार्य शिष्य, पूज्य पूजक आदिके भेद सब उड़ जाते हैं।

जो कोई इस तरह सम दृष्टिसे देखता है उसीके रागद्वेषका विकार दूर होजाता है, वह समभावमें आजाता है। इस तरह समभावको लाकर ध्याता जब पर जीवोंसे उपयोगको हटाकर केवल अपने स्वभावमें जोड़ता है तब निश्चल होजाता है, आत्मस्थ होजाता है, आत्मानुभवमें होजाता है तब ही परम निर्जराका कारण सामायिक चारित्रका प्रकाश होता है। विकल्प रहित भावमें रहना ही सामायिक है, यही मुनिपद हैं, यही मोक्षमार्ग है, यही रत्नत्रयकी एकता है। श्री योगेन्द्रदेव अमृताशीतिमें कहते हैं—

सत्साम्यभावगिरिगह्वरमध्यमेत्य
　　　पद्मासनादिकमदोषमिदं च बद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि सखे! परमात्मरूपं
　　　त्वं ध्याय वेत्सि ननु येन सुखं समाधेः॥ २८॥

भावार्थ—हे मित्र! सच्चे साम्यभावकी गुफाके बीचमें बैठ कर व निर्दोष पद्मासन आदि बांधकर अपने ही एक आत्माके भीतर अपने ही परमात्मा स्वरूपी आत्माको तू ध्याव, जिससे तू समाधिका सुख अनुभव कर सके।

राग द्वेष त्याग सामायिक है।

राय-रोस बे परिहरिवि जो समभाउ मुणेइ।
सो सामाइउ जाणि फुडु केवलि एम भणेइ ॥१००॥

अन्वयार्थ—(जो राग-रोस वे परिहरिवि समभाउ मुणेइ) जो कोई रागद्वेषको त्याग करके समभावकी भावना करता है (सो फुडु सामाइउ जाणि) उसको प्रगटपने सामायिक जानो (एम केवलि भणेइ) ऐसा केवली भगवानने कहा है।

भावार्थ—रागद्वेषका त्याग ही सामायिक है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी शरीर व इन्द्रियोंके विषयोंका रागी होता है इसलिये जिनसे अपना मनोरथ सिद्ध होता जानता है, उनसे प्रीति करता है, जिनसे बाधाकी शंका होती है उनसे द्वेष रखता है। वह कभी रागद्वेषसे छूटता नहीं। घोर तप करते रहनेपर भी वह कषायकी कालिमासे मुक्त नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टीका भाव उलट जाता है, वह संसारके सुखोंका श्रद्धावान नहीं रहता है। उसके गाढ़ श्रद्धान अतींद्रिय आत्मीक आनंदका होता है, वह एक मात्र सिद्ध दशाका ही प्रेमी रहता है। वह संसार शरीर व भोगोंसे पूर्ण वैरागी हो जाता है। परमाणु मात्र भी राग उसके भीतर सांसारिक पदार्थोंकी तरफ नहीं रहता है। वह जगतकी दशाओंको समभावसे देखता है। सर्व सांसारिक जीवोंके भीतर जो जो भीतर व बाहर दशा वर्तती है वह उनके स्वयं परिणमन शक्ति व कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशमके आधीन है। दूसरा जीव कोई उस दशाको बलात्कार पलट नहीं सक्ता है। निमित्त कारण मात्र एक दूसरेके परिणमनसे होसक्ते हैं तथापि अन्तरंग निमित्त व उपादान हरएकका हरएकके पास स्वतंत्र है। ऐसा वस्तुका स्वभाव जान-

कर ज्ञानी जीव अपने जीवनमें व मरणमें व दुःख या सुखमें या अन्य किसी कार्यमें समभाव रखता है, क्योंकि अच्छे या बुरे विपाकको समभावसे भोग लेता है।

दूसरोंके जीवन मरण पर व दुःख सुख होनेपर व अन्य किसी कार्यके होनेपर भी समभाव रखता है। राग द्वेष करके आकुलित नहीं होता है। यदि स्त्रीका मरण व पुत्र पुत्रीका मरण होजावे तो अन्य किसी मित्र या बंधुका मरण या वियोग होजावे तो ज्ञानी समभावसे देखकर आकुलित नहीं होता है। वह जानता है कि सब जीवोंको दुःख सुख व उनका जीवन मरण उनके ही अपने कर्मोंके उदयके अनुसार है। कर्मोंके उदयको कोई मेट नहीं सक्ता है।

अपने जीवनकी व दूसरोंके जीवनकी स्थितियोंको देखकर राग द्वेष नहीं करता है। जैसे सूर्यका उदय होना, प्रकाशका फैलना, प्रकाशका कम होना व अंधकारका होजाना यह सब सूर्यके विमानकी गतिके स्वभावका कारण है। ज्ञानी जीव कभी यह विचार नहीं करता है कि दिन बढ़ जावे तो ठीक है, रात्रि बढ़ जावे या घट जावे तो ठीक है। प्रकाश सदा बना रहे व कभी नहीं हो ऐसा राग द्वेष ज्ञानी कभी नहीं करता है। सूर्यके परिणमनको समभावसे देखता है। इसीतरह जगतमें परमाणु जैसे अनेक स्कंध बनते हैं। स्कंधोंसे अनेक परमाणु बनते हैं। पुद्गलके कार्य उनके स्वभावसे होते रहते हैं। जैसे पानीका भाप बनना, मेघ बनना, पानीका बरसना, नदीका बहना, मिट्टीका कुम्भ होना, तूफानका आना, भूकंप होना, बिजलीका चमकना, पर्वतोंका चूर होना, मकानोंका गिरना, जंगलमें वृक्षोंका उत्पन्न होना, जंगलमें आग लगना, आदि अनेक प्राकृतिक कार्य होते रहते हैं। उनमें भी ज्ञानी राग द्वेष नहीं करता है। समभावसे देखता है। जगतका चरित्र एक नाटक है। उस

नाटकको ज्ञानी स्वामी होकर नहीं देखता है। ज्ञाता दृष्टा दर्शक होकर देखता है। नाटकके भीतर हानि व लाभ देखकर ज्ञानी समभाव रखता है। जो समभावसे अपने परिणमनको व दूसरोंके परिणमनको देखता है, उसके पूर्वकर्म फल देकर गिर जाते हैं, नवीन पापकर्मोंका बंध नहीं होता है व अति अल्प होता है। वही सामायिक चारित्रको पालना है। ऐसा समभावधारी ज्ञानी गृहस्थ सामायिक शिक्षाव्रतका व मुनि सामायिक चारित्रका पालक है।

समयसार कलशमें कहा है—

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः॥ १४-८॥

भावार्थ—ज्ञानी इसतरह सर्व वस्तुओंके स्वभावको व अपने आपको ठीक ठीक जानता है, इसलिये रागद्वेष भावोंको अपने भीतर नहीं करता है, सम भावमें रहता है इसलिये वह रागद्वेषका कर्ता नहीं होता है। चारित्र मोहनीयके उदयसे होनेवाले विचारको कर्मोंका उदयरूप रोग जानता है, उसके मेटनेका उद्यम है।

छेदोपस्थापना चारित्र।

हिंसादिउ-परिहारु करि जो अप्पा हु ठवेइ।
सो बियऊ चारित्तु मुणि जो पंचम-गइ णेइ ॥१०१॥

अन्वयार्थ—(जो हिंसादिउ-परिहारु करि अप्पा हु ठवेइ) जो कोई हिंसा आदि पापोंको त्याग करके आत्माको स्थिर करता है (सो बियऊ चारित्तु मुणि) सो दूसरे चारित्रका धारी है, ऐसा जानो (जो पंचम-गइ णेइ) यह चारित्र पंचम गतिको ले जाता है।

भावार्थ—यहां साधकोंके द्वारा साधनेयोग्य पांच चारित्रमेंसे दूसरे चारित्र छेदोपस्थापनाका स्वरूप बताया है। सामायिक चारित्र पहला है उसको धारण करते हुए साधु निर्विकल्प समाधिमें व समभावमें लीन रहता है, वहां ग्रहण त्यागका विचार नहीं होसक्ता है।

स्वानुभव होना या आत्मस्थ रहना ही सामायिक है। परंतु यह दशा एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक आत्मज्ञानी छद्मस्थके होना असम्भव है। उपयोग चञ्चल हो जाता है तब अशुभ भावोंसे बचनेके लिये व्यवहार चारित्रका विकल्प किया जाता है। व्यवहार चारित्रके आलम्बनसे साधु फिर अन्तर्मुहूर्त पीछे आत्मलीन होजाता है। प्रमत्त भावमें भी अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं रहता है।

सामायिकके छेद होजानेपर फिर सामायिकमें स्थिर होना ही छेदोपस्थापना चारित्र है। निश्चय चारित्र सामायिक है, उससे उपयोग हटनेपर फिर जिस व्यवहार चारित्रके द्वारा पुनः निश्चय चारित्रमें आया जावे यह छेदोपस्थापना चारित्र है, यह सविकल्प है। निश्चय चारित्र निर्विकल्प है। इस भेदरूप चारित्रमें साधु अट्ठाईस मूल गुणोंकी सम्हाल रखता है।

पांच अहिंसादि व्रत—संकल्पी व आरम्भी हिंसाको मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनासे पूर्णपने त्याग व भावोंमें राग द्वेष रहित रहनेका व बाहरमें प्राणीमात्रकी रक्षाका उद्यम करना **अहिंसा महाव्रत** है।

जिनवाणीसे विरोधरूप न हो ऐसा वचन यथार्थ कहना। सत्य धर्मकी रक्षा करते हुए कहना **सत्य महाव्रत** है।

पर पीड़ाकारी, आरम्भकारी सर्व वचनोंसे विरक्त रहना, अहिंसा पोपक व वीतरागतावर्द्धक वचन कहना **सत्य महाव्रत** है।

विना परके द्वारा दी हुई किसी भी वस्तुको बुद्धिपूर्वक प्रमाद

भावसे ग्रहण नहीं करना। चोरीके सर्व प्रकारके दोषोंसे बचना सो अचौर्य महाव्रत है।

स्त्री, देवी, पशुनी, चित्राम, इन चार प्रकारकी स्त्रियोंके संबंधमें मन वचन काय, कृत कारित अनुमोदनासे कुशीलका त्यागना, सरल निर्विकार शील स्वभावसे रहना, काम विकारके आक्रमणसे बचना सो ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

चेतन अचेतन सर्व प्रकारके परिग्रहका त्याग करके आकिंचन्य भावसे रहकर सर्व प्रकारकी मूर्छाका त्याग करना परिग्रह त्याग महाव्रत है।

इन पांच महाव्रतोंके रक्षार्थ शेष तेईस गुणोंको साधु पालेते हैं।

पांच समितिः-

चार हाथ भूमि आगे देखकर दिनमें प्रासुक या रौंदी हुई भूमि पर चलना ईर्या समिति है।

मिष्ट हितकारी सभ्य वचन बोलना, कर्कश मर्मछेदक वचन नहीं कहना भाषा समिति है।

शुद्ध भोजन भिक्षावृत्तिसे श्रावक दातार द्वारा भक्तिपूर्वक दिये जाने पर संतोषसे ग्रहण करना एषणा समिति है।

शरीर, पीछी, कमंडल, शास्त्रादि देखकर रखना, उठाना आदाननिक्षेपण समिति है।

मल मूत्रादि जंतु रहित भूमिपर डालना उत्सर्ग समिति है।

पांच इन्द्रिय निरोधः-

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कान इन पांच इंद्रियोंके विषयोंकी इच्छाको रोकना, इंन्द्रिय भोगोंसे विरक्त रहना, समभावसे इंद्रियोंके द्वारा काम लेना। निर्विकार भावसे इंद्रियोंसे ज्ञान प्राप्त करना इंद्रिय दमन है। छः नित्य आवश्यकः-

प्रतिदिन समय पर तीन काल सामायिक करना, मन

वचन कायसे घटित दोषोंका प्रातः व संध्याको प्रतिक्रमण करना–पश्चाताप करना। प्रत्याख्यान–आगामी दोष न होनेकी भावना करना या स्वाध्याय करना। तीर्थंकरोंके गुणोंकी स्तुति करना स्तवन है, तीर्थंकरकी मुख्यतासे गुणानुवाद करना वंदना है। कायसे ममता त्यागकर ध्यान करना कायोत्सर्ग है।

सात अन्य गुण–(१) शरीर या वस्त्रादि न रखकर बालकके समान नग्न रहना। (२) अपने केशोंको लोंच करना–घासके समान ममता रहित होकर उपाड लेना। (३) स्नान नहीं करना। (४) दंतवन नहीं करना–दांतोंका श्रृंगार नहीं रखना। (५) भूमि शयन– जमीनपर तृणका या काष्टका संथारा करना, या खाली जमीनपर सोना। (६) स्थिति भोजन–खड़े होकर भोजन करना। (७) एकवार भोजन–दिनमें एक ही बार भोजनपान करना। इन २८ मूल गुणोंको निर्दोष पालना छेदोपस्थाना चारित्र है निश्चयसे आत्मस्थ होजाना ही चारित्र है।

तत्वार्थसारमें कहा है—

यत्र हिंसादिभेदेन त्यागः सावद्यकर्मणः।
व्रतलोपे विशुद्धिर्वा छेदोपस्थापनं हि तत् ॥ ४६–६ ॥

भावार्थ—जहां हिंसादिके भेदसे पाप कर्मोंका त्याग करना या व्रत भंग होनेपर प्रायश्चित्त लेकर फिर व्रती होना सो छेदोपस्थाना चारित्र है।

परिहारविशुद्धि चारित्र।

मिच्छादिउ जो परिहरणु सम्मद्दंसण-सुद्धि।
सो परिहारविसुद्धि मुणि लहु पावहि सिवसिद्धि ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(जो मिच्छादिउ परिहरणु) जो मिथ्यात्वादिका त्याग करके (सम्मद्दंसणसुद्धि) सम्यग्दर्शनकी शुद्धि प्राप्त करना (सो परिहारविसुद्धि मुणि) वह परिहार विसुद्धि संयम जानो (लहु सिव-सिद्धि पावहि) जिससे श्रेष्ट मोक्षकी सिद्धि मिलती है।

भावार्थ—परिहारविशुद्धि संयमका व्यवहारमें प्रचलित स्वरूप यह है कि वह विशेप संयम उस साधुको प्राप्त होता है जो तीस वर्ष तक सुखसे घरमें रहा हो फिर दीक्षा लेकर आठ वर्ष तक तीर्थंकरकी संगतिमें रहे व प्रत्याख्यान पूर्वका अभ्यास करे। ऐसा साधु विशेप हिंसाका त्यागी होता है। छठे व सातवें गुणस्थानमें ही होता है। यहां अध्यात्म दृष्टिसे शब्दार्थ लेकर कहा है कि मिथ्यात्वादि विपयोंका त्याग करके सम्यग्दर्शनकी विशेप शुद्धि प्राप्त करना परिहारविशुद्धि है।

शुद्ध आत्माका निर्मल अनुभव ही मोक्षमार्ग है। उसके बाधक मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र हैं। अनंतानुवन्धी कषाय और मिथ्यादर्शन कर्मके उपशम या क्षयसे एक ही साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र प्रगट होजाते हैं, तीनों ही आत्माके गुण हैं। ज्ञान और चारित्र एकदेश झलकते हैं। इसके पूर्ण प्रकाशके लिये अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन कपायका उपशम या क्षय करना होता है। जैसे जैसे स्वानुभवका अधिक अभ्यास होता है वैसे २ कपायकी मलीनता कम होती जाती है।

तव ज्ञान निर्मल व चारित्र ऊँचा होता जाता है। श्रावकपदमें देशचारित्र होता है, साधुपदमें सकल चारित्र होता है। जिस साधुकी स्वानुभवकी तीव्रतासे वीतरागता ऐसी प्रगट हो जाती है कि वुद्धिपूर्वक कषायमलका स्वाद नहीं आता है। निर्मल शुद्ध

स्वानुभव झलकता है। उसका सम्यग्दर्शन गाढ़ व ज्ञान निर्मल व चारित्र शुद्ध होता है।

रत्नत्रयकी शुद्धता प्राप्त करना ही मोक्षके निकट पहुंचना है। अतएव साधुको निर्ग्रन्थ पदमें रहकर विशेष आत्मध्यानका अभ्यास करना योग्य है। मोहके साथ साधुको युद्ध करना है। इसलिये ज्ञान वैराग्यकी खड्गको तेज रखनेकी जरूरत है। सम्यग्दर्शनके प्रतापसे ज्ञानीको जगतके पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान होता है कि छः द्रव्योंसे यह जगत भरा है। सर्व ही द्रव्य निश्चयसे अपने अपने स्वभावमें कल्लोल करते हैं। यद्यपि संसारी जीव पुद्गलके संयोगसे अशुद्ध है व नर नारक तिर्यंच देवके शरीरोंमें नानाप्रकार दीखते हैं तौ भी ज्ञानी उन सब जीवोंको द्रव्यके स्वभावकी अपेक्षा शुद्ध एकरूप ज्ञानानन्दी परम निर्विकारी देखता है।

इस ज्ञानके कारण उसे कोई आश्चर्य नहीं भासता है। वह छहों द्रव्योंके मूलगुण व पर्यायोंके स्वरूपको केवलज्ञानीके समान यथार्थ व शंकारहित जानता है। अपने आत्माकी सत्ताको अन्य आत्माओंकी सत्तासे भिन्न जानता है। तौ भी स्वभावसे सर्वको व अपने आत्माको एक समान शुद्ध देखता है। इसी ज्ञानके प्रतापसे उसके भीतर सहज वैराग्य भी रहता है कि एक अपना शुद्ध आत्मीक पद ही सार है, उत्तम है, ग्रहण करनेयोग्य है।

सिद्धपदकी ही प्राप्ति करनी चाहिये। चारों गतिके क्षणिकपद सब त्यागनेयोग्य हैं। यह इन्द्रियोंके सुखको आकुलतारूप व पराधीन व नाशवंत व पापबंधकारी व अतृप्तकारी व हेय समझ चुका है। इसलिये वह भोगविलासके हेतुसे चक्रवर्तीपद, नारायणपद, बलभद्रपद, प्रतिनारायणपद, राजापद, श्रेष्ठीपद, इन्द्रपद आदि नहीं चाहता है, उसके भीतर पूर्ण वैराग्य है कि सर्व ही आठ कर्मोंका

संयोग मिटानेयोग्य है, सब ही रागादि विभाव त्यागनेयोग्य हैं, सर्व ही शरीर व भोग सामग्रीका संयोग दूर करनेयोग्य है, ऐसा दृढ़ ज्ञान वैराग्यधारी सम्यग्दृष्टी पूर्व कर्मोंके उदयसे यद्यपि गृहस्थपदमें अनेक गृहस्थके काम करता हुआ दिखाई पड़ता है तौभी वह उन कार्योंको आसक्ति भावसे नहीं करता है। कषायके उदयको रोग जानता है। रोगको मिटानेकी भावना भाता है। जितना२ कषायका उदय मिटता है इसका व्यवहार भी निर्मल होता जाता है। मोक्षका उपाय मूलमें एक सम्यग्दर्शनकी शुद्धता है। वीतराग यथाख्यात चारित्र व केवलज्ञानके लाभका यही उपाय है।

तत्वार्थसारमें कहा है—

विशिष्टपरिहारेण प्राणिघातस्य यत्र हि।
शुद्धिर्भवति चारित्रं परिहारविशुद्धि तत् ॥४७–६॥

भावार्थ—जहां प्राणियोंके घातका विशेषपने त्याग हो व चारित्रकी शुद्धि हो वह परिहारविशुद्धि चारित्र है।

यथाख्यात संयम।

सुहुमहँ लोहहँ जो विलउ जो सुहुमु वि परिणामु।
सो सुहुमु वि चारित्त मुणि सो सासय-सुह धामु ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(सुहमहं लोहहं जो विलउ) सूक्ष्म लोभका जो भी क्षय होकर (जो सुहुमु वि परिणामु) जो कोई सूक्ष्म वीतराग भाव होता है (सो सुहुमु वि चारित्त मुणि) उसे सूक्ष्म या यथाख्यात चारित्र जानो (सो सासय सुहधामु) वही अविनाशी सुखका स्थान है।

भावार्थ—सुख आत्माका गुण है। उसको यथार्थ चारों

घातीय कर्मोंने रोक रक्खा है परंतु मुख्यतासे उसको रोकनेवाला मोह कर्म है। जितना २ मोहका क्षय होता है उतना २ सुखका प्रकाश होता जाता है। यह सुख वीतराग भाव सहित निर्मल है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टी जीव चार अनंतानुबंधी कषाय और दर्शनमोहकी तीन प्रकृतियोंका जब क्षय कर देता है तब क्षायिक सम्यक्त्व व स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होजाते हैं। इन शक्तियोंके प्रगट होनेपर जब कभी ज्ञानी अपने उपयोगको अपने आत्मामें स्थिर करता है तब ही स्वरूपका अनुभव आता है व अतीन्द्रिय आनंदका स्वाद आता है। अविरत सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानमें भी इस सुखका प्रकाश होजाता है। फिर यह क्षायिक सम्यक्ती महात्मा जितना२ स्वानुभवका अभ्यास करता है उतना२ कषायका रस कम उदयमें आता है। तब उतना२ निर्मल सुख अनुभवमें आता है। पांचवें देशसंयम गुणस्थानमें अप्रत्याख्यान कषायका उदय नहीं होता है तब चौथे गुणस्थानकी अपेक्षा निर्मल सुख स्वादमें आता है। छठे प्रमत्तगुणस्थानमें प्रत्याख्यान कषायका भी उदय नहीं रहता है, तब और अधिक निर्मल सुख वेदनेमें आता है। सातवें अप्रमत्त गुणस्थानमें संज्वलन कषायका मंद उदय रहता है तब और भी निर्मल सुख अनुभवमें आता है। आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानमें संज्वलन कषायका अति मंद उदय होता है तब और भी निर्मल सुख स्वादमें आता है। अनिवृत्तिकरण नौवें गुणस्थानमें अतिशय मंद कषायका उदय रहता है तथा वीतराग भावकी आग बढ़ती जाती है। इस कारणसे योगी अनिवृत्तिकरणके दूसरे भागमें अप्रत्याख्यान ४ व प्रत्याख्यान ४ इन आठ कषायकर्मोंकी सत्ताका क्षय कर देता है। तीसरे भागमें नपुंसक वेदका चौथे भागमें स्त्री वेदका, पांचवें भागमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छः नोकषायोंका, छट्ठे भागमें पुरुष वेदका, सातवें भागमें संज्वलन क्रोधका,

आठवें भागमें संज्वलन मानका, नौमें भागमें संज्वलन मायाका क्षय कर देता है। इसतरह अप्रत्याख्यानका अधिक २ स्वाद आता है। सूक्ष्मसांपराय दशवें गुणस्थानके अन्तमें संज्वलन लोभका भी क्षय कर देता है तब बारहवें गुणस्थानमें जाकर यथाख्यात चारित्रको प्रगट करके शुद्ध सुखका अनुभव करता है। अट्ठाईस प्रकार मोह-कर्मके क्षय होनेसे न मिटनेवाला सुख प्रगट हो जाता है।

जब योगी द्वितीय शुक्लध्यानके बलसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय तीनों कर्मोंका सर्वथा क्षय कर देता है तब तेरहवें गुण-स्थानमें आकर केवलज्ञानी अर्हत् परमात्मा हो जाता है, उस-समय निज आत्माका प्रत्यक्ष दर्शन व अनुभव हो जाता है। अबतक श्रुतज्ञानके द्वारा परोक्ष ज्ञान था, अब केवलज्ञानीके प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष अमूर्तीक आत्माका ज्ञान व अनुभव हो जाता है, अन्तराय कर्मके नाशसे अनंतवीर्य प्रगट होनेसे सुख परम शुद्ध व यथार्थ अनंतकाल तक स्वादमें आनेवाला झलक जाता है इसलिये इस गुणस्थानमें यह अनंत सुख कहलाता है। फिर यह सुख कभी कम नहीं होता है, निरन्तर सिद्धोंके स्वादमें आता है।

तत्वार्थसारमें कहा है—

संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम्।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः ॥ ४५ ॥
लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते।
उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतम् ॥ ५२-८ ॥

भावार्थ—सिद्धोंके संसारके विषयोंकी पराधीनतासे रहित अविनाशी सुख प्रगट होता है उस सुखको परम व बाधा रहित सुख परम ऋषियोंने कहा है। समस्त जगतमें कोई भी उस सुखके

समान पदार्थ नहीं है जिसको उस सुख गुणकी उपमा दी जासके इसलिये उस सुखको उपमा रहित अनुपम कहा गया है।

आत्मा ही पंचपरमेष्ठी है।

अरहंतु वि सो सिद्धु फुडु सो आयरिउ वियाणि।
सो उवझायउ सो जि मुणि णिच्छइँ अप्पा जाणि ॥१०४॥

अन्वयार्थ—(णिच्छइँ) निश्चयनयसे (अरहंतु वि अप्पा जाणि) आत्मा ही अरहंत है ऐसा जानो (सो फुडु सिद्धु) वही आत्मा प्रगटपने सिद्ध है (सो आयरिउ वियाणि) उसीको आचार्य जानो (सो उवझायउ) वही उपाध्याय है (सो जि मुणि) वही आत्मा ही साधु है।

भावार्थ—निश्चयनयसे जिसने आत्माका अनुभव प्राप्त कर लिया उसने पांचों परमेष्ठियोंका अनुभव प्राप्त कर लिया। ये पांचों पद आत्माको ही दिये गये हैं। व्यवहारनयसे या पर्यायकी दृष्टिसे आत्माके पांच भेद होजाते हैं, निश्चयसे आत्मा एक ही रूप है।

जिस आत्मामें चार घातीय कर्मोंके क्षयसे अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र, अनंत वीर्य, अनंत सुख, गुण प्रगट है परन्तु चार अघातीय कर्मोंका उदय है व उनकी सत्ता आत्माके प्रदेशोंमें है। जो जीवन्मुक्त परमात्मा हैं वे अरहंत हैं। अरहंतका ध्यान करते हुए उनके पुद्गलमय शरीरपर व सिंहासन छत्रादि आठ प्रातिहार्य पर लक्ष्य न देकर उनकी आत्माकी शुद्धिपर लक्ष्य देना चाहिये व अपने आत्माको भी उस समान होनेकी भावना करनी चाहिये।

आत्मीक भावोंसे अरहंतकी आत्माको ध्याना चाहिये। ध्यानमें

एकाग्र होजाना चाहिये यह अरहंतका ध्यान है। सिद्ध भगवान आठों ही कर्मोंसे रहित प्रगटपने शुद्धात्मा हैं वहां शरीरादि किसी भी पुद्गलका संयोग नहीं है। पुरुषाकार अमूर्तीक ध्यानमय आत्माको सिद्ध कहते हैं। वे निरंजन निर्विकार हैं। सम्यक्त. ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अगुरुलघु, अव्याबाध, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व इन आठ प्रसिद्ध गुणोंसे विभूषित हैं। परम कृतकृत्य. निश्चल. परमानन्दी हैं। उनके स्वरूपको अपने आत्मामें विराजमान करके एकतान हो जाना, सिद्धका ध्यान है।

आचार्यकी आत्मा शुद्ध सम्यग्दर्शन. शुद्ध ज्ञान. शुद्ध चारित्र, शुद्ध तप व परम वीर्यसे विभूषित है व निश्चय रत्नत्रयमई शुद्धात्मानुभवसे अलंकृत है।

यद्यपि शिष्योंके कल्याण निमित्त परोपकारभावसे भी रंजित हैं यह उनकी प्रमाद अवस्था है उसको लक्ष्यमें न लेकर केवल शुद्धात्मानुभवकी दशाको ध्यानमें लेकर उनके स्वरूपको अपने आत्मामें विठाकर एकतान होजाना आचार्यका ध्यान है। उपाध्याय महाराज व्यवहारमें अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता होकर पठन पाठनमें उपयुक्त रहते हैं, यह उनकी प्रमाद दशा है। अप्रमत्त दशामें वे भी स्वात्मानुभवमें एकाग्र होकर आत्मीक आनंदका पान करते हैं। इस निश्चय आत्मीक भावको ध्यानमें लेकर अपने आत्माको उनके भावमें एकतान करना उपाध्यायका ध्यान है।

साधु परमेष्टी व्यवहारमें २८ मूलगुणोंका पालन करते हैं, निश्चयसे शुद्ध आत्मीक भावमें रमण कर आत्मगुप्त हो, निर्विकल्प समाधिका साधन करते हैं, आपमें ही आपको आपमें ही अपने ही द्वारा आपके लिये आप ही ध्याते हैं, परम एकाग्रभावसे आत्मामें मगन हैं, उनके इस आत्मीक स्वरूपको अपने आत्माके भीतर धारण करके एकाग्र हो जाना साधुका ध्यान है।

आत्माके ध्यानमें ही पांचों परमेष्टीका ध्यान गर्भित है। शरीरादिकी क्रियाको न ध्यानमें लेकर केवल उनके आत्माका आराधन निश्चय आराधन है। समयसार कलशमें कहा है—

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।

एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥२६-१०॥

भावार्थ—आत्माका स्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमई एकरूप ही है, वही एक मोक्षका मार्ग है। मोक्षके अर्थीको उचित है कि इसी एक स्वानुभवरूप मोक्षमार्गका सेवन करे।

आत्मा ही ब्रह्मा विष्णु महेश है।

सो सिउ संकरु विण्हु सो सो रुद् वि सो बुद्धु।
सो जिणु ईसरु बंभु सो सो अणंतु सो सिद्धु ॥ १०५ ॥

अन्वयार्थ—(सो सिउ संकरु विण्हु सो) वही शिव हैं, शंकर हैं, वही विष्णु हैं (सो रुद् वि सो बुद्धु) वही रुद्र हैं, वही बुद्ध हैं (सो जिणु ईसरु बंभु सो) वही जिन हैं, ईश्वर हैं, वही ब्रह्मा हैं (सो अणंतु सो सिद्धु) वही अनंत हैं, वही सिद्ध हैं।

भावार्थ—जिस परमात्माका ध्यान करना है, उसके अनेक नाम गुणवाचक होसकते हैं वही शिव कहलाता है। क्योंकि वह कल्याणका कर्ता है। उसके ध्यान करनेसे हमारा हित होता है। वही शंकर कहलाता है, क्योंकि उसके ध्यान करनेसे आनंदका लाभ होता है, दूसरा कोई लौकिकजनोंसे मान्य व पूज्य शिव-शङ्कर नहीं है। वही विष्णु कहलाता है, क्योंकि वह केवलज्ञानकी अपेक्षा सर्व लोकालोकका ज्ञाता होनेसे सर्वव्यापक है, दूसरा कोई लौकिकजनोंसे मान्य यथार्थ विष्णु नहीं है। वही रुद्र या महादेव है, क्योंकि उस

परमात्माने सर्व कर्मोंको भस्म कर डाला है। दूसरा कोई लोकसंहारक रुद्र नहीं है न दूसरा कोई लोक पालक विष्णु है। वही सच्चा बुद्ध है, क्योंकि वही सर्व तत्वोंका यथार्थ ज्ञाता है। और कोई बौद्धोंसे मान्य बुद्धदेव यथार्थ सर्वज्ञ परमात्मा नहीं है।

वही यथार्थ जिन हैं क्योंकि उसने रागादि शत्रुओंको व ज्ञानावरणादि कर्म-रिपुओंको जीत लिया है। और कोई यथार्थ जिन या विजयी नहीं है, यही ईश्वर है, क्योंकि अविनाशी परमैश्वर्यका धारी वही परमात्मा है जो परम कृतकृत्य व संतोपी है, सर्व प्रकारकी इच्छासे रहित है। वही परमात्मा सच्चा ब्रह्मा है, क्योंकि यह ब्रह्म-स्वरूपमें लीन हैं। अथवा वह अपने स्वरूपसे यथार्थ मोक्षका उपाय बताता है। वही धर्मका कर्ता है। उसके ही स्वरूपके ध्यानसे संसारी आत्मा परमात्मा होजाता है। और कोई जगतकर्ता ब्रह्मा नहीं है। वही परमात्मा अनंत है क्योंकि वह अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य, अनंत शांति, अनंत सम्यक्त आदि अनंत गुणोंका धारी है। उसीको सिद्ध कहते हैं; क्योंकि उसने साध्यको सिद्ध कर लिया है। संसारीको शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति सिद्ध करनी है। उसको वह प्राप्त कर चुका है।

परमात्माके यथार्थ स्वरूपके प्रतिपादक हजारों नाम लेकर भावना करनेवाला भावना कर सक्ता है। नाम लेना निमित्त है। उन नामोंके निमित्तसे परमात्माका स्वरूप ध्यानमें यथार्थ ही आना चाहिये। परमात्मा वास्तवमें जैन सिद्धांतमें सिद्ध भगवानको कहते हैं। जो परम शुद्ध है उनकी आत्मामें किसी परद्रव्यका संयोग नहीं है, न वहां ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं न रागादि भाव कर्म हैं न शरीरादि नोकर्म है, शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है। ज्ञाताद्रष्टा स्वभावसे है तथापि प्रशंसा किये जानेपर प्रसन्न नहीं होता है।

निन्दा किये जानेपर क्रोधित नहीं होता है। वह सदा निर्विकार रहते हैं। उनमें हर्ष विषाद नहीं होता है। यद्यपि वे परमात्मा स्तुति करनेवाले पर प्रसन्न या रागी नहीं होते हैं। तथापि भक्तोंका परिणाम उनकी स्तुतिके निमित्तसे निर्मल या शुभ होजाता है तब जितने अंश भावोंमें वीतरागता होती है उतने अंश कर्मका क्षय होता है। जितने अंश शुभ राग होता है उतने अंश पुण्यका बंध होता है। निन्दा करनेवालोंके भाव बिगड़ते हैं उससे वे निन्दक पापका बंध करते हैं।

परमात्मा परम वीतराग रहते हैं। वे कोई भी अशुद्ध भावोंके कर्ता नहीं हैं। उनमें शुद्ध परिणमन है। वे शुद्ध आत्मीक भावोंके ही कर्ता हैं। जैसे निर्मल क्षीर क्षीर समुद्रमें निमर्ल ही तरंगे उठती हैं वैसे शुद्धात्मामें सर्व परिणमन या वर्तन शुद्ध ही होता है। वे परमात्मा सांसारिक सुख या दुःखके भोगनेवाले नहीं हैं। वे केवल अपने ही अतीन्द्रिय परमानन्दके निरंतर भोगनेवाले हैं। परमात्मा सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध इन चार मुख्य प्राणोंसे सदा जीते रहते हैं। परमात्मामें केवलदर्शन व केवलज्ञान उपयोग एक ही साथ अपने आपको ही देख रहा है। अपने आपको ही जान रहा है।

परमात्मा वर्ण, गंध, रस, स्पर्शसे रहित अमूर्तीक है तौभी ज्ञानमई पुरुषाकार पद्मासन या कायोत्सर्ग आदि आसनसे रहते हुये असंख्यात प्रदेशी हैं। वे परमात्मा परम आदर्श हैं। हरएक आत्मा भी निश्चयसे परमात्मा है ऐसा जानकर वीतरागमय या समभावमें होकर स्वानुभवका अभ्यास करना योग्य है। यही उपाय परमात्माके पदके लाभका है।

समाधिशतकमें कहा है—

निर्मलः केवलः सिद्धो विविक्तः प्रभुरक्षयः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः॥ ६॥

भावार्थ—परमात्मा कर्ममल रहित निर्मल है, एक अकेला है इससे केवल है, वही सिद्ध है, वही सर्व अन्य द्रव्योंकी व अन्य आत्माओंकी सत्तासे निराला विविक्त है। वही अनंत वीर्यवान होनेसे प्रभु हैं, वही सदा अविनाशी हैं, वही परम पदमें रहनेसे परमेष्ठी हैं। वही उत्कृष्ट होनेसे परात्मा हैं, वही परमात्मा हैं, वही सर्व इन्द्रादिसे पूज्य ईश्वर हैं, वही रागादि विजयी जिन भगवान हैं।

परमात्मादेव अपने ही देहमें भी है।

एक हि लक्खण-लक्खियउ जो परु णिक्कलु देउ।
देहहं मज्झहिं सो वसइ तासु ण विज्जइ भेउ ॥ १०६॥

अन्वयार्थ—(एक हि लक्खण-लक्खियउ जो परु णिक्कलु देउ) इस प्रकार ऊपर कहे हुए लक्षणोंसे लक्षित जो परमात्मा निरंजन देव हैं (देहहँ मज्झहिं सो वसइ) तथा जो अपने शरीरके भीतर बसनेवाला आत्मा है (तासु भेउ ण विज्जइ) उन दोनोंमें कोई भेद नहीं है।

भावार्थ—अपने शरीरमें व प्राणीमात्रके शरीरमें आत्मा द्रव्य शरीरभरमें व्यापकर तिष्ठा हुआ है। उस आत्मद्रव्यका लक्षण सिद्ध परमात्माके समान है। व्यवहार दृष्टिसे या कर्मवन्धकी दृष्टिसे सिद्धात्मासे और संसारी आत्मासे स्वरूपकी प्रगटता व अप्रगटताके कारण भी हैं। संसारी आत्माएं कार्मण व तैजस शरीरको प्रवाहकी अपेक्षा अनादिसे साथमें रख रही है। आठों कर्मके विचित्र भेदोंके उदयसे, या विपाक रससे आत्माओंके विकासमें बहुत भेद दिख रहे हैं। उन भेदोंको संग्रह करके विचारें तो १९ उन्नीस जीव समास नीचे प्रकार होंगे—

(१) पृथ्वीकायिक सूक्ष्म, (२) पृथ्वीकायिक बादर, (३) जलकायिक सूक्ष्म, (४) जलकायिक बादर, (५) अग्निकायिक सूक्ष्म, अग्निकायिक बादर, (७) वायुकायिक सूक्ष्म, (८) वायुकायिक बादर, (९) नित्य निगोद साधारण वनस्पतिकायिक सूक्ष्म, (१०) नित्य निगोद साधारण वनस्पतिकायिक बादर, (११) इतर या चतुर्गति निगोद साधारण वनस्पतिकायिक सूक्ष्म, (१२) इतर निगोद साधारण वनस्पतिकायिक बादर, (१३) प्रत्येक वनस्पतिकायिक सप्रति ष्टित (निगोद सहित), (१४) प्रत्येक वनस्पतिकायिक अप्रतिष्टित (निगोद रहित), (१५) द्वेन्द्रिय, (१६) तेन्द्रिय, (१७) चतुरिंद्रिय, (१८) पंचेन्द्रिय असैनी, (१९) पंचेन्द्रिय सैनी। हरएकमें पर्याप्त तथा अपर्याप्त भेद हैं, इस कारण ३८ अड़तीस भेद हो जायगे। लब्ध्यपर्याप्त व निर्वृत्यपर्याप्तके भेदसे ५७ सत्तावन जीव समास हो जायँगे।

सैनी पंचेन्द्रियमें नारकी, देव, मनुष्योंके अनेक भेद हैं व पशुओंमें जलचर, थलचर व नभचर हैं। कर्मोंके उदयके कारण संसारी जीवोंके भीतर ज्ञान दर्शन व वीर्य गुणकी प्रगटता कम व अधिक है व क्रोध, मान, माया, लोभ कषायोंमे अनुरंजित योगोंकी प्रवृत्ति या लेश्या मूलमें छः भेदरूप है तौ भी हरएकके भीतर मन्द, मन्दतर, तीव्र, तीव्रतर शक्तिकी अपेक्षा अनेक भेद हैं। कृष्ण, नील, कापोत, लेश्याके परिणाम अशुभ कहाते हैं, क्योंकि इन भावोंके होते हुए जीव पाप कर्मोंको ही बांधते हैं। पीत, पद्म, शुक्ल लेश्याके परिणाम शुभ कहाते हैं। क्योंकि इन भावोंसे घातीय कर्मोंका मन्द बंध पड़ता है व अघातीय कर्मोंमें केवल पुण्यका ही बन्ध पड़ता है। इस तरह अन्तरंग भावोंमें व बाहरी शरीरकी चेष्टामें विशेष विशेष भेद कर्मोंके उदयसे ही हो रहे हैं।

इस कारण संसारी जीव विचित्र दीखते हैं। रागी जीव इन जीवोंको देखकर जिनसे कुछ इन्द्रिय विषयके साधनमें मदद मिलती है उनसे प्रीति व जिनसे बाधा पहुंचती दिखती है उनसे द्वेष कर लेते हैं। उसीसे कर्मबन्ध करते हैं व उन कर्मोंका फल भोगते हैं। इस दृष्टिसे देखते हुए वीतरागीको बन्ध नहीं होता है।

समभाव ही मोक्षका उपाय है, इस भावके लानेके लिये साधकको व्यवहार दृष्टिसे भेद है, ऐसा जानते हुए भी, ऐसा धारणामें रखते हुए भी इस दृष्टिका विचार बंद करके निश्चय दृष्टिसे अपने आत्माको व सर्व संसारी आत्माओंको देखना चाहिये तब अपना आत्मा व सर्व संसारी आत्माएं एकसमान शुद्ध, निरंजन, निर्विकार, पूर्ण ज्ञान, दर्शन, वीर्य व आनन्दमय अमूर्तीक, असंख्यात प्रदेशी ज्ञानाकार देख पड़ेंगे। तब सिद्धोंमें व संसारी आत्माओंमें कोई भेद नहीं दीख पड़ेगा।

समभावको लानेके लिये ध्याताको निश्चयनयसे देखकर राग द्वेषको दूर कर देना चाहिये। फिर केवल अपने ही आत्माको शुद्ध देखना चाहिये। उसे ही परम देव मानना चाहिये। आप ही निरंजन हैं, परमात्मा देव हैं ऐसा भाव लाकर उसी भावमें उपयोगको स्थिर करना चाहिये तब भावनाके प्रतापसे यकायक स्वानुभव हो जायगा, मोक्षमार्ग प्रगट हो जायगा। वीतराग भाव ही परमानन्द प्रद है व निर्जराका कारण है। समाधिशतकमें कहा है—

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः॥ ४३॥
दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम्॥ ४४॥

भावार्थ—जो कोई अपने शुद्ध स्वरूपके अनुभवसे छूटकर पर-भावोंमें आत्मापनेकी बुद्धि करता है, अपनेमें कषाय जगा लेता है वह अवश्य कर्म बंध करता है। परन्तु जो पर रागादि भावोंसे छूटकर अपने ही शुद्ध स्वरूपमें आत्मापनेकी भावना करता है वह ज्ञानी कर्मोंसे मुक्त होता है। मूर्ख बहिरात्मा इस दीखनेवाले जगतके प्राणियोंको तीन लिंगरूप स्त्री, पुरुष, नपुंसक, देखता है। परंतु ज्ञानी इस जगतका निश्चयसे एकसमान शब्द रहित व निश्चल ज्ञाता है। उसे सर्व जीव एकसमान शुद्ध दीखते हैं।

आत्माका दर्शन ही सिद्ध होनेका उपाय है।

जे सिद्धा जे सिज्झिहिहिं जे सिज्झहि जिण-उत्तु ।
अप्पा-दंसणि ते वि फुडु एहउ जाणि णिभंतु ॥१०७॥

अन्वयार्थ—(जिण उत्तु) श्री जिनेन्द्रने कहा है (जे सिद्धा) जो सिद्ध होचुके हैं (जे सिज्झिहिहिं) जो सिद्ध होंगे (जे सिज्झहि) जो सिद्ध होरहे हैं (ते वि फुडु अप्पा दंसणि) वे सब प्रगटपने आत्माके दर्शनसे हैं (एहउ णिभंतु जाणि) इस बातको सन्देह रहित जानो।

भावार्थ—ग्रन्थकारने ऊपर कथित गाथाओंमें सिद्ध कर दिया है कि मोक्षका उपाय केवल मात्र अपने ही आत्माका अनुभव है। मोक्ष आत्माका पूर्ण स्वभाव है। मोक्षमार्ग उसी स्वभावका श्रद्धा व ज्ञान द्वारा अनुभव है। अपना ही आत्मा साध्य है, अपना ही आत्मा साधक है। उपादान कारण ही कार्यरूप हो जाता है। पूर्व पर्याय कारण है, उत्तर पर्याय कार्य है।

सुवर्ण आप ही धीरे २ शुद्ध होता है। जैसा जैसा अग्निका

ताप लगता है व मैल कटता है वैसे वैसे सोना चमकता जाता है। उसकी चमक धीरे २ बढ़ ही आती है। सोना आपसे ही कुन्दन बन जाता है। इसी तरह यह आत्मा मन वचन कायकी क्रियाको बुद्धिपूर्वक निरोध करता है और अपने उपयोगको पांचों इंद्रियोंके विषयोंसे तथा मनके विकल्पोंसे हटाकर अपने ही आत्मामें तन्मय करता है, आत्मस्थ हो जाता है।

इस दशाको आत्माका दर्शन या आत्माका साक्षात्कार कहते हैं। यही ध्यानकी अग्नि है, इसीके जलने पर जितनी २ वीतरागता बढ़ती है कर्मोंका मैल कटता है, आत्माके गुणोंका विकास होता है। धीरे २ आत्माका भाव शुद्ध होते होते परम वीतराग होजाता है। तब केवलज्ञानी अरहंत या सिद्ध कहलाता है।

आत्माका दर्शन या आत्मानुभव ही एक सीधी सड़क है जो मोक्षके सिद्ध प्रासाद तक गई है। दूसरी कोई गली नहीं है जिसपर चलकर पहुंच सके। सिद्धपद न तो किसीकी भक्तिसे मिल सक्ता है न बाहरी तप व जप व चारित्रसे मिल सक्ता है। वह तो केवल अपने ही आत्माके यथार्थ अनुभवसे ही प्राप्त हो सक्ता है।

साधकको श्रीगुरुसे तथा जिनवाणीसे आत्माका स्वरूप ठीक२ जानना चाहिये कि यह स्वतंत्र द्रव्य है, सत् है, द्रव्यापेक्षा नित्य है, समय २ परिणमनशील होनेसे अनित्य है, इसलिये हर समय उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है या गुणपर्यायमय है। गुण सदा द्रव्यके साथ रहते हैं। द्रव्य गुणोंका समुदाय ही है। गुणोंमें जो परिणमन होता है उसे ही पर्याय कहते हैं।

आत्मा पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्रादि शुद्ध गुणोंका सागर है, परम निराकुल है, परम वीतराग है, आठों कर्म,

रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्मसे भिन्न है, शुद्ध चैतन्य ज्योतिमय है। पर भावोंका न तो कर्ता है न पर भावोंका भोक्ता है। यह सदा स्वभावके रमणमें रहनेवाली स्वानुभूति मात्र है। इसतरह अपने आत्माके शुद्ध स्वभावकी प्रतीति करके साधक इसी ज्ञानका मनन करता है।

भेद विज्ञानके द्वारा यद्यपि आप अशुद्ध है तौ भी अपनेको कर्दम रहित जलके समान शुद्ध मानकर बारबार विचार करता है। इस आत्ममननके प्रतापसे कभी यह जीव समय समय अनंतगुणा बढ़ती हुई विशुद्धताको एक अन्तर्मुहूर्तके लिये पाता है।

ऐसे परिणामोंकी प्राप्तिको करणलब्धि कहते हैं। तब यकायक अनंतानुबंधी कषाय और दर्शन मोहका विकार दूर होता है और यह जीव अविरत सम्यक्ती था साथमें अप्रत्याख्यान कषायका विकार भी हटनेसे एकदम देशविरती श्रावक या प्रत्याख्यान कषायका भी विकार हटनेसे एकदम अप्रमत्तविरत साधु होजाता है।

चौथे अविरत सम्यक्त गुणस्थानमें आत्माका अनुभव प्रारंभ होजाता है, वह दोयजके चन्द्रमाके समान होता है। उसी आत्मानुभवके सतत अभ्याससे पांचके गुणस्थानके योग्य आत्मानुभव निर्मल होजाता है, इस तरह गुणस्थान २ प्रति जैसे २ चढ़ता है आत्मानुभवकी शुद्धता व स्थिरता अधिक अधिक पाता जाता है।

आत्मानुभवको ही धर्मध्यान कहते हैं। उसीको ही कषाय मलके अधिक दूर होनेसे शुक्लध्यान कहते हैं। इसीसे चार घातीय कर्म क्षय होते हैं तब आत्मा अरहंत परमात्मा होजाता है। शेष चार अघातीय कर्मोंके दूर होनेपर यही सिद्ध होजाता है। भूत भावी वर्तमान तीनों ही कालोंमें सिद्ध होनेका एक ही मार्ग है।

अपने आत्माका जो कोई यथार्थ अनुभव करेगा वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्गको साधन करेगा। यह मोक्षमार्ग वर्तमानमें भी साधकको आनंददाता है व भविष्यमें अनंत सुखका कारण है। मुमुक्षुको उचित है कि वह व्यवहार धर्मके बाहरी आलम्बनसे निश्चय धर्मका या आत्मानुभवका अभ्यास करे। यही कर्तव्य है, यही इस ग्रन्थका सार है।

समयसार कलशमें कहा है—

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः।
वन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-
चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते॥ १२–९॥

भावार्थ—जो कोई अशुद्धताके करनेवाले सर्व ही पर द्रव्यका राग स्वयं त्यागकर व सर्व परभावमें रतिरूप अपराधसे मुक्त होकर अपने ही आत्मीक द्रव्यमें रति, प्रीति, आसक्ति व एकाग्रता करता है वह अपने उछलते हुए आत्माके प्रकाशमें रहकर कर्मबन्धका क्षय करके चैतन्यरूपी अमृतसे पूर्ण व शुद्ध होकर मोक्षरूप या सिद्ध हो जाता है।

ग्रन्थकर्ताकी अन्तिम भावना।

संसारह भय-भीयएण जोगिचंद-मुणिएण।
अप्पा-संबोहण कया दोहा इक्क-मणेण॥ १०८॥

अन्वयार्थ—(संसारह भय-भीयएण) संसारके भ्रमणसे भयभीत (जोगिचंद-मुणिएण) योगेन्द्राचार्य मुनिने (अप्पा-

संबोहण) आत्माको समझानेके लिये (इक्क-मणेण) एकाग्र चित्तसे (दोहा कया) इन दोहोंकी रचना की है।

भावार्थ—ग्रंथकर्ता योगेन्द्राचार्यने प्रगट किया है कि उन्होंने अपने ही कल्याणके निमित्त इन गाथा दोहोंकी रचना की है। वे कहते हैं कि मुझे संसार भ्रमणका भय है। संसारमें आत्माको अनेक प्राणोंको धारकर बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं, परम निराकुल सुखका लाभ नहीं होता है।

जहांतक आठ कर्मोंका संयोग है वहांतक ही संसार है, कर्मोंके उदयके आधीन होनेसे अनंतज्ञान, अनंतदर्शन प्रगट नहीं होता है। न अनंतवीर्य ही झलकता है। मिथ्यात्वका गहलपना रहता है, जिससे प्राणी अपने आत्मीक अतीन्द्रिय सुखको नहीं पहचानता है, इंद्रिय सुखका ही लोभी बना रहता है। इष्ट सामग्री मिलनेकी तृष्णामें फंसा रहता है। महान लोभी हो जाता है। इष्ट वस्तुके मिलने पर मान करता है। इष्ट वस्तुके लिये मायाचार करता है। कोई उसके लाभमें जो बाधा करे उसपर क्रोध करता है।

मोहनीय कर्मके उदयसे नाना प्रकारके औपाधिक भावोंमें निरन्तर रंगा रहता है, इसी कारण नए कर्मोंका बन्ध करता है। चार घातीय कर्मोंका जबतक क्षय न हो आत्मा परमात्मा नहीं हो सक्ता है। आयु कर्मके उदयवश स्थूल शरीरमें रुकना पड़ता है। नामकर्मके उदयसे शरीरकी रचना शुभ या अशुभ होती है। गोत्र-कर्मके उदयसे निन्दनीय या आदरणीय कुलमें जन्मता है। वेदनीय कर्मके उदयसे साताकारी या असाताकारी सामग्रीका निमित्त मिलता है। चार अघातीय कर्मके कारण बाहरी पिंजरेमें कैद रहता है।

चारों ही गतियोंमें जीव सांसारिक आकुलता भोगता है।

जिस इन्द्रिय सुखको संसारके अज्ञानी प्राणी सुख कहते हैं उसीको ज्ञानी जीव दुःख मानते हैं, क्योंकि जबतक विषयभोग करनेकी आकुलता नहीं होती है तबतक कोई विषयभोगमें नहीं पड़ता है। चाहकी दाहका उठना एक तरहका रोग है। विषयभोग करना इस रोगके शमनका उपाय नहीं होकर तृष्णाके रोगकी वृद्धिका ही उपाय है। बड़े २ चक्रवर्ती राजा भी विषयभोगोंके भोगसे तृप्त नहीं हुए। इन्द्रियोंके भोग पराधीन हैं, बाधा सहित हैं, नाशवन्त हैं व कर्म-बन्धके कारण हैं व समभावके नाशक हैं।

संसारमें दुःख घना है, इन्द्रिय सुखका लाभ थोड़ा है। तौ भी इस सुखसे संतोप नहीं होता है। आत्मा स्वभावसे परमात्मा रूप है, ज्ञानानन्दका सागर है, परम निराकुल है, परम वीतराग है, ऐसा होकर भी आठ कर्मोंकी संगतिसे इसको महान् दीन दुःखी व तुच्छ होना पड़ता है। जिसकी संगतिसे अपना स्वभाव बिगड़े, दुर्गति प्राप्त हों, जन्म मरणके कष्ट हो उनकी संगति त्यागने योग्य है। इन कर्मोंके बंधका कारण राग द्वेष मोह है। इसलिये राग द्वेष मोह ही संसारके भ्रमणका बीज है।

इसी लिये आचार्य प्रगट करते हैं कि मुझे संसारसे भय है अर्थात् मैं राग द्वेप मोहके विकारसे भयभीत हूं, मैं इनमें पड़ना नहीं चाहता हूं, तथा नए कर्मोंका संवर होनेके लिये व पुरातन कर्मकी निर्जरा होनेके लिये आचार्यने अपने आत्माको ही वीतराग भावमें लानेके लिये आत्माके सार तत्वकी भावना की है-प्रगट किया है कि यह आत्मा निश्चयसे संसारी नहीं है, यह तो स्वयं परम शुद्ध परमात्मा देव है। इसीका ही वारवार अनुभव करना चाहिये। इसीमें रमण करना चाहिये।

आत्मीक आनन्दका ही स्वाद लेना चाहिये। निराकुल अतीन्द्रिय सुखको भोगना चाहिये। आत्माका दर्शन करना चाहिये। इस ग्रंथके भीतर आचार्यने इसी शुद्ध आत्माकी भावना करके अपने आत्माका हित किया है। अध्यात्म तत्वका विवेचन परमहितकारी है, आत्मीक भावनाका हेतु है।

यद्यपि ग्रंथकर्ताने अपने ही उपकारके लिये ग्रंथकी रचना की है तथापि शब्दोंमें भावोंकी स्थापना करनेसे व उनको लिपिबद्ध करनेमें पाठकोंका भी परम उपकार किया है। इस ग्रन्थको इसी भावसे पढ़ना व मनन करना चाहिये कि हमारा संसार नाश हो अर्थात् संसारका कारण कर्म व कर्मबंधका कारण राग, द्वेष, मोह भावोंका नाश हो व मोक्षके कारण स्वानुभवका लाभ हो। परमात्मतत्वकी ही भावना रहे। आत्माका ही आराधन रहे। समभावमें ही प्रवृत्ति रहे। शांतरसकी ही धारा वहे। उसी धाराके भीतर मगनता रहे। आनन्दामृतका ही पान रहे, सिद्ध सुखका ही उद्देश्य रहे, शिवालयके भीतर प्रवेश करनेकी भावना रहे।

यही भावना अमृतचन्द्राचार्यने **समयसारकलशमें** की है—

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा—
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्त्ते—
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः॥ ३॥

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि निश्चयसे मैं शुद्ध चैतन्य मात्र मूर्तिका धारी हूं, परंतु अनादिकालसे मेरी अनुभूति विभाव परिणामोंकी उत्पत्तिके कारण मोहकर्मके उदयके प्रभावसे रागद्वेषसे निरंतर मैली होरही है। मैं इस समयसार ग्रंथका व्याख्यान करके यही याचना

करता हूं कि यही मेरी अनुभूति परम शुद्ध होजावे, वीतरागी होजावे, परम शांतरससे व्याप्त होजावे, समभावमें तन्मयता होजावे, संसार-मार्गसे मोक्षमार्गी होजावे।

मंगलमय अरहंतको, मंगल सिद्ध महान्।
आचारज पाठक यती, नमहुं नमहुं सुख दान॥
परम भाव परकाशका, कारण आत्मविचार।
जिस निमित्तसे होय सो, वंदनीक हरवार॥

[बम्बई, ता० १३-६-१९३९]

टीकाकारकी प्रशस्ति।

युक्त प्रांतमें शुभ नगर, नाम लखनऊ जान।
अग्रवाल वंशज वसें, मंगलसेन महान॥ १॥
जिनवाणी ज्ञाता सुधी, समयसार रस पान।
करत करावत अन्यको, करत भव्य कल्याण॥ २॥
तिन सुत मक्खनलालजी, गृही कार्य लवलीन।
तिन सुत वर हैं वृद्ध अब, संतलाल दुख हीन॥ ३॥
तृतिय पुत्र हूं नाम है, 'सीतल' धर्म प्रसाद।
विक्रम उन्निस पैंतिसे, जन्म भयो दुख बाद॥ ४॥
बत्तिस वय अनुमानमें, गृह त्यागा वृष काज।
श्रावक चर्या पालते, भ्रमण करत पर काज॥ ५॥

आयु कण्ठके रोगसे, पीड़ित चित्त उदास।
तदपि आत्मरस पानका, मनमें हो उल्लास॥ ६॥

योगसार इस ग्रन्थका, भाव लिखनके काज।
प्रतिदिन दोहा एकको, नियम किया हित साज॥ ७॥

शतक एक अर आठ दिन, पूर्ण भये सुखदाय।
मुम्बई क्षेत्र अगासमें, नगर बड़ौदा पाय॥ ८॥

तीन जगहके वासमें, करो सफल यह काम।
मुम्बई नगर विशालमें, पूर्ण कियो अभिराम॥ ९॥

अषाढ़ कृष्णा बारमी, मंगल दिवस महान।
संवत उन्निस छानवे, कीयो पूर्ण लिखान॥ १०॥

उन्निस उन्चालीसमें, जून त्रयोदश जान।
भजन करत परमात्मका, मंगल पढ़ा महान॥ ११॥

मंगल श्री जिनराज है, मंगल सिद्ध महान।
साधु सदा मंगल मई, करहु पापकी हान॥ १२॥

